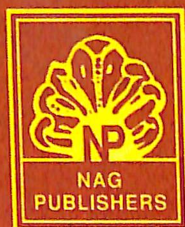
स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति

(न्याय व्यवस्था)



डॉ० प्यारे लाल चौहान



नाग प्रकाशक



स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति

(न्यायव्यवस्था)

डॉ. प्यारे लाल चौहान
एम.ए., पी-एच.डी.



नाग प्रकाशक

११ए, यू. ए, जवाहर नगर,
दिल्ली - ११०००७

This publication has been brought out with the financial assistance from Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi.

नाग प्रकाशक

(१) ११ए-यू.ए., जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

(२) संस्कृत भवन, १२, १५ फ्लेट, संस्कृत नगर, प्लाट न. ३, सेक्टर १४, रोहिणी, नयी दिल्ली ११००८५

(३) जलालपुर माफी (चुनार मिर्जापुर) उ.प्र.

ISBN 81-7081-302-6

प्रथम संस्करण
१९९५

मूल्य : ६३।-

श्री सुरेन्द्र प्रताप द्वारा नाग प्रकाशक, ११ए., यू. ए., जवाहर नगर दिल्ली द्वारा प्रकाशित तथा जी. प्रिंट प्रौसेस, ३०८/२, शहजादा बाग, दया बस्ती, दिल्ली ११००३५ में मुद्रित।

Laser Type setting :
Mohan Computer Point
8A. (U.A./3) Jawahar Nagar,
Delhi - 110007

प्रस्तावना

मानव-जीवन को समग्र रुप से विकसित, सुव्यवस्थित एवं आचरणवान् और गतिमान् करने की भावना से प्रेरित होकर तथा समाज में व्याप्त मात्स्यन्याय (छोटी मछलियों को बड़ी मछलियों द्वारा निगलजाना), शोषण, प्रपीडन, अनाचार-दुराचार आदि अव्यवस्था से विरत करने के निमित्त प्राचीन भारतीय विचारकों ने मनुष्य के सर्वांगीण विकास तथा चतुर्दिक उत्थान के लिये चिरकाल तक ऊहापोह और विचार-मंथन के पश्चात् व्यवहार पद्धति (न्यायव्यवस्था) के सिद्धान्तों की एक सुव्यवस्था प्रस्तुत की थी । मानव-मन के विकारों विशेषकर काम-क्रोध-लोभ-द्रोह-मोह-द्वेष आदि के परिणामस्वरुप समाज में व्याप्त शोषण, प्रपीडन आदि विभिन्न प्रकार के पापाचारों, अपराधों और कुंठाओं के निवारणार्थ स्मृतिकारों ने व्यवहार-पद्धति के अति निर्मल व्यवस्थित स्वरुप को स्थापित किया था । श्रेष्ठ जनों के हित साधन तथा दुर्जनों की दुर्जनता के निवारण के लिए स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति का व्यापक रुप से विस्तार भी हुआ था । उस समय व्यवहार-पद्धति की उपेक्षा को अमंगल एवं आपदाओं का हेतु माना जाता था ।

तत्कालीन न्याय व्यवस्ता में ग्राम से लेकर केन्द्र तक न्याय-व्यवस्था का जाल-सा बिछा था । व्यक्ति से लेकर सामुहिक जीवन इस व्यवहार पद्धति से अनुशासित एवं प्रभावित था । न्याय-व्यवस्था के द्वारा समाज को शान्ति एवं सुरक्षा की प्रत्याभूति प्राप्त होती थी । शील तथा सदाचार को ध्वस्त कर पदाधिकार पर हस्तक्षेपकर्ता समाज के असज्जनतत्वों को न्याय व्यवस्था के माध्यम से नियन्त्रित, संयमित एवं अनुशासित किया जाता था । मनु, याज्ञवल्क्य एवं नारद आदि स्मृतिकारों ने व्यवहार पद्धति की सार्थकता को मूलरुप में स्वीकार कर उसे अमर-लता के रुप में अंकुरित विकसित किया था । वैसे तो व्यवहार पद्धति का सूत्रपात वैदिक-काल से प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु धर्मसूत्र-उपनिषद एवं शास्त्रों के माध्यम से उसका गुरुत्व स्वरुप स्मृतिकाल में प्रत्यक्ष उभर क़र उजागर हुआ । वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत के विभिन्न स्थलों में व्यवहार-पद्धति के सिद्धान्तों तथा प्रकारों ने स्मृतिकारों को न्यायिक बल व उत्साह प्रदान किया था । न्याय की यह पावन सरिता स्मृतिकारों में अपने अभीष्ट यौवन को प्राप्त हो सकी थी । न्याय के धरातल पर स्मृतिकारों ने सूक्ष्म-विश्लेषण कर मानवृ-जीवन की प्रत्येक जटिलता को सुलझा कर रख दिया था । विभिन्न प्रकार के पापों व अपराधों का जैसा निराकरण स्मृतिग्रन्थों में समायोजित हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । व्यवहार-पद्धति की यह धारा तथा प्रवृत्ति बराबर आगे बढ़ती गई । मानव-जीवन के सभी पक्षों पर स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का प्रत्यक्ष या परोक्ष रुप से जो

प्रभाव पड़ा उसकी शुचिता धार्मिक धरातल पर आज भी भारतीय जीवन को प्रभावित किये हुए है ।

स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति के पुनीत भाव नियम-उपनियम के रुप में ऋग्वेदकाल से उदभूत् हुए हैं । अथर्ववेदकाल तक इनका पूर्ण विकास हो चुका था । समाज का जागृत बुधजन इस व्यवस्था का पक्षधर बन गया था । वेद तथा शास्त्रों के रजयिता, उपनिषदों एवम् धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं ने व्यवहार पद्धति पर विमल हृदय से विशालतम्-भावों को उड़ेल कर जीवन में जाने-अनजाने होने वाले पापों व अपराधों के परिमार्जन की बृहत्तम व्यवस्था की थी । वैदिक ऋचाओं का अनुमोदन कर, व्यवहार-पद्धति के परिसर में श्रुतियों के कथन को प्रामाणिक मान लिया गया था । स्मृतिकारों ने वेद, शास्त्र धर्मसूत्र एवं व्यवहार पद्धति से सम्बन्धित सभी वेद सम्मत साहित्य को प्रामाणिक मानकर स्मृतिग्रन्थों की रचना की थी । फलतः स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति का सृजन वैदिक काल की नींव पर ही हो सका था ।

स्मृतियुग में स्मृति-वर्णित व्यवस्था के अतिरिक्त वेद, शास्त्र सूत्र-सम्मत व्यवस्था भी पूर्णरुपेण प्रभावी थी । प्रश्न हो सकता है कि स्मृतिकारों ने वैदिक ऋचाओं का शास्त्रों व धर्मशास्त्रों में वर्णित न्यायवस्था का उल्लेख क्यों नही किया ? वास्तव में पुनरावृत्ति तथा पिष्टपेषण मात्र के दोष से मुक्त रहने का निश्चय स्मृतिकारों का था । फलतः वेद, उपनिषद, सूत्र के कथनों को वेदसम्मत मानकर उन्हें मान्य, अनुकरणीय एवं ग्राह्य स्वीकार कर बाद में उन्होंने अपनी बात कही थी ।

मनुस्मृति, स्मृतिग्रन्थों में, मनु द्वारा प्रणीत आदि स्मृति है । इसका प्रभाव सभी इतर स्मृतियों में व्याप्त है । याज्ञ.स्मृ., नारद स्मृ., बृहस्पति स्मृ. के अतिरिक्त अनेक स्मृतियों के विभिन्न स्थल मनु स्मृति से मेल खाते हैं । कुछ शंकालु व्यक्ति इस साम्य को अनुकरणमात्र करने व मानने में संकोच न करेंगे, परन्तु स्थिति वास्तव में भिन्न रही थी । इतर स्मृतिकार मनु के वेद सम्मत मौलिक एवं व्यावहारिक कथन की उपेक्षा भला कैसे कर सकते थे ? उसमें अपनी ओर से कुछ नया जोड़ना या संशोधन करना भी सम्भव नहीं था, क्योंकि ऐसा करने से मनु द्वारा पूर्वोक्त कथन की प्रामाणिकता के समक्ष इतरवर्ती स्मृति नष्ट प्रायः हो सकती थी । अतएव मनु के बाद के स्मृतिकारों ने मनुसिद्धान्तों को स्वीकार कर, व्यवहार पद्धति के धरातल पर मनु को प्रथम व्यवस्थाकार होने का गौरव अर्पित किया है । लेखनक्रम की दृष्टि से स्मृतियों में पर्याप्त भिन्नता तथा अन्तर है । कारण यह है कि प्रत्येक स्मृति से सम्बन्धित काल में प्रभावी अपराध की गुरुता को दृष्टिगत रखते हुए स्मृतिकारों ने स्वरचित स्मृति के क्रम को स्वदृष्टि के अनुसार प्रभावी मानकर प्रस्तुत किया था ।

स्मृतिकारों ने पाप व अपराध की गुरुता को लक्ष्य कर दण्ड की योजना स्वीकार की थी । प्रशासिनक दण्ड विधान एवं दैविक - दण्ड विधानों को पृथक्-पृथक् विशद् वर्णित स्मृतियों की अनुपम देन, स्मृतिकारों की पैनी दृष्टि व विद्धता से पूर्ण अन्तः चेतना का प्रतीक है । विभिन्न प्रकार के दण्डों के अतिरिक्त

व्रत, उपासना, अनुताप, तप-जप, दान-यज्ञ, तीर्थयात्रा की योजना के द्वारा मानव को मनसा-वाचा-कर्मणा पावन व निर्मल बनाने का सतत एवं पवित्र प्रयत्न भी स्मृतिकारों की व्यवहार-पद्धति का लक्ष्य रहा था। प्रताडना, दंड अपमान के अतिरिक्त नारकीय वेदनाओं, अपंगता का चित्रण कर मानव को वेद सम्मत परम्परा में ढ़ालने का भरपूर प्रयास स्मृति व्यवहार-पद्धति की देन रहा था।

आलोच्य विषय (स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति) का विवेचन स्मृतिग्रन्थों के आधार पर किया है। स्मृतियों के पूर्ववर्ती साहित्य, उदाहरणतः वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र आदि का अवलम्ब लेते हुए उसमें निहित सामग्री का प्रयोग इस आकांक्षा से किया गया है कि ये ग्रन्थ स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति के मूल उदगम व प्रेरणा श्रोत रहे हैं। स्मृतिकारों ने वैदिक साहित्य सामग्री को मूलतः स्वीकार किया था। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थों में आलोच्य विषय को स्पष्ट करने की पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, विष्णुपुराण तथा मार्कण्डेयपुराणों में व्यवहार पद्धति पूर्णतः प्रभावित है स्मृतिकारों को वैदिक शास्त्रीय, उपनिषदीय, सूत्रीय ज्ञान दायभाग के रुप में मिलता था। उनके जीवन पर वेदों से लेकर पुराणों तक की धार्मिक तथा न्यायिक शिक्षा का सीधा प्रभाव रहता था। फलतः इनसे इतर रह कर या बच कर कुछ भी कहना स्मृतिकारों के लिये असम्भव था। स्मृतिग्रन्थों का सीधा प्रभाव इतरवर्ती साहित्य पर भी अवश्यम्भावी रुप में पड़ा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र इसका साक्षात् प्रमाण है। स्मृति कालीन व्यवहार पद्धति ने वर्तमान काल तक की सभी व्यवहार पद्धतियों को प्रभावित किया है। सामान्य जीवन के धरातल को भी बराबर स्पर्श करते हुए लोक मंगल की स्थापना की है। अतएव मैनें आलोच्य विषय को स्पष्ट करते समय वेद, उपनिषद, सूत्र, ब्राह्मण ग्रन्थ, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत, अग्नि-वायु-मत्स्य-मार्कण्डेय-पुराण एवं तत्कालीन सम्बन्धित साहित्यिक एवं दार्शनिक सामग्री का अवलम्ब लिया है। स्मृतिग्रन्थों के आधार पर विषय की प्रामाणिकता को उजागर किया है। स्मृति इतर युग में स्मृतिकालीन प्रभाव को प्रदर्शित करने हेतु जातक कथाओं तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र को भी अनेकशः उद्धृत किया गया है। कौटिल्य अर्थशास्त्र को उद्धृत करने का दुसरा कारण यह भी है। कि अनेक स्मृतियों की रचनायें अर्थशास्त्र के बाद की हैं। स्मृतिचंद्रिका व्यवहार निर्णय तथा चाणक्यसूत्राणि ग्रन्थों का उपयोग इस हेतु किया है कि इन ग्रन्थों में अनेक स्मृतियों की मौलिक सामग्री विद्यमान है।

विषय सामग्री को लिखते समय मेरा यह सतत प्रयास रहा है कि आलोच्य विषय से सम्बन्धित सामग्री को, स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति से सम्बन्धित मौलिक ग्रन्थों के आधार पर प्रकाश में ला सकूं। स्मृतियों के मौलिक साहित्य के आधार पर आलोच्य विषय से सम्बन्धित मौलिक सामग्री को यथाशक्ति प्रस्तुत कर सकना मेरा प्रमुख लक्ष्य एवं उद्देश्य रहा है।

स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति (न्याय व्यवस्था) कहां तर विकासोन्मुख हो सकी थी ? जन कल्याण किस सीमा तक निहित था ? न्याय-व्यवस्था की स्थापना के निमित्त किन-किन साधनों, उपायों एवं तत्त्वों का क्यों और कहां तक अवलम्ब लिया जाता था ? न्यायाधीश से लेकर नृप तक इस व्यवहार पद्धति में कहां तक सतर्क या उदासीन रहते थे ? अपराध, पाप और उदण्डंता का किस सीमा तक उच्छेद् कर स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति कहां तक सफलता प्राप्त कर सकी ? कितने प्रकार के न्यायालय कहां-कहां स्थापित थे ? न्यायालय की महत्ता, प्रामाणिकता, अधिकार सीमा कहां तक व्याप्त थी ? विभिन्न प्रकार के न्यायाधीशों की योग्यता, गुण, कार्य, अधिकार कहां तक व्याप्त अथवा सीमित थे ? विभिन्न प्रकार के पाप, अपराध, विवादों को किस भांति क्यों नियंत्रित किया जाता था ? विधि की मान्यता, प्रभाव, श्रोत एवं लोकविधियों की पकड़-जकड़ किस सीमा तक मान्य व प्रभावपूर्ण थी ? धर्म ने न्यायविधि को कहां तक प्रभावित किया था ? विधि का धर्म, जाति, वर्ण आश्रमव्व्यस्था तथा विशिष्टजनों के साथ सम्बन्ध का स्वरुप कैसा था ? व्यवहार-पद्धति की प्रक्रिया का स्वरुप कैसा रहा था ? प्रमाणों की सार्थकता, निर्णय का प्रभाव, अपील अथवा पुनर्अभ्यर्धना की उपयोगिता व सार्थकता, दण्ड का स्वरुप, परिमाण, दशा, स्थिति तथा दण्डित करने का सिद्धान्त व दृष्टिकोण क्या था ? दण्ड की परिवर्तनशीलता, न्यायाधीश द्वारा निर्णय घोषणा से पूर्व पुनर्विचार का औचित्य क्या रहा था ? - इस प्रकार विभिन्न प्रकार की न्याय-सम्बन्धी मौलिकताओं को प्रकाश में लाना प्रमुख का लक्ष्य रहा है ।

प्राचीन भारत के इतिहास को अनेकः इतिहास-विज्ञो ने प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास किया है । विभिन्न प्रकार के राज्यों एवं शासन पद्धतियों के विकास पर वर्तमान युग में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है । परन्तु यह इतिहास जगत की एक विडम्बना ही रही है कि स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति (न्याय-व्यवस्था) को इंगित कर लिखित सामग्री का अब तक नितान्त अभाव बना है या नहीं के बराबर है । व्यवहार पद्धति से सम्बन्धित विषय सामग्री वैदिक ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्रों, स्मृतियों एवं अनेक तत्कालीन ऐतिहासिक, एवम् साहित्यिक अथवा धार्मिक ग्रन्थों में विश्रृंखलित रुप में इतस्ततः बिखरी पड़ी है । फलतः स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति से अनभिज्ञ व्यक्ति, या विद्वान, स्मृतिकालीन न्याय-व्यवस्था, न्यायिक प्रक्रिया, दण्ड व्यवस्था को मात्र काल्पनिक आख्यान मानने लगते हैं । विस्मृति के साथ ऐसा अनुभूव करने लगते हैं जैसे मानो न्यायजगत के कल्पनालोक में विचरण कर रहे हैं । स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था तत्कालीन नृप एवं शासन तथा राजनैतिक प्रभाव से मुक्त, न्यायव्यवस्था रही थी । नीर क्षीर विवेचन इसका आधार रहा था । अपराध की गुरुता व परिस्थिति के अनुरुप विवाद का निस्तारण समयान्तर्गत होता था । आज की तरह न्यायालयों में अनिर्णीत अभियोगों के ढ़ेर नहीं लगे रहते थे । पुरुष-न्यायालय, स्त्री-न्यायालय, सैनिक-न्यायालय, ग्राम-न्यायालय एवम् नगर-न्यायालय की सुन्दरतम तथा व्यवस्थित योजना का जैसा उदाहरण स्मृतियुग से प्राप्त होता है वैसा विश्व को अन्य किसी भी न्यायव्यवस्था में न तो कभी रहा है

और न इस समय ही है। स्मृतिकालीन विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्थित योजना को देखकर आज का न्यायविद् एवं विधिवेत्ता विस्मित हुए बिना नहीं रह सकता है। स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति अपने युग की तथ्यपरक न्यायपद्धति रही है। इसे प्रकाश में लाना ही मेरा उद्देश्य रहा है।

स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति के इस कार्य में विभिन्न कठिनाईयों, बाधाओं एवं गति-अवरोधों का होना स्वाभाविक एवं अपेक्षित ही था, क्योंकि स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था पर पृथक् से अब तक कोई लिखित या गवेषणात्मक कार्य नहीं हुआ है। दूसरे व्यवहार-पद्धति से सम्बन्धित सामग्री बिखराव से प्रभावित है। अनेक ग्रन्थों में विभाजित होने के कारण असंकलित-सी बनी हुई है। यत्र-तत्र से अध्ययन व अन्वेषण कर, मौलिक एवं प्रामाणिक ग्रन्थों तथा साहित्य के आधार पर स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति को मौलिक रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं। शोध के आधार पर भरपूर तथ्य-पूर्ण, एवं समुपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। व्यर्थ की आलोचना से परे रहकर मूल विषय सामग्री ही ग्रन्थ का कलेवर है। इस पर भी यदि कहीं अनजाने में मेरे द्वारा कोई भूल हो गई हो, तो मैं विज्ञ पाठको से क्षमा प्रार्थी हूं। भ्रान्तियों के निस्तारण, मूल तथ्यों के उद्घाटन पर ही मेरा शोध विषय टिका है।

प्रारम्भ में विषय-प्रवेष को पृथक् से प्रस्तुत किया है। स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति के वास्तविक स्वरूप, उपयोगिता तथा सार्थकता को इस में दर्शाया गया है। व्यवहार-पद्धति के जटिल स्वरूप को सुलझा कर विषय की महत्ता तथा व्यवहार पद्धति के औचित्य को भी स्पष्ट किया है। स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति सामाजिक स्थिति को पापरहित तथा निर्मल बनाने में सफलता प्राप्त कर सकी इस स्थिति को भी उजागर किया है।

स्मपूर्ण विषयसामग्री सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्याय की परिभाषा, आवश्यकता, उद्देश्य, अपराध एवं विवादों का उद्भव, विकास तथा वर्गीकरण और विभिन्न प्रकार के अपराधों का विस्तृत विवरणप्रस्तुत किया है। दूसरे अध्याय में न्यायधीश की परिभाषा, आवश्यकता, योग्यता व गुण, न्यायधीशों की पदोन्नति एवं पदावनति को स्पष्ट किया गया है। तीसरे अध्याय को 'क''ख''ग' तीन खण्डों में विभाजित किया है। 'क' उपभाग में न्यायालय की परिभाषा, आवश्यकता, स्थान, प्रकार व न्यायालय के कार्यो को समायोजित किया गया है। 'ख' उपभाग में विधि की परिभाषा, एवं आवश्यकता, विधि के श्रोतों-प्रकारों एवं स्वरूपों तथा विधिमान्यता का उल्लेख है। 'ग' उपभाग में संविधान की परिभाषा, आवश्यकता स्वरूप एवं महत्त्व के साथ-साथ स्मृतिकालीन संवैधानिक ग्रन्थों का विवरण भी प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत न्याय विधि (न्यायिक प्रक्रिया) को प्रस्तुत करते समय आवेदक तथा प्रति वेदक (उत्तर दाता), प्रतिभू, आसेध एवं प्रमाण में लिखित प्रमाण व भोग प्रमाण के अतिरिक्त साक्षी प्रमाण पर विस्तृत विवरण सुलझाकर दर्शाया है। दिव्यप्रमाण

की उपयोगिता व प्रभाव को प्रस्तुत करते हुए कुछ न्यायिक उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। पांचवे अध्याय में निर्णय पद्धति का विवेचन है। निर्णय के धरातल पर जयपत्रं के साथ दण्ड की आवश्यकता, उत्पत्ति, स्वरूप, उद्देश्य व आधार एवं विभिन्न प्रकार के दण्डों का विवरण, तथा परिमाण एवं दण्ड प्रक्रिया, दण्ड से विमुक्त आदि को समाविष्ट किया है। निर्णय की घोषणा से पूर्ण न्यायधीश द्वारा एक बार पुनः न्यायिक प्रक्रिया पर स्वयं विचार करने की व्यवस्था को दर्शाया है। स्मृतिकाल में प्रचलित भी विवादों व अपराधों पर दिये जाने वाले दण्ड व दण्ड प्रक्रिया को भी उजागर किया है। छटवें अध्याय में अपील की उपयोगिता, आवश्यकता, आधार, स्वीकृति, अस्वीकृति तथा परिमाणादि विवेचित विषय रहे हैं। सातवां अध्याय विषयसामग्री का अन्तिम उपसंहार अध्याय है।

सम्पूर्ण अध्यायों के पश्चात् अन्त में मौलिक ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की है जिनके आधार पर इस आलोच्य सामग्री को लिखा गया है।

आलोच्य विषय का अध्ययन करते हुए मैंने अनुभव किया कि स्मृति-कालीन व्यवहार पद्धति प्राचीन भारतीय न्यायव्यवस्था के अगाध सरोवर का विमलांग रही है। इस सुव्यवस्था के परिणामस्वरूप ही जियो और जीने दो के सर्वहिताय सिद्धान्त को सम्बल मिला था। समृतिकालीन दण्ड विधि के आधार पर अपराधों का परिमार्जन नीर-क्षीर सिद्धान्त पर भलीभांति होता था। दंडों की कठोरता ने तत्कालीन मानव को सुपथ पर गमन हेतु प्रेरित व प्रतिबाधित किया था। 'भय बिनु होत न प्रीति' के सिद्धान्त ने ही कठोर दण्डों की योजना का समर्थन कर, विस्यकारी मानव मूल्यों की स्थापना की थी। स्मृतिकालीन दण्डव्यवस्था बदले की भावना से परे मानव कल्याण के निमित्त ही बनी थी। यह व्यवस्था स्मृतिकाल में लोकमंगल स्थापित करने में पूर्णतः सफल हो सकी थी। यदि इस व्यवस्था को वर्तमान जीवन में ग्रहण कर लिया जावे, तो निस्सन्देह वर्तमान यदि इस व्यवस्था को वर्तमान जीवन में ग्रहण कर लिया जावे, तो निस्सन्देह वर्तमान काल में व्याप्त पाप, अपराध, अनैतिकता, कलह एवं अव्यवस्था को समाप्त करने में भी कल्पनातीत सफलता प्राप्त हो सकती है। राम राज्य जैसी स्थिति लौट सकती है।

विषय सामग्री को लिपिबद्ध करते हुए तथा प्रमाणों को प्रस्तुत करने में अत्याधिक जागरूकता व सतर्कता का ध्यान रखा गया है। नवीन एवं मौलिक रूप देने के निमित्त आलोच्य विषय की सामग्री को मौलिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय इतिहास के धरातल पर स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति (न्याय व्यवस्था) को प्रकाश में लाकर उसकी मौलिक तेजस्विता को आवरण रहित कर सर्व्रसुलभ बनाना मेरा शोधात्मक प्रयास है। यह कार्य अपने में दुरुह एवं जटिल रहा है। फलतः मुझे अनेकाशः कड़े अवसरों का समाना भी करना पड़ा है। अनेक बार शंकापूर्ण परिस्थितियों से घिर कर व्याकुल होना भी स्वाभाविक ही था, क्योंकि परीक्षा रूपी अनल से पड़ कर स्वर्ण भी पिघल कर तरल बन जाता है, फिर

मेरी तो स्थिति ही क्या है ? ईश्वरीय अनुकम्पा से मैं अपने इस कार्य में कितनी सफलता प्राप्त कर रहा हूं इसका निर्णय तो सामान्य विज्ञ पाठकों ही कर सकेंगे ।

मैं अपने पूज्य गुरु श्री डा. रूपचन्द्र जैन, भूतपूर्व प्राचार्य, जे.वी.जैन स्नातकोत्तर कालेज सहारनपुर का चिरऋणि होते हुए हृदय से आभार व्यक्त करता हूं उनके शुभ आर्शीवाद से ही मैं इस विषयसामग्री को लिखने का साहस कर सका हूं ।

वैदिक काल से लेकर स्मृति युग तक की संस्कृति एवं साहित्य के निर्माता उन सभी ऋषि-मुनियों, शास्त्र-स्मृतिकारों एवं व्यवस्थाकारों के प्रति नतमस्तक होकर आभार तथा कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जिनकी अमर एवं अमूल्य सामग्री मेरे-मस्तिष्क में इस विषयसामग्री को लिखने में आधार बनकर छाई रही है । यह प्रबन्ध उन्हीं की मूल अमरलता का पुष्प है । उनके शुभ परोक्ष आर्शीवाद ने मुझे बराबर सम्बल दिया है ।

नाग प्रकाशन जवाहर नगर दिल्ली के प्रति आभार व्यक्त करता हूं । श्री ठा. सुरेन्द्र प्रताप जी, एवं ठा. नरेन्द्र प्रताप जी के परम सहयोग, एवं तत्परता के कारण ही यह ग्रन्थ पाठकों के हाथ में है । समय का अभाव होते हुये भी प्रकाशक बन्धुओं ने ग्रन्थ के छापने मे जो अमूल्य सहयोग दिया है वह मुझे सदा स्मरण रहेगा । डा. हरिगोपाल आचार्य गु.कु.म.विद्यालय ज्वालापुर हरिद्वार का चिरसहयोग भी प्रेरणाप्रद मंगलमय रहा है ।

गंगा सदृश - ममता का अविरल पावन श्रोत मां एवं मातृ भूमि स्वर्ग से भी बढकर पूज्यनीय है कि भावना का समादर करते हुये यह पुनीत ग्रन्थ अपनी स्वर्गीया माता श्री एवं मातृ भूमि को अर्पित करता हूं ।

आपका
पी. एल. चौहान
एम.ए., पी.एच.डी.

उद्धरण संकेत

अथर्ववेद	-	अथर्व. अथ. वेद, अथ.
अत्रिस्मृति	—	अत्रिस्मृति, अत्रि., अत्रि.स्मृ.
अयोध्याकांड	—	अयो.का., अयोध्याकां., अ.कां.
अनुशासनपर्व	—	अनु.पर्व,
अग्निपुराण	—	अग्नि.पु., अ.पु., अग्नि.
आपस्तम्बधर्मसूत्र	—	आ.अ.सू. आप.ध.सू., आपस्त.ध.सू.
आंगिरसस्मृति	—	आ.स्मृ., आंगि.स्मृ., आंगिरस.
आपस्तम्बस्मृति	—	आप.स्मृ., आपस्तम्ब.
आदिपर्व	—	आदिप., आ.प., आ.पर्व.
उद्योगपर्व	—	उ.पर्व, उ.प., उद्योग.
ऋग्वेद	—	ऋग्., ऋ.वेद, ऋग्वेद
ऐतरेयब्राह्मण	—	ऐत.ब्रा. ऐतरेयब्रा., ऐतरेय.
औशनस्मृति	—	औश.स्मृति, औ.स्मृ., औशस.
कात्यायनस्मृति	—	का.स्मृति, कात्यायान, कात्या.स्मृ.
कात्यायनमतसंग्रह	—	कात्या.म.सं., कात्यायन, का.म.स.
कौटिल्य अर्थशास्त्र	—	अर्थ.शा., अर्थ.कौ.अ.शा., कौटिल्य
कूर्मपुराण	—	कूर्म., कूर्मपु.
गौपथ ब्राह्मण	—	गौ.ब्रा., गौपथब्रा., गौपथ.
गौतमधर्मसूत्र	—	गौ.ध.सू., गौतम ध.सू.
गौतमस्मृति	—	गौ.स्मृ., गौतम
गरुड पुराण	—	ग.पु., गुरुड., गरुडपु.

चाणक्यसूत्राणि	—	चा.सू., चाणक्य., चाणक्यसू.
छान्दोग्योपनिषद्	—	छा.उप.छान्दो.उ., छान्दोग्य.
जातककथाएं	—	जा.क., जातक.क., जातक.
ताण्ड्यमहाब्राह्मण	—	ता.म.ब्रा., ताण्ड्य., ताण्ड्यब्रा.
दक्षस्मृति	—	दक्षस्मृ., दक्ष.
नारदस्मृति	—	नारद. ना.स्मृ., नारदस्मृ.
पुलस्त्यस्मृति	—	पु.स्मृ., पुल.स्मृ.
पाणिनि	—	पा., पाणिनि
पाराशरस्मृति	—	पारा.स्मृ., पारा., पाराशर
बृहदारण्यकउपनिषद्	—	बृ.उ., बृह.उप., बृहद.उप.
बौधायन धर्मसूत्र	—	बौ.ध.सू., बौधायनध.सू.
बृहस्पतिस्मृति	—	बृ.स्मृ., बृह.स्मृ., बृहस्पति.
बौधायनस्मृति	—	बौ.ध.स्मृ., बौ.स्मृ., बौधायन.
मनुस्मृति	—	मनु. मनु.स्मृ., म.स्मृ.
महाभारत	—	महा.म.भा., महाभारत
मार्कण्डेयपुराण	—	मा.पु., कार्मण्डेय., मार्कण्डेयपु.
मत्स्यपुराण	—	म.पु., मत्स्यपु., मत्स्य.
यजुर्वेद	—	यजु., यजु.वेद
याज्ञवल्क्यस्मृति	—	याज्ञ.स्मृ., याज्ञ.मिता., मिताक्षरा, याज्ञ.मिताक्षरा.या.स्मृ.
यमस्मृति	—	य.स्मृ., यम., यमस्मृ.
लिखितस्मृति	—	लि.स्मृ., लिखितस्मृ. लिखित
लध्वाश्वलायनस्मृति	—	लध्वा.स्मृ.
विष्णुधर्मसूत्र	—	वि.ध.सू., विष्णुध.सू.
वशिष्ठ धर्मसूत्र	—	व.ध.सू., वशिष्ठ. वशिष्ठ ध.सू.

विष्णुस्मृति	—	वि.स्मृ., विष्णुस्मृ., विष्णु.
वशिष्ठस्मृति	—	वशिष्ठ, स.स्मृ., वशि.स्मृ.
वेदव्याससस्मृति	—	वेदव्या.स्मृ., व्यास., वे.व्या.स्मृ.
वाल्मीकीयरामायण	—	वा.रामा., वाल्मी.रामा.
वनपर्व	—	वन.प., वन., व.प.
वायुपुराण	—	वा.पु., वायु.पु., वा.पुराण
विष्णुपुराण	—	वि.पु., विष्णु., विष्णुपु.
शतपथब्राह्मण	—	शत.ब्रा. शतपथ., श. ब्रा.
शंखलिखित धर्मसूत्र	—	शं.लि.ध.सू., शंख., शं.ध.सू.
शतातपस्मृति	—	शता.स्मृ., श.स्मृ., शतातप
शंखस्मृति	—	शंखस्मृ., शं.स्मृ., शंख
शांतिपर्व	—	शा.पर्व, शा.प.
सामवेद	—	सा.वेद, सामवेद, साम.
सम्वर्तस्मृति	—	स.स्मृ., सम्व.स्मृ. सम्वर्त.
सभापर्व	—	स.पर्व, सभा.प.
स्मृतिचंद्रिका	—	स्मृ.चं.
हारीत धर्मसूत्र	—	हा.ध.सू., हारीत.हारीतध.सू.
हारीत स्मृति	—	हारीतस्मृति, हा.स्मृ., हारीत.

विषय अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

विषय-प्रवेश

प्राचीन भारत में न्यायव्यवस्था राजधर्म का प्रमुख अंग रही थी। ऋग्वेदकाल से ही इसकी महत्ता, अपेक्षा व उपयोगिता का प्रबल समर्थन होता रहा है[1] न्यायव्यवस्था के फलस्वरूप ही राजधर्म की उपयोगिता में निखार आ सका था। न्यायव्यवस्था को सम्पूर्ण धर्मो का सार स्वीकार किया गया। विभिन्न प्रकार के नियमों, उपनियमों का निर्माण, आचार व्यवहार-व्यवस्था एवं प्रायश्चित की योजना का प्रतिपादन न्याय के परिसर में ही हो सका था।[2] । न्याय करना व कराना नृपधर्म समझा जाता था।[3] राज्यनियमों का पालन करना तथा कराना, उपद्रवियों को दंडित करना, उदण्डतत्त्वों का दमन करना, सज्जनों की रक्षा व दुष्टों का विनाश न्याय के द्वारा ही हो सका था।[4]

भय, विनाश, शोषण, अनाचार, एवं दमन से रक्षा करने के निमित्त[5], तथा मात्स्यन्याय के उन्मूलनार्थ लोक-कल्याण के उद्देश्य से ब्रह्मा ने एक लाख अध्यायों का विशाल ग्रन्थ राजधर्म पर लिखा था। इसमें आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता के साथ दण्डनीति आदि विषय प्रमुख विषय थे। ब्रह्मा के द्वारा लिखा जाने के कारण इस ग्रन्थ को 'पैतामहतन्त्र' कहा गया था। विशालाक्ष (शिव) ने इसे संक्षिप्त कर दस हजार अध्यायों का 'वैशालाक्षतन्त्र' के रूप में व प्रस्तुत किया। पूर्ववर्ती युग में इसका संक्षिप्तिकरण होता गया। इन्द्र ने पांच हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर 'बाहुदन्तकतन्त्र, शूक्र (उशना) ने एक हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर ओशनसतन्त्र का निर्माण किया था। बृहस्पति ने तीन हजार अध्यायों को संक्षिप्त कर बार्हस्पत्यतन्त्र की रचना की थी। भीष्म को कोणपदन्त उद्धव को वातव्याधि उपनाम

---

१ आपस्तम्बधर्मसूत्र २.९.२५; ऋग्वेद १.३१.११; शान्तिपूर्व अध्याय ५६ से १७२ तक; मनुस्मृति अ. ७; यजुर्वेद ७.३९, ८.४५, ९.२६, ९.२३

२ शन्तिपर्व १४१.९ व १०; ५७.१५; ६३.२५ से २९ तक; ७७.३३; गौतम. १०.७-८ आप.ध.सू. २.५.१०.१३-१६; वशिष्ठ १९.१-२, विष्णु ३.२; नारद प्रकीर्णक ५-७; मत्स्यपुराण २१५.६३, मार्कण्डेयपुराण २७.२८ एवं २८.३६

३ ऋग्वेद ८.२२.१६-१८; ८.२६.२ व ५

४ ऋग्वेद ३.३४.९; ८.२५.१६ व १७; ८.२६.५; १०.११३.८; १०.१२८.६ छान्दोग्योपनिषद् ५.११

५ अथर्व. ३.२९.१-३

से राजधर्म का प्रणेता माना जाता है। असुर-राज शाम्बर, मार्कण्डेय मौदगल्य, वामदेव आदि सभी राजधर्म प्रेणेता के रूप में ख्यातिप्राप्त थे।[१]

प्राचीन समय में ब्रह्मवादी ऋषिगण राष्ट्रतन्त्र के प्रेणता, वपरिचालक तथा नियमों के नियामक होते थे। विद्धान विधिवेत्ता न्यायाधीश, ऋषिगण नियमों का निर्माण करते थे।[२] व्यवहारनीति सम्बन्धी यह विशाल साहित्य[३] अपने में तथ्य मूलक होते हुए स्मृतिकाल को सुसंगठित बना सका था। प्रो० जाली ने अपने ग्रन्थ "हिन्दु ला एण्ड कस्टम्स" में लंका, वर्मा को भारतीय न्याय व्यवस्था से प्रभावित माना है। मेगस्थनीज ने स्मृति न्याय व्यवस्था की पुष्टि की है। चीनी यात्री फाह्यान हवेन सांग ने स्मृतिकालीन न्याय व्यवस्था को श्रेष्ठ, सुलझी हुई व्यवस्था स्वीकार किया है। स्लीमेन का कथन की भारतीय पीपल के पेड के नीचे बैठ कर विवाद सुलझा लेते थेए स्मृतिकालीन न्याय व्यवस्था के प्रभाव को उजागर करते है। स्मृतिकालीन न्याय व्यवस्था से मानव जीवन को सु गमतापूर्वक सुपथगामी बनाया जा सका था। जैसे सूर्योदय अन्धकारको नष्ट करने में सक्षम है उसी प्रकार स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति अकृत्यों को नष्ट करने की सामर्थ्य रखती थी। जैसे हस्तिपद चिह्न में अन्य सब प्राणियों के पद चिह्न समा जाते हैं उसी प्रकार स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति में सर्वधर्म समाविष्ट रहते थे। यही कारण रहा है कि व्यवहार पद्धति की उपेक्षा तथा उच्छेद सम्पूर्ण धर्म और आश्रमों की उपेक्षा तथा उच्छेद का हेतु माना जाता था।[४]

प्राचीन भारतीय साहित्य में दण्डनीति, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि शब्दों का प्रयोग एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैसे अश्व को लगाम से हस्ति को अंकुश से नियन्त्रित करने की व्यवस्था है उसी प्रकार मानव की व्यवहार पद्धति से व्यवस्थित किया जाता था। भारतीय धर्मशास्त्र मे वैदिक धर्मसूत्रों के उपरान्त स्मृतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्मृति शब्द का प्रयोग श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिये किया गया है। श्रुति तथा स्मृति द्वारा विहित आचार को धर्म माना जाता

---

१ शा.पर्व ५९.३० से ८३ तक

२ ऋग्वेद ८.२६.१४

३ महाभारत (वनपर्व अ. १५०; सभा प.अ.५; उद्योगप.अ.३३ व ३४ शा.पर्व अ. १से१३० तक; आश्रमवासिकपर्व अ.५व७) वाल्मीकीयरामायण (अयोध्याका.अ. १५, ६७, १००; युद्धका.अ. १७, १८, ६३) मनुस्मृति अ. ७ व ९, कोटिल्यअर्थशास्त्र, याज्ञ.स्मृति व्यवहारअध्याय, गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, विष्णु धर्मसूत्र; अग्निपुराण अ. २१म८ से २४२, गरुड पुराण १०८-११५, मत्स्यपुराण २१५-२३४, नारदस्मृति, बृहस्पतिस्मृति, कात्यायनस्मृति आदि

४ शान्तिपर्व अध्याय-५६

था ।[1] आदिस्मृतिकार एवं स्मृतिपरंपरा के जनक विधि प्रणेता मनु ने तो धर्मसूत्रों को भी स्मृति की पंक्ति में समासीन किया था ।[2] स्मृति स्वयं में 'स्मरण' का विषय होने के फलस्वरूप परम्परागत धार्मिक विधि पर आधारित विधिशास्त्र तथा धार्मिक ग्रन्थ रचना है । सम्भवतः पुनः-पुनः याद दिया जाने योग्य होने के कारण स्मृति शब्द में रूढ़ हुआ था । स्मृतियों का एक-एक अक्षर सीधेरूप में मानवस्मरणशक्ति पर अपनी छाप छोड़ता है । स्मृतियुग में पदे - पदे, स्मृतियों का सामाजिक, व्यवहारिक पद्धति की परिसीमा में प्रयोग इस रूढ़ शब्द की मूल रहा था ।

मुख्य स्मृतिकारों की पंक्ति में मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्मृति, दक्ष, नारद, गौतम, यम, अंगिरा, योगीश्वर, प्रचेता, शतातप, पराशर, सम्वर्त, उशनस्, शंखलिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब तथा हारीत वशिष्ठ, कश्यप, कात्यायन, बौधायन, आदि का नाम उल्लेखनीय है[3]।

स्मृतिकारो ने अपने से पूर्व के स्मृतिकारो का अपनी स्मृतियों में उल्लेख भी किया है । उदाहरणात्: मनु ने ६, याज्ञवल्क्य ने २०, पाराशरने १९ मार्कण्डेय ने ८, गौतम ने १९,, शंख ने २१, देवलन ने १६, आपस्तम्ब ने १० बौधायन ने ८ भारद्वाज ने २०, स्मृतियों का उल्लेख किया है । स्मृति चन्द्रिका में ३६ स्मृतिकारों को, डा. पाण्डुरंग वाम काणे ने एक-सौ स्मृतिकारों, निर्णयसिन्धु ने १२५ स्मृतिकारों को बात कही है । कुछ उपस्मृतिकारों का विवरण भी प्राप्त होता है । इनकी संख्या ३६ स्वीकारी जाती है । परन्तु इस विशाल स्मृति साहित्य का अधिकांशतः अभाव है । इसी कारण स्मृति-सम्बन्ध में निर्णायक घोषणा करना दुर्लभ तथा असंगतिमूलक ही है ।

सभी स्मृतिकर स्वयं में मौलिक विचारक, विधिज्ञ, शास्त्रज्ञ रहे थे । समाज को तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरुप भरपूर रूप में व्यवस्थित तथा नियन्त्रित कर सके थे । उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती स्मृतिकारों का पिष्टपेषण मात्र न कर देश-काल परिवर्तन के साथ परिवर्तित मान्यताओं की नूतन रूप में स्थापना की थी । ऐसे भी स्थल रहे हैं जिन से स्मृतिकार परस्पर सहमत नहीं रहे थे । स्मृतिकार पुनरावृत्ति दोष से भी बचकर चले हैं । पहले को स्वीकार कर कुछ नूतन जोड़कर या न्यून करना प्रत्येक स्मृतिकार का लक्ष्य रहा था । स्मृतियों में परस्पर मतभेद अथवा अभाव के कारण वेद व धर्मसूत्रों की व्यवस्था प्रभावी रही थी । परन्तु अर्थशास्त्र

---

१ श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। वशिष्ठ धर्मसूत्र १.४६, वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले । गौतम ध.सूत्र ।

२ श्रुतिस्तुवेदोविज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वेस्मृतिः । मनु. २.१०

३ पाराशर स्मृति १.१२ से १५ तक; याज्ञ. १.४ व ५; भारद्वाज स्मृति १.३-५; गरुडपुराण ९३.४-६; अर्थशा. ५.५; अग्निपुराण १६२.१-२ एवं १८

की अपेक्षा स्मृति का कथन प्रमाण माना जाता था। स्मृतिकाल मे स्मृतिद्वारा प्रतिपादित नियमों के आधार पर ही न्याय सम्पादित होता था। स्मृति विधि के अभाव में नृप न्याय प्रमाणिक रहता था।[१]

रचना की दृष्टि से स्मृतियां धर्मसूत्रों के बाद की रचना है। इनमें मनुस्मृति सबसे प्राचीन व प्रथम स्मृति है। ईसा से कई सो वर्ष पूर्व का समय मनुस्मृति का निर्माणकाल रहा है। शेषस्मृतियां प्रथम शताब्दी से लेकर एक-हजार ईसवीं के मध्य रची गई थी। विद्वान् धर्मशास्त्री डा. पान्डुरंग वामन काणे ने मनुस्मृति का सृजन कर्ता मनु को न मानकर विडम्बनापूर्ण दृष्टिकोण की स्थापना की है। जबकि मनु की प्राचीनता वैदिक काल से प्रमाणिक है। मनु वैदिक सूक्तों व ऋचाओं के प्रणेता रहे हैं। वैदिक साहित्य तथा महाभारतकारने उन्हें आदि विज्ञ व विधि पुरुष के रूप में देखा व स्वीकार किया है। अतः मनुस्मृति के प्रणेता के रूप में मनु को वंचित नहीं किया जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से स्मृतिकारों की भाषा लौकिक है। अधिकांश स्मृतियां श्लोकयुक्त (पदमय) रचनायें है। वर्णित विषयवस्तु के परिसर में स्मृतियां अधिक व्यवस्थित तथा सुसंगठित एवं प्रौढ़ हैं। अधिकांश स्मृतियों की रचना ऋषि-मुनियों के आदेशों तथा आदर्शों के आधार पर ही हुई है। तथा उन्हीं ऋषियों के नाम पर इनका नामकरण भी हुआ है। स्मृतियों में अधिक मतभेद नहीं है। अनेक स्थल अधिक मिलेजुले हैं जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बाद के स्मृतिकार ने अपने पूर्ववर्ती स्मृतिकार का अनुकरण मात्र किया है। परन्तु ऐसा नहीं वास्तविक रूप में स्मृतिकार को ऐसा करने के लिये विवश होना ही पड़ा था। तत्कालीन अपराध, पुत्र-प्रकार, विवाह-योजना, दायद विवरण, स्त्रीधन, वाक्पाररुष्य, साहस, स्तेय, संग्रहण आदि विषयों की परिभाषा, प्रकृति एवं प्रवृत्ति कैसे बदली जा सकती थी? दूसरे अपराध की गुरुता, दण्ड की उपयोगिता, अपराध की स्थिति को कैसे उपेक्षित छोड़ा जा सकता था? साक्षी, दिव्यों, लेखों, न्यायाधीशों की योग्यता के प्रति भी अनदेखी नहीं की जा सकती थी। स्मृतिकार अपनी ओर से नये तथा मनगढ़ंत नियम कैसे संलग्न कर सकते थे? इन्हीं कारणों से स्मृतिकारों ने केवल शैलीक्रम, विषय की संक्षिप्तता या विस्तार के अतिरिक्त और कर भी क्या सकते थे? आचार-व्यवहार व प्रायश्चित आदि शीर्षकों में विषयवस्तु की दृष्टि से स्मृति विभक्त है। स्मृतियों का वातावरण सामाजिक, नैतिक, व्यवहारिक तथा न्यायिक अधिक रहा है। इसी व्यावहारिक, व न्यायिक निर्देशन के द्वारामानव के आचार-विचार को नियंत्रित एवं संयमति और संशोधित करने में स्मृतियां सक्षम और सफल रही हैं। स्मृतियों ने मानव को कुछ कर्तव्यों व दायित्वों के पालन हेतु बाध्य किया है तो साथ-ही-साथ उसे अधिकार-उपभोग के लाभ से भी लाभान्वित किया है। तथा मानव द्वारा किये गये अपराधों का दण्ड पाने के लिये उस विवश भी कर दिया

---

१ मनु. ११८९, याज्ञ. २.२१

हैं । इस प्रकार स्मृतियों ने मानव को कुल मिलाकर एक स्वच्छ व परिशुद्ध मामाजिक धरातल प्रदान किया है ।[१]

स्मृतियों का उद्देश्य न्याय द्वारा मानव को आचार, व्यवहार तथा व्यवस्था की शिक्षा प्रदान करना था । फलतः स्मृतिकारों ने वैदिक सिद्धान्तों को क्रियात्मक और व्यवहारिक धरातल पर प्रस्तुत किया । स्मृतियों की आचार-व्यवहार, प्रायश्चित एवं दण्ड व्यवस्था ने समूचे समाज की विकासोन्मुख किया था । यदि ऐसा न होता तो मानव जीवन नीरस व जड़ बन कर रह जाता । यह निर्विवाद सत्य है कि जब तक मानव मे निर्दोष मानसिक वृत्ति तथा आध्यात्मिक गुणों का विकास नहीं होता, तब तक भौतिक सुख विकृति के रूप में मानव को पतनोन्मुखी करते रहते हैं । आसुरी प्रवृत्ति के उन्मूलनार्थ प्राचीन मनीषियों ने स्मृतिशास्त्र के रूप में व्यवहार पद्धति को मानव कल्याणार्थ निर्मित व विकसित किया था । स्मृतिकारों ने अपनी स्मृतियों में आचार पर बल देकर मानव को मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र करने का सतत प्रयत्न भी किया था । आचारावली की स्थापना के पीछे मानव विकास की स्थापना, तथा उसके जीवन को विशुद्ध व पवित्र बनाना रहा था । मानव जीवन को पवित्र, अनुशासित वातावरण में ढ़ालना इनका प्रमुख लक्ष्य था । फलतः धर्म, अर्थ काम, मोक्ष का सुन्दर समन्वय स्मृतियों के द्वारा स्थापितहो सका ।

स्मृतियों में वर्णित विधि-विधानों से प्रयोजन यह नहीं कि स्मृतियों के अतिरिक्त अन्य नियमों व परम्पराओं का प्रचलन एवं व्यवहारिक रूप स्मृतिकाल में विद्यमान नहीं था । अपितु, स्मृतियों से पूर्व निर्मित वैदिक धर्मसूत्रीय एवं अन्य आर्ष धार्मिक विधि का प्रचलन बराबर बना था । स्मृतिकारों ने पुनरावृत्ति दोष से मुक्त रहने के कारण वेदों सूत्रों एवं अन्य शास्त्रीय तथा धार्मिक परम्परा को, अपनी स्मृतियों में न लिखकर, प्रामाणिक स्वीकार कर लिया था। अतएव स्मृति विधिशास्त्र का पालन वैदिक परिसीमा के अन्तगर्त ही हो सकता था, बाहर नहीं । यह बात उस स्थिति में और भी स्पष्ट हो जाती है कि स्मृति नियमों के अभाव में, न्यायविद वेद व सूत्रों में वर्णित विधि का अवलम्ब लेकर न्याय करते थे । स्मृतियों की परितुलना में वेद व सूत्र अधिक प्रबलप्रमाण माने जाते थे ।

स्मृतिकालीन न्याय व्यवस्था के फलस्वरूप ब्राह्मणों का ज्ञानबल क्षत्रियों का अधिकारबल, वैश्यों का धनबल एवं शूद्रों का शिल्पी व सेवा बल सन्तुलित व स्थिर तथा सुरक्षित रहता था । न्याय-अंकुश के फलस्वरूप स्वार्थपरता, मदोन्मत्तता,

---

१ छान्दोग्योपनिषद अ. ५, खण्ड ११ के अनुसार कैकय कुमार राजा अश्वपति का ऋषि उद्यालक के सम्मुख कहा गया कथन दृष्टव्य है - "मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है, तथा न अदाता (सम्पत्ति के होते हुए दान न देने वाला) न मद्यप, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान न परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री तो आई ही कहां से ? हे पूज्यगण, मैं स्वयं भी यज्ञ करने वाला हूं ।"

अत्याचार की सम्भावना समाप्त रहती थी। सभी मानवों को योग्यता व दक्षतानुरुप सुविधा, सम्मान, रक्षण अर्पित किया जाता था। न्यायव्यवस्था के आश्रय के कारण निर्बल मनुष्य भी शक्ति-सम्पन्न मानव के कोप-अत्याचार-शोषण से स्वरक्षा कर सकता था।[१]

स्मृतियों में धर्म, नैतिकता, विधि तथा दायित्व का एक साथ समावेश है। स्मृतिकालीन व्यवस्था जीवन पक्ष की विभिन्न कड़ियों को एक साथ जोड़कर मानव जीवन को मंगलमय बनाने की प्रत्याभूति प्रदान करती थी। नैतिकता नियम व शासन को एकसाथ समायोजित कर सम्पूर्ण मानव जीवन की प्रत्येक अवस्था व स्थिति का आचरणयुक्त विधान प्रस्तुत किया था। तथा मानव जीवन के लिए ऐसा धरातल प्रस्तुत किया था जिस पर चलकर यश व मोक्ष दोनों को उपलब्धिसंभव हो सकी थी। स्मृतिकारों ने मानव की स्वाभाविक दुर्बलता से लेकर गुरुतर अपराध तक एवं पतनोन्मुख प्रवृत्तियों को नियन्त्रित कर कल्याण, श्रेय व अनुशासन तथा व्यवस्थित मार्ग की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी थी। स्मृतिकारों ने घृणा, आलोचना व दण्ड की व्यवस्था. अपराध उन्मूलनार्थ की थी, अपराधी उन्मूलनार्थ नहीं। श्रेष्ठकर्म मानव-जीवन के आधार-भूत सिद्धान्त हैं। प्रत्येक मानव उचित मार्ग का पथिक बन सके इसी हेतु व्यवहार पद्धति की स्थापना स्मृतिकारों ने की थी।

स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति धर्म से सीधी प्रभावित रही है। वह कोरे आदर्शवाद से पृथक् अपने में व्यावहारिक रही है। तथ्यों ओर आदर्शो का एक साथ मिश्रण हुआ है। धर्म मानव से भिन्न व पृथक् नहीं है इस धार्मिक भावना का मानव की पूर्णता से अटूट सम्बन्ध था। इसीलिये धर्मच्युत-मानव को पशुओं की कोटि में रखा गया था। धार्मिक भावनायें मानव के छोटे-से-छोटे व बड़े-से-बड़े कार्यों पर प्रभावी रही थी। स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा पारलौकिक जीवन पर भी विचार करती थी। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन धर्ममय प्रतीत होता था। धर्म का उद्देश्य अर्थ-काम-मोक्ष का समन्वय करना रहा था। संक्षेप में धर्म आदर्शवादी, यथार्थवादी, लौकिक व पारलौकिक होने के कारण आचरण की वस्तु रहा था तथा स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था को क्षणे-क्षणे प्रभावित भी करता रहा था। धर्म के क्षेत्र में आडम्बरकर्ताओं से सावधानी बरती जाती थी। धर्म और अधर्म को पहचानने हेतु विवेक से काम लिया जाता था। आर्यो द्वारा प्रशंसित आचरण धर्म, एवं निन्दित कार्य व अनाचरण अधर्म माने जाते थे।

स्मृति में प्रतिपादित न्यायव्यवस्था (व्यवहारपद्धति) ने तत्कालीन जनसमुदाय को इतना प्रभावित किया था कि शान्ति व सुख का वातावरण तैयार हो सका।

---

१ अथर्व. ३.२९.१ से ८ तक

न्याय व अन्याय का विवेकपूर्ण विचार कर, लिया जाता था। मनुष्य स्वाभाविक स्वार्थ के वशीभूत विभिन्न प्रकार के व्यवहारों से विचलित हो सकता था। अतएव स्मृतिकारों ने, जिन्हें तत्कालीन संविधान-निर्माता भी कहा जा सकता है, ने नृप, न्यायाधीश व परिषदों द्वारा जनसमुदाय को सत्यव्यवहार में स्थिर करने की प्रेरणा देकर पुरस्कार व दण्ड की व्यवस्था की थी। सार्वजनिक अपराधों के दमनार्थ कठोरता दण्डों की व्यवस्था भी स्मृतियों की देन है। इसका उद्भव व विकास वैदिक काल से प्रेरित है। डा. हरिहरनाथ त्रिपाठी ने वेदों में प्रयुक्त दण्ड का न्यायिक प्रशासन के रूप में स्वीकार नहीं किया है — (प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, अध्याय-७, दण्डोत्पत्ति पृष्ठ-२१८ पर)। परन्तु वेदों में विशेषकर अथर्ववेद में सभी प्रकार की दण्ड योजना पर पर्याप्त से अधिक सामग्री उपलब्ध होती है। जिसका प्रयोग न्यायिक धरातल पर अवश्यमेव स्वाभाविक रूप में हुआ था।

मानव को सत्पथ की ओर ले जाने तथा अपराधों के परिमार्जनार्थ दण्ड की व्यवस्था थी। तीनों लोक दण्डनीति से नियन्त्रित व प्रभावित हैं। दण्ड के द्वारा आन्वीक्षिकी त्रयी एवं वार्ता का रक्षण होता है। दण्ड नियमों की व्याख्या करने के कारण इसे दण्डनीति कहा जाता था। अलब्ध की प्राप्ति, लब्ध का परिरक्षक, रक्षित वस्तु का विवर्धन, विवर्धित वस्तु या सम्पत्ति का सुपात्रों में न्यायपूर्ण विभाजन दण्डनीति के कारण होता था।[1] दण्डनीति के अभाव में सम्पूर्ण विश्व मर्यादा के बन्धन को तोड़कर उद्दण्ड व अनाचारी बन जाता है। अतएव दण्ड-नीति को स्मृतिकारों ने सम्पूर्ण विश्व का अवलम्ब स्वीकार किया था।[2]

दण्ड-शक्ति के अभाव में आध्यात्म-शक्ति भी दुर्बल हो जाती है। सम्पूर्ण पुरुषार्थ व उत्सर्ग नष्ट हो जाता है। दण्डनीति की उपेक्षा के कारण विदेशी, दस्यु, अधर्मी, अनाचारी, अत्याचारी, वंचक, शोषक, निःसीम दुर्दशा को जन्म देते हैं। दण्ड-नीति की उपेक्षा अकल्याण का हेतु बनती है। मनुष्य के काम-क्रोध-लोभ आदि विकार एवं निकृष्ट वृत्तियों का नियन्त्रित करने हेतु — हिंसा, स्तेय, प्रवंचना तथा दुराचार को अवरुद्ध करने के लिए स्मृतिकाल में दण्ड की परमावश्यकता पड़ती थी। दण्ड का सीधा लक्ष्य निरपराधियों का संरक्षण व आततायियों का मूलोच्छेदन करना था। समाज की सम्पूर्ण रक्षा एवम् सुरक्षा स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति के दण्ड के विधान पर केन्द्रित थी। चिन्तन व विवेक से थका व्यक्ति

---

१ शा.पर्व ५९.७९, ६३.२८, अर्थशा. १.४, शा.पर्व ६९.१०२ दण्डेन नीयते चेयं दण्डं नयति वा पुनः। दण्डनीतिरितिख्याता त्रील्लोकनभिवर्तते॥ शा.पर्व ५९.७८ दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वण्यं नियच्छति। प्रयुक्तास्वाभिनासम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति॥ शा.पर्व ६९.७६

२ वनपर्व १५०.३२; शा.पर्व १५.२९; ६३.२८; ६९.७४; १२२.२५

कभी-कभी सहसा कह उठता है कि प्राचीन भारत की दण्डनीति अथवा व्यवहार-पद्धति का वर्तमान मे क्या उपयोग और लाभ? परन्तु यदि स्थिर होकर तनिक विचार किया जाये तो यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि हमारी रक्षा व उन्नति आज के युग में भी उन्हीं गतिशील प्राचीन आदर्शों, नियमों, व्यवस्था पद्धति के आधार पर सम्भव हो सकी है। आज के विशृंखलित व परास्त जीवन को उससे ही सम्बल मिल सकता है। प्रत्यक्ष में ही नहीं, परोक्ष रूप में भी आज स्मृति युग का प्रभाव हमारे जीवन को प्रभावित, किये हुए है। सत्य, सत्य ही होता है। परिवर्तनशील सिद्धान्त सत्य नहीं हो सकते। स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति का प्रत्येक अंश अपने में सत्य व उपयोगी है। वह भारतीय सभ्यता की स्थिर तथा असाधारण सम्पत्ति है। दण्डनीति के मूल में सुनिर्मल व निर्व्याज त्याग विद्यमान है जिस प्रकार गर्भिणी स्त्री अपनी इच्छित वस्तुओं का त्याग गर्भस्थ शिशु के कल्याणार्थ करती है, उसी प्रकार स्मृतिकालीन न्यायाशास्त्री राष्ट्रवासियों के कल्याण की कामना दण्डाधार पर करते थे। यही कारण रहा है कि वेद से लेकर स्मृति तक तथा स्मृति से इतर युग में दण्ड व्यवहार पद्धति का परीक्षण व विश्लेषण व्यवहार-पद्धति के परिसर में हुआ था। दण्डनीति के प्रयोगकर्ता स्वयं में निरालस्य स्वभाव, तीव्रबुद्धि, विवेकशील तथा विशुद्ध आचरण कर्ता होते थे।

दुष्टों का विनाश करने हेतु न्यायिक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के साधारण व कठोर दण्डोंकी योजना का मुख्य प्रयोजन येन-केन-प्रकोरण मानव हित रहा था। अपराधी का विज्ञ न्यायाधीश की विवेकशील प्रखरबुद्धि व सुलझी हुई अन्तचेतना से बच निकलना नितान्त कठिन व असम्भव था। दुष्टों को दण्ड के अतिरिक्त मधुर उपदेश के द्वारा भी सुधारने का प्रयास किया जाता था।[1]

न्यायाधीश के रूप में नृप का प्रमुख कर्तव्य दण्ड देना था। पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष की कठिनाईयों, प्रमाणों, साक्षियों को सुनकर, अपराधिपक्ष पर दण्ड सुनियोजित किया जाता था।[2] नैतिक नियमों की उपेक्षा तथा धर्म का अतिक्रमण व उल्लंघन करने वालों को दण्ड देना स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का मुख्य उद्देश्य होता था। सम्पत्ति-हरण, आर्थिक दण्ड, शारीरिक दण्ड, के विकल्प रूप में अर्थदण्ड भी दिये जाते थे। दण्ड साधारण-से-साधारण एवं कठोर-से-कठोरतम अपराध के अनुरुप

---

१ अथर्व का.-१, सुक्त - ७.१ से ७ तक; का. - १, सूक्त - २८.१ से ४ तक; का. - ४, सूक्त ३.१ से ७ तक; का. - ६, सूक्त - ७५.१, २, ३, का. - ६, सूक्त - ९७.१ से ३ तक; का. - ६, सूक्त - १०३.१ से ३ तक; का. -६, सूक्त - १०४.१ से ३ तक; का. - ६, सूक्त - १३४.१ से ३ तक; का. - ७, सूक्त - १३.१ व २१; का. - ७, सूक्त - ९०.१ से ३ तक; का. - ७, सूक्त - १८०.१ व २; का. - ८, सूक्त - ३.१ से २६ तक; का. -८, सूक्त - ३.१ से २६ तक; का. - ८, सूक्त -४,१ से २५ तक।

२ आप.ध.सूत्र २.११.३; अथर्व. ७,९२,१

प्रयोग में लाये जाते थे ।[१] प्रजारक्षण का दायित्व योग्यतम न्यायाधीशों को निर्धारित सीमारेखा के अन्तगर्त सौंपा जाता था । नगर के चारों ओर एक योजन के क्षेत्र में, नगराधिकारी, ग्राम के चारों ओर एक कोस की परिधि में ग्राम रक्षाधिकारी उत्तरदायी होता था । समूचे राष्ट्र को इसी प्रकार न्याय-संगठन के सूत्र में पिरोया गया था । आचरण के नियम कठोर होते थे । डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने ग्राम का अर्थ नगर से करके तथ्यों के प्रति अनदेखी की है । — (धर्मशास्त्र का इतिहास द्वितीय भाग, अध्याय-५ स्वायत्त ग्राम संस्थायें शीर्षक) । — मनु. ७.१२० के अनुसार ग्राम व नगर का स्थायित्व पृथक्-पृथक् रहा था ।

स्मृतिकालीन मनिषियों एवं व्यवस्थाकारों ने जीवनोपरान्त पुनर्जन्म की स्थापना को मान्यता देकर मानव को पाप, अपराध, अनीति से विरत करने का सफल प्रयास किया था । मनुष्य शरीर से किये गये दोषों का फल इस तथा अगले जन्म में मनुष्य को ही भुगतान पड़ता है ।[२] जिस प्रकार एक बछडा हजार गायों के मध्य अपनी मां को पहचान लेता है उसी प्रकार हजार वर्षों के पश्चात भी कर्म अपने कर्ता को पहचान लेता है । विभिन्न प्रकार की योनियों में जन्म लेकर व्यथा उठानी पड़ती है । इस दूरगामी अनिष्ट से बचने के लिए दण्ड के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार प्रायश्चितों की स्थापना स्मृतिकारों ने की थी । व्रत, उपवास, जप, दान, पुण्य, यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि प्रायश्चित के विभिन्न रूप स्थापित किये गये थे । लौकिक व्यवहार पद्धति से ऊपर की दण्ड योजना के विधान से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित का विशिष्ट महत्त्व रहा था । पुनर्जन्म व प्रायश्चित की भावना ने मानव को पथभ्रष्ट होने से अवरूद्ध किया था । स्मृतिकारों ने प्रायश्चित योजना को स्वीकार कर अपराधों के शमनार्थ मान्यता प्रदान की थी ।[३] परन्तु आगे चलकर ये प्रायश्चित ही पापों के प्रेरक सिद्ध हुए । पाप का प्रायश्चित कर लेता गौण हो गया फलतः व्यवस्था टूटने लगी ।

स्मृतियुग में वर्ण-व्यवस्था विद्यमान थी । मनुष्य अपने गुणों एवं योग्यताओं के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वर्ण का अधिकारी बन सकता था, निम्नाचारों के कारण पतित होने पर शूद्र वर्ण में प्रविष्ट हो जाता था । जन्म से ब्राह्मण भी, कर्मों की न्यूनता, ज्ञान की अल्पज्ञता के कारण उच्च वर्ण से गिर जाता था । क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र गणों की श्रेष्ठता के कारण ब्राह्मण वर्ण में स्थापित हो सकते थे । ऋषित्व को प्राप्त कर लेते थे । स्मृतियुग में दण्ड व्यवस्था का विधान वर्णानुसार होने के कारण सार्थक व उद्देश्यपूर्ण रहा था — (मनु. ८.२७९, याज्ञ. २.२१५, गौतम - १२.१) — इन स्मृतियों का यह कथन कि निम्न वर्ण अर्थात् पतित पुरुष उच्चवर्ण के पुरुष

---

१ आप.ध.सू. २.१६.१९, २०, २१

२ याज्ञ. ३.१३२ व १३३; पाराशरस्मृति-अ.-४, अ.८ से १० तक आप.धर्मसूत्र - १.२८.१७

३ याज्ञ. ३.१३४ से १४५ तक तथा १९५ से २२६ तक

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष को जिस अंग से हानि या कष्ट पहुंचायें उसका वह अंग पृथक् कर देना चाहिए — सामाजिक अनुशासन का प्रतीक रहा था। क्योंकि देश व समाज का निर्माण एवं कल्याण तथा व्यवस्था श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा ही होती है। अतएव स्मृतिकारों ने श्रेष्ठ जनों की सुरक्षा के प्रति कठोरदण्डों की स्थापना की थी; क्योंकि इन असाधारण पुरुषों की निन्दा, उपहास व उपेक्षा राष्ट्र की निन्दा, उपहास व उपेक्षा मानी जाती थी।

अपराध तथा प्रायश्चित एवं दण्ड तथा नैतिकता के उपर वर्णव्यवस्था का प्रबल प्रभाव था। उदाहरणतः क्रोधवश ब्राह्मण पर शस्त्र उठाने, आक्रमण करने पर कठोरतम दण्ड तथा मृत्युदण्ड; परन्तु शूद्र की हत्या पर एक वर्ष का प्रायश्चित तथा दस गायों व एक सांड का दान पर्याप्त समझा जाता था। शूद्र वध को गाय वध से न्यून तथा वैश्य वध की गाय वध के बराबर माना जाता था। अनेक बार मानवता के प्रति अनदेखी करते हुए शूद्र वध को मेढ़क, न्योला, कौआ, चूहा वध के समान समझा गया। वेदमन्त्र श्रवण करने वाले शूद्र के कान में गर्म करके शीशा व जस्ता भरना, वेदमन्त्रों का उच्चारण करने वाले शूद्र की जिह्वा काट लेना, दूसरी ओर शूद्र का अपमान करने पर ब्राह्मण का दण्डमुक्त रहना अपराध करने पर भी ब्राह्मण को अदण्ड्य रखना स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति को महान विसंगति रही थी। इसी प्रकार प्रायश्चित के परिसर में क्षत्रिय की हत्या पर एक हजार गायों, वैश्य की हत्या पर सौ गायों शूद्र हत्या पर दस गायों का दान प्रायश्चित का साधनमात्र रहा था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, द्वारा शूद्र स्त्री से मैथुन करने पर देशनिष्कासनकादण्ड, शूद्र द्वारा उच्चवर्ण की स्त्रियों से मैथुन करने पर मृत्युदण्ड; शूद्र द्वारा चोरी करने, वध करने, भूमि पर बलपूर्वक अधिकार करने पर शूद्र की सम्पूर्ण सम्पत्ति का हरण तथा मृत्युदण्ड एक साथ देने की भी व्यवस्था रही थी। परन्तु यदि ब्राह्मण इन अपराधों को करता तो उसे जीवनपर्यन्त आंखों पर पट्टी बांधकर रहना पड़ता था। न्यायमपरिसर में इससे बढ़ कर विडम्बना अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होती।

यौन-विषयक नैतिकता को स्थापना के प्रसंग में नारी की स्थिति पर स्मृतिकारों की दृष्टि पैनी रही थी। उच्चकुलों की पवित्रता एवं मर्यादा को सुरक्षित रखते हेतु तथा वर्ण-संकरता के विष को नष्ट करने के निमित्त स्त्री संग्रहण को लेकर की गई व्यवस्था अपने में सार्थक तथा तथ्यपूर्ण थी।

स्मृतिकालीन समाज में व्याप्त अपराधों में आर्थिक, राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक विवाद प्रमुख अपराध रहे थे। अपराधों की मूल को उखाड़ने की व्यवस्था को तत्परता के साथ स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति प्रयोग में लाई जाती थी। स्मृतिकालीन न्यायाधीश का स्थान, गरिमापूर्ण तथा सम्माननीय था। तत्कालीन सम्पूर्ण न्यायिक विधियों का प्रयोग न्यायाधीश के माध्यम से सम्पादित होता था। ग्राम और नगर केन्द्र तक न्याकर्ताओं का विस्तृत एवं सुदृढ़ जाल-सा फैला रहता था। उस जाल से अपराधी का बच कर निकल सकना नितान्तदुष्कर ही नहीं, कष्टसाध्य एवं असम्भव भी था। वर्ण-श्रेष्ठता को दृष्टिगत रखते हुए

आचरणशील व विधिज्ञ, धर्मज्ञ, शास्त्रज्ञ, सत्यवादी, निर्लोभी, संयमी, कुलीन व्यक्ति को न्यायाधीश के पद पर परीक्षा लेकर नियुक्त किया जाता था। समय-समय पर उसके कार्य का पुनरावलोकन, परीक्षण, व परीक्षा गुप्तचर-विभाग या उच्च न्यायालय द्वारा होती थी। जिससे न्यायाधीश विकृति एवं उपेक्षावृत्ति से विरत रह सकें। कार्यदक्षता, कुशलता एवं विवेकशीलता के आधार पर न्यायाधीश पुरस्कृत अथवा दण्डित पदोन्नत अथवा पदावनत आदि से प्रभावित होते थे। डाँ. हरिहरनाथ त्रिपाठी के मतानुसार स्मृतिकालीन न्यायाधीश निश्चित विधि से बन्धे थे, वे अपराधी में सुधार नहीं कर सकते थे। — (प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका, पृष्ठ- २४० पर दण्ड के परिमाण व स्वभाव आधारहीन है। वास्तव में स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का दृष्टिकोण सुधारात्मक रहा था न कि प्रताडनात्मक। न्यायाधीश अपने विवेक के द्वारा अपराधी के अपराध के परिमाण तथा अपराधी की शारीरिक व आर्थिक क्षमता को देख कर ही दण्ड नियोजित करते थे। न्यायाधीशों पर न्याय देते समय कोई नियन्त्रण नहीं रहता था। फलतः श्री त्रिपाठी का उक्त कथन स्मृतिकानलीन व्यवहार पद्धति पर व्यर्थ का कटाक्ष है। जबकि स्थिति यह रही थी कि परिस्थिति अनुरुप एवं दक्षता पर विभिन्न न्यायिक कार्यों के साथ उन्हें विशेषाधिकार से अलंकृत किया जाता था।

न्यायाधीश अपने कार्यों का दायित्वों का निर्वाह न्यायालय में धर्मासन पर बैठ कर करते थे। देश के सघन व विरल, केन्द्र से समीप एवं दूरस्थ विभिन्न प्रकार के न्यायालयों का विनियोजन प्रमुख न्यायाधीश के नियन्त्रण में किया जाता था। सभी ज्येष्ठ न्यायालय अपने अधीनस्थ के न्यायालयों के प्रति उत्तरदायी होते थे। कनिष्ठ न्यायालयों की अपीलें सुनना, मार्ग-निर्देश करना इनका प्रमुख अधिकार रहा था। परन्तु डा. पाण्डुरंग वामन काणे ने विश्वास व्यक्त करते हुए न जाने किस कारण से लिखा है कि प्राचीन भारत में न्यायालय नाम की नृप से पृथक् कोई वस्तु नहीं थी। (धर्मशास्त्र का इतिहास, अध्याय-११, व्यवहार-पद्धति, पृष्ठ-७१७)। जबकि स्मृतियुगीन व्यवस्था प्राचीन भारत का महत्त्वपूर्ण अंग रही है। स्मृतिकाल में ग्राम से लेकर केन्द्र तक न्यायालयों का जाल फैला था। अर्थशास्त्र अधिकरण ३ व ४ तो न्यायालयों को लेकर ही लिखे गए हैं।

गम्भीर अपराधों का परीक्षण न्याय परिषद् करती थी। नृप उसका अध्यक्ष होता था। न्याय परिसर में नृप सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। काशीप्रसाद जायसवाल ने पोर जनपद के अध्यक्ष को नृप विरूद्ध नियमों के सृजन करने की क्षमता परखने वाला व्यक्तित्व स्वीकार कर भ्रम उत्पन्न किया है — (हिन्दु पालिटी भाग-२, पृष्ठ १०८ पर) जबकि अर्थ. १.१९ के अनुसार पोर जनपद का अध्यक्ष एक साधारण निरीक्षक होता था। इसी प्रकार डा. हरिहनाथ त्रिपाठी ने परिषद को नृप से उच्च मानकर एक असम्भव कल्पना की स्थापना की है — (प्राचीन भारत में न्यायापलिका, न्यायाओं का संगठन, पृष्ठ १६३)। जबकि न्यायपरिषद् नृप को न्याय में सहयोग देने की सक्षमता रखती, थी।

न्याय का सम्पादन स्मृतियों मे उल्लिखित नियमों, संकेतों एवं आचारों के अनुरुप होता था। स्मृतियों की तुलना में वेद व धर्मशास्त्र के कथन प्रबल व पुष्ट प्रमाण माने जाते थे। परन्तु अर्थशास्त्र की अपेक्षा स्मृतियां अधिक प्रामाणिकं रहती थीं। किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध होने पर नृप का विवेकपूर्ण निर्णय अन्तिम होता था। प्रचलित सद् परम्पराओं, न्यायालयों की पूर्वोक्तियों का पालन भी विधि के रूप में मान्य व प्रचलित था।

स्मृतिकालीन विधि का श्रोत वेद, उपनिषद, धर्मसूत्र तथा ऋषि मुनियों के कथन रहे थे। इस विधि पर धर्म, आचार तथा नैतिकता का अटूट प्रभाव था। समय-समय पर बदलती परिस्थितियों के अनुरूप विधि में पर्याप्त परिवर्तन हुआ था। स्मृतियों की विभिन्ता उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह स्मृतियां तत्कालीन संविधान रही थीं। परन्तु, एक स्मृति अपने से पूर्व की रचित सभी स्मृतियों से प्रभावित रहती थीं। पूर्ववर्ति स्मृतियों के विधि में विधानों की उपेक्षा उत्तर स्मृति नहीं कर सकती थी। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विधि पर वर्णव्यवस्था का सीधा प्रभाव व्याप्त था। व्यक्ति के व्यक्तित्व, पद-गरिमा वगुरूता के समक्ष सभी नियम शिथिल पड़ जाते थे। व्यक्ति की असाधारणता, विधि को साधारणता में परिवर्तित कर देती थी। स्मृतिकालीन विधि का निर्माण विधिज्ञ, स्मृतिकारों के द्वारा ही हुआ था। उनकी विधिगुरुता को स्थापित रखने के कारण उन स्मृतिकारों के नाम पर उनसे सम्बन्धित या सृजित स्मृतियों का नामकरण्ण हुआ था।

स्मृति युग में अभियोग का परीक्षण सुनिश्चित न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से होता था। न्याय व्यवस्था के समस्त प्रतिबन्धों को पूर्ति पूर्व पक्ष व उत्तर पक्ष को करनी पड़ती थी। न्यायालय में उपस्थित होकर वाद की स्थापना करने वाला व्यक्ति पूर्व पक्ष तथा जिस व्यक्तिपर आरोप आरोपित किया जाता था वह उत्तर पक्ष होता था। दोनों पक्षों (पूर्व पक्ष व उत्तर पक्ष) को न्यायालय शुल्क देना पड़ता था। दोनों पक्षों की ओरसे विधि निष्णात व्यक्ति, विवाद के निर्णय हेतु अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे। इनकी दशा वर्तमान युग में अधिवक्ता के समान होती थी। परन्तु असत्य का अवलम्ब लेने वाले तत्कालीन अधिवक्ता को दण्डित करने का विधान था। स्मृति की इस व्यवस्था ने पाप व अपराध को हिला कर रख दिया था। चतुर्दिक सत्य, शान्ति व न्याय के वातावरण की स्थापना सम्भव हो सकी थी। प्रतिभू (जमानती) देने की भी व्यवस्था थी। न्यायालय द्वारा मांग किये जाने पर अपराधी को अपनी ओर से प्रतिभू, व्यक्ति या धन के रूप में प्रस्तुत करनी पड़ती थी। ऐसी दशा में अपराधी के पलायन करने, दण्ड न देने, अशान्ति स्थापित करने पर प्रतिभू को दण्डित होना पड़ता था। दोनों पक्षों में हिंसा, तनाव, दण्डपारुष्य या वाक्यापारुष्य की स्थिति को अवरुद्ध करने के दृष्टकोण से न्यायालय विभिन्न प्रकार के आसेध सम्बन्धी आदेश निर्गत करता था। आसेध अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों ही प्रकार के होते थे। कुछ आसेधों की अवधि अभियाग समाप्ति के बाद ही समाप्त होती थी।

आरोपकर्ता तथा आरोपित दोनों पक्षों को अपने पक्ष को पुष्ट करने हेतु न्यायालय मे प्रमाण प्रस्तुत करने पड़ते थे। प्रमाणों का स्वरूप लिखित, मौखिक (भोग) होता था। अपील एवं पुनर्विवाद स्थापना की स्थिति में, पूर्व जयपत्र को भी प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया जाता था। साक्षी भी विवाद के सम्बन्ध में अपनी आंखों से देखे घटना क्रमों का उद्घाटन करते थे। साक्षियों की प्रामणिकता में दोनों पक्षों की स्वीकृति आवश्यक होती थी। स्मृति में वर्णित गुणों के अनुरुप ही साक्षी हेतु व्यक्ति को चुना जाता था। सत्य सब साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को पुरस्कृत तथा असत्य साक्षी को दण्डित किया जाता था। प्रमाण एवम् साक्ष्य के अभाव में, स्मृतिकारों ने दिव्य को अन्तिम व श्रेष्ठ तथा दैविक प्रमाण के रूप में स्वीकार किया था। निर्णय की घोषणा विभिन्न प्रकार के दिव्यों के आधार पर की जाती थी, उदाहरणतः तुलादिव्य, जलदिव्य अग्निदिव्य आदि। दिव्य परीक्षा में दोनों पक्षों की स्वीकृति नितान्त आवश्यक होती थी। अधिकांशतः मानव प्रमाणों के अभाव में दिव्य प्रमाणों का अवलम्ब लिया जाता था।

अभियोग का पूर्ण परीक्षण हो जाने पर न्यायाधीश निर्णय की लिखित घोषणा करता था। आरोप प्रमाणित होने परअपराधी को उसके अपराध की गुरुता या पुनरावृत्ति के अनुरूप साधारण एवं कठोरतम दण्डों से दण्डित किया जाता था। एक पण अर्थ दण्ड से लेकर सर्वसम्पत्ति-हरण का अर्थदण्ड, एक कोडे से लेकर अंगछेदन का शारीरिकदंड, विभिन्न प्रकार से मृत्युदण्ड, कारागार दण्ड, अर्थ दण्ड के विकल्प में भी कारागार दण्ड आदि दन्ड दिये जाते थे। दण्ड की परिधि में वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था का प्रबल प्रभाव व्याप्त था। गुरुतर अपराधों मे उच्चवर्ग तथा उच्चवर्ण के व्यक्ति को साधारणदण्ड, तथा निम्नवर्ग व शूद्र को कठोरतमदंड दिये जाते थे। सम्भवतः व्यक्ति की उपयोगिता व बुद्धितत्त्व को लक्ष्य कर ही ऐसी व्यवस्था की गई थी। शूद्र से प्रयोजन जाति-विशेष न होकर पतित आचरणकर्ता से था। अपराधिक प्रवृति के व्यक्ति को कठारेतम दन्ड देय था। अपराधी की आर्थिक व शारीरिक क्षमता को देखकर ही दण्ड विनियोजित किया जाता था। दण्ड का लक्ष्य भी सुधारवादी ही था।

दैविक दण्डों से मुक्त रहने की कामना ने प्रायश्चित व्यवस्था का समर्थन किया था। व्रत, उपवास, जप, तप, दान, तीर्थयात्रा, संयम आदि के द्वारा शारीरिक व मानसिक शुद्धि कर अपराध का परिमार्जन किया जाता था। यह व्यवस्था न्यायालय परिसर में पृथक् व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित होती थी।

न्यायाधीश द्वारा अभियोग का परीक्षण किये जाने पर निर्दोष तथा सत्यवादी व्यक्ति को जयपत्र प्रदान किया जाता था। राजकीय शासकीय एवं न्यायिक प्रमाण के रूप में सर्वोच्च प्रमाण होता था। इसकी अवहेलना, उपेक्षा, अवज्ञा, स्वयं में दण्डनीय अपराध बनती थी। जयपत्र पर सम्बन्धित विवाद का पूर्ण विवरण साक्षियों की संख्या व न्यायाधीश के दिनांक सहित हस्ताक्षर होते थे। न्यायालय की मुद्राभी लगी होती थी।

प्रथम न्यायालय में पराजित व्यक्ति उससे ज्येष्ठ न्यायालय में न्याय के विपरीत आरोप लगाकर अपील कर सकता था। ऐसी दशा में प्रथम न्यायालय का निर्णय प्रभावहीन हो जाता था। परन्तु यदि पूर्वपराजित व्यक्ति अपील में भी पराजित हो ज़ाता तो ऐसी दशा में उसे प्रथम न्यायालय द्वारा दिये गये दण्ड का दूना दण्ड देना पड़ता था। साथ-साथ अभियोग के सम्बन्ध के सम्पूर्ण व्यय को भी वहन करना पड़ता था। अनेकावसरों पर साक्षियों व कर्तव्य की उपेक्षा होने पर न्यायाधीश को दण्डित करते हुए पदावनति, पदच्युति या अन्य आर्थिक दण्ड दिये जाते थे। ऐसा कर स्मृति कालीन व्यवस्थाकारों ने व्यर्थ की अपीलों को नियन्त्रित कर, समयधन को बचाने के सफल सतत प्रयास कि ये थे।

स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति (न्याय-पद्धति) का यह स्रोत अविरल रूप से देश के सभी राज्यों को प्रभावित करता रहा था। स्मृतियों की आचारसंहिता, दंडसंहिता, एवं प्रायश्चित योजनापद्धति भारतीय जीवन को मूलतः स्वीकार्य हो गई थी। व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक जीवन व्यवस्था से स्वभावतः प्रेरित रहा था। आगे चल कर यह व्यवस्था भारतीयों से एवं स्मृतिमान्यताओं से इतर की प्रत्येक वस्तु अग्राह्य च अनुपयोगी बन कर रह गई। विदेशी शासनपद्धतियों ने भी भारतीयों के अनेक विवादों को मनुस्मृति के आधार पर सुलझा कर स्मृतियों की मान्यता प्रदान की। आज स्वतन्त्र भारत की न्याय व्यवस्था अनेक विषयों में उदाहरणतः दायभाग, विवाहपद्धति, दत्तकपृथा, के रूप में स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति से प्रभावित है।

इस प्रकार स्मृतिकाली न व्यवहार-पद्धति अपने में स्मृतियुग की अमूल्य न्याय-व्यवस्था रही थी

न्याय

(अ) परिभाषा

व्यवहार-पद्धति का पवित्र स्रोत ऋग्वेद-काल से ही अविरल रूप में बहा है। अनेक बार 'ऋत' शब्द का उच्चारित होना[1] सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था का प्रतीक बना है। यही व्यवस्था न्याय-व्यवस्था के रूप में इतर युगों में पल्लवित व फलित हुई थी।

स्मृतियुग भारतीय व्यवहार-पद्धति-शृंखला की वह महत्वपूर्ण कड़ी रही है जिसे ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक की विधिस्थली का अवलंब प्राप्त है। दूसरे स्मृतिकालीन अनेक स्मृतिकार अपने में पूर्ण विधिज्ञ रहे थे। फलतः परवर्ती युग में उनके द्वारा प्रतिपादित विधि-योजना को पूर्ण समर्थन मिल सका था। कहीं-कहीं तो बस परम्परा के अनेक स्थल धार्मिक कार्य कलाप रूढ़ी व परम्परागत होते हुए जीवन के अभिन्न अंग ही बन गये थे। प्राचीन मध्यकालीन अथवा अर्वाचीन न्यायिक ढांचे पर स्मृतिकालीन व्यवहार-पद्धति का अपना विशिष्ट प्रभाव रहा है। 'व्यवहार' शब्द का सूत्रों व स्मृतियों में अनेक प्रकार से प्रयोग हुआ है। व्यापारिक अर्थात् क्रय-विक्रय एवं विनिमय के रूप में[2] एवं विवाद, अभियोग के रूप में[3] तथा विवाद के निवारणार्थ न्यायिक प्रक्रिया[4] के रूप इसी प्रकार बौधग्रन्थ महावग्ग (१.४०.३) एवं चुल्लवम (६.४.९) में प्रयुक्त वोहारिक महामत शब्द व्यवहार पद्धति का ही प्रतीक है।

यदि व्याकरण की दृष्टि से व्यवहार शब्द का विश्लेषण किया जाये तो स्पष्ट हो जाता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नप्रकार है :-

वि : उपसर्ग है, इसका शाब्दिक अर्थ है = बहुत।

---

१ ऋगवेद : १.६८.२, १.१०५.१२, १.१३६.२, २.२८.४

२ महाभारत उद्योगपर्व : ३७.३०, आपस्तम्ब धर्मसूत्र २.७.१६, १७, १.६.२०.११,

३ महाभारत शान्तिपर्व : ६९.२८, मनु. ८.१, याज्ञ. २.१; विष्णुधर्मसूत्र ३.७२, वसिष्ठ १६.१, अर्थशास्त्र ३.१६ व ४.७; नारद (दत्ताप्रदानिक - १) मनु. ८.८, याज्ञ. २.५

४ गोतम धर्मसूत्र १०.१९ व १०.४८; वसिष्ठ धर्मसूत्र १६.८; आपस्तम्बधर्मसूत्र २.११.२९.५; याज्ञ. २.८

अव : दूसरा शब्द है जिसका अर्थ है = सन्देह।

हार : तीसरा और अन्तिम है, इसका अर्थ है निवारक करने वाला।

सन्धि के धरातल पर — वि + अव + हार

व् + इ + अव + हार

व् + य् + अव + हार = व्यवहार

स्वर सन्धि को शाख यण् सन्धि (इकोयणचि) के अनुसार वि उपसर्ग को इ, अपने सम्मुख व स्वर के कारण, य् में बदली है। पुनः व् + य् + अव + हार शब्द को सन्धि करने पर व्यवहार शब्द का निर्माण हुआ है। अर्थ के नाते जो अनेक सन्देहों का निवारण करता हो, हटाता हो, दूर करता हो व्यवहार कहलाता है[1]। 'पद्धति' से प्रयोजन व्यवस्था या ढ़ंग या विधि या उपाय अथवा कार्यप्रणाली से है। इस प्रकार व्यवहारपद्धति का सीधासादा भाव न्यायव्यवस्था से है। यदि व्यवस्था शब्द के मूल में झांका जाये तो, स्पष्ट होता है कि वि + अवस्था के योग से इसका निर्माण हुआ है। वि अपने में उपसर्ग है जिसका अर्थ है अधिक, बहुत, बड़ा आदि। अवस्था, स्थिति या दशा का प्रतीक है। यणसन्धि के अनुसार वि उपसर्ग को इ अपने सम्मुख पड़ने वाले अ स्वर के कारण य् बदलती है।

वि + अवस्था = बड़ी या महान अवस्था।

व् + इ + अवस्था : व् + य् + अवस्था = व्यवस्था

ऐसी व्यवस्था जो अपने में सर्वोच्च रही है। स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था अपने में सब पद्धतियों में सर्वोच्च व महान थी; क्योंकि स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति। न्यायव्यस्था। अपने ढ़ंग से सत्य का अन्वेषण करती थी।

शास्त्र-विहित या सुनिश्चित नियमों के द्वारा अनृत में लगे पथभ्रष्ट जनों तथा लौकिक आचार-विचार-परम्परा-मर्यादा एवं शांत वातावरण को नष्ट करने वाले मानवों को दंडित करना न्यायव्यवस्था कहलाती थी[2]।

---

१ नानासन्देहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥ कात्यायन (व्यवहारमुयूख के पृष्ठ २८३ पर - नीलकंठ द्वारा लिखित), मुन. ८.१ ...नानासंशयहारीविचारः व्यवहारः। - पराशरमाधवीय ३, पृष्ठ ५-७; न्यायेनयत्रंक्रियतेव्यवहारः स उच्च्यते। हारीत (उद्धृतस्मृतिचंद्रिका, २, पृष्ठ १ पर)।

२ मनु. ७.१४४, शांतिपर्व ६८.१ से ४ तक; गोतम १०.७; ११.९ व १०; वृहस्पति : तत्प्रजापालनं प्रोक्तं त्रिविधंन्यायवेदिभिः। बलवत्परिभूतानाप्रत्यहंन्ययदर्शनै॥ राजनीतिप्रकाश के पृष्ठ २५४ व २५५ पर अंकित।

भय और मृदुता से पृथक् रहकर, प्रजारक्षणकरना, न्यायोचित दंड देना, न्याय पद्धति कहलाता था ।[1]

निर्धारित प्रक्रिया के द्वारा शपथ, साक्ष्य, प्रमाण आदि के आधार पर विवाद सुनना या दण्ड देना व्यवहार-पद्धति कहलाता था । न्याय करते हुए दुष्टों को दण्ड देना न्याय को वास्तविक प्रकृति रही थी । सम्पूर्ण स्मृति युग न्याय का पक्षधर रहा था[2] । संक्षेप में कहा जा सकता है कि निष्पक्ष न्याय करते हुए अपराधी को दण्डित करना न्याय कहलाता था । या ऐसो व्यवस्था जिसमें अपराधी दण्ड पा सके, श्रेष्ठ जन निर्भय रह सके न्यायव्यवस्था कहलाती थी ।

(ब) आवश्यकता

स्मृतिकारों की दृष्टि में मानव स्वभाव अस्थिर रहा था । मानव व्यक्तिगत या सामुहिक स्वार्थो के कारण कलुषित व पापात्मा बन जाता है । उसकी स्वाभाविक आत्मशुद्धि, पवित्रता, सत्यता, उत्सर्गता, प्रेम, व सम्यक् दृष्टि पतित हो जाती है । ऐसी दशा में बिना न्याय दण्ड के सुपथ पर लौटना असम्भव है[3] दण्ड को न्यायिक प्रक्रिया द्वारा ही प्रभवी बनाया जाता था । व्यवहार पद्धति के अभाव में मात्स्यन्याय को उत्पत्ति हो जाती है; स्वार्थ से घिरी होने के कारण मानव की सहज प्रकृति हिंसक पशुओं से भी भयंकर हो उठती है । वह बाढ़ के पानी की तरह अपनी अनियन्त्रित भावनाओं से मानव रूपी उपवन व आचरण युक्त जीवन को विनिष्ट कर देती है । उसका तांडवनृत्य महाप्रलय से भी भयंकर हो उठता है । व्यवहार पद्धति के अभाव में दुष्ट, हिंसक, पतित तथा आचरणहीन मानव, अनुकुल अवसर प्राप्त कर अपनी स्वाभाविक पतित प्रवत्ति के प्रदर्शन में कतई चूक नही करते ।

जब मानव सदाचरणों से हटकर रागादि के कारण पतनोन्मुख हुआ, तब समाज की स्थिरता के लिये न्याय की आवश्यकता अनुभव की गई । अविरल पतन के कारण धर्म का अभाव उत्पन्न होता गया, फलतः प्रजा-रक्षार्थ स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का प्रवर्तन हुआ[4]।

---

१ वसिष्ट १९.१ व २,७व८, विष्णुधर्मसूत्र ३.२, शांतिपर्व २३.१५

२ मनु. ९.३०६, याज्ञ. १.३३५, नारद-प्रकीर्णक ३३, विष्णुधर्मोत्तर ३.३२३.२५-२६; दुष्टदण्डः सतांपूजाधर्मेण च धनार्जनम् । राष्ट्ररक्षासमत्वं च व्यवहारेषुपंचकम्; अत्रिश्लोक २८; दुष्टस्यदण्डः सुजृस्यपूजान्यायेनकोशस्य च संपवृद्धि ।

३ मनु. ७.२२; शांति पर्व १५.३४; याज्ञ. १.३६१; बृह.उप.अध्याय - ६.ब्रा - २, अनु.१

४ नष्टेधर्म मनुष्याणां व्यवहारः प्रवतते । नारद १.१.२, धर्मप्रधानाःपुरुषः पूर्वमासन्नहिंसकाः । लोभद्वेषाभिभृतानां व्यवहारः प्रकीर्तितः ॥ बृह. उद्धृतस्मृतिचंद्रिका अध्याय - २, पृ. १ पर, - देवणभट्ट द्वारा लिखित "रक्षेतराजाबालानां धनान्यप्राप्तव्यवहाराणम् ...।" शंखलिखित उद्धृतविवादरत्नाकर, चण्डेश्वर' द्वारा लिखित के पृ. ५९९ पर। वृह.अ.उप.अ. १, ब्रा. १, पृ. ११४; अनुशा.अध्याय ७५.३१

मानव समुदाय की रक्षा के निमित्त, पाखण्ड के उन्मूलनार्थ व्यवहार पद्धति का सूत्रपात हुआ था।[१]। सम्पूर्ण मानवसमाज संगठित व अनुशासित होकर प्रगतिपथ की ओर निर्बाध बढ़ सके[२]। चींटी से लेकर कुंजर तक तथा सर्व जड़-चेतन व प्राणी जगत का सुख एवं उसकी स्मृद्धि न्याय के कलेवर में निहित रही है। पापों की निवृत्ति, धर्म, देश, जाति की उन्नति, धन और ऐश्वर्य का मूल न्याय में स्थिर है।[३] हिंसा, अवर्षण, अन्याय के उन्मूलनार्थ व्यवहार पद्धति का प्रबल पक्ष ऋग्वेद में दृष्टिगत होता है[४]। ऋग्वेद : मण्डल — ७, सूक्त — ३२, मन्त्र १७, (हे राजा आदि मनुष्यों। जैसे अवर्षण न हो, न्याय व्यवहार न नष्ट हो वैसा विधान व्यवस्था करो।) ऋग्वेद : ८.५.२३, ८.८.१३, ८.९.७, ८.१०.४ ८.१६.११, ८.१७.६, ८.१९.२७ व २८, ८.२०.१, ८.३५.१६, ८.३७.७, ८.४०६, ८.६७.५, १४-१७, ८.६९.२, ८.७०.११, ८.७८.६, ८.७९.९, ८.८०.९, ८.८०.८, १०.११३.७ व ८। जन समुदाय अन्यायकारियों के विरुद्ध न्यायकारी परमात्मा से प्रार्थना करते रहे हैं[५] कि वह उनकी निर्धनता, अपयश, व्यापारियों को चौरवृत्ति को दूर करने हेतु न्याय का समुचित प्रबन्ध करे।[६] दोषी व्यक्ति को कठोरतम दण्ड, सजा, अभियोग चलाकर उसकी सम्पत्ति का हरण कर उसे बांधकर कारागार में ड़ाल दिया जावे, जिससे जनसाधारण सुख पूर्वक रह सके।[७] सब प्रकार से जनसमुदाय की निर्भय रक्षा हो सके।[८]

समाज को हिंसकों से सुरक्षित रखने के लिए, हिंसकों व समाज शत्रुओं की जानकारी गुप्तचरों के द्वारा रखकर[९] समाज-विरोधी तत्वों को नष्ट कर[१०]

---

१ ऋग्वेद, मण्डल ७, सूक्त - ३.मंत्र १०; मंडल- ७.सू. ४.मंत्र - ७; सूक्त - १५; मन्त्र ५ व १०, १४; अर्थशासत्र अध्याय ३.अधिकरण - १; यथान्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम् ११.२१ मनु. अध्याय - ७. प्रजारक्षार्थ यथा शक्ति न्यायकिया जाता था।

२ ऋग्वेद मण्डल - ७, सूक्त - १८, मन्त्र २४; मण्डल - ७, सूक्त - १९, मन्त्र ४ व ६

३ ऋग्वेद : मण्डल - ७ - २०.१, २, ३, ५; २६.४; २७.४; २७.२; २८.१; ३०.२; ६६.७; ८३.१०; १००.२; ऋग्वेद / मण्डल - ८ - ६.१६, २५ ३०; ९.११; १८.१४; १९.३५; २२.१६, १८; २५.१६,१७; २६.२ , ३३.५, ६

४ ऋग्वेद मणडल - ७, सुक्त - ३२, मन्त्र - ९, ऋग्वेद - १.३१.११, आपस्त.ध. सूत्र - १; कण्डिक - ३; सूत्र २३ व २४

५ ऋग्वेद मण्डल - ९, सूक्त - ७८, मन्त्र - ५; ऋग्वेद - ९.११०.२३१, ऋग्वेद १०.१२६.२, ३, ८, अथर्व ११६.१ से २३ तक, अथर्व ४.२५.१

६ ऋग्वेद १०.३४.१ से १४ तक, ऋग्वेद १०.६०.६ व ७

७ ऋग्वेद १०.८७.३ से २० तक

८ ऋग्वेद १०.८७.७ व ११ व १२ व २१

९ ऋग्वेद १.४१.२, १.९७.६ वृहद.उ.अ.४; ब्राह. ५; पृ. ११५५ अर्थशास्त्रअधिकरण १, अध्याय - ७

१० ऋग. १.९७.७ व ८, १.१०२.४ व ७, १.१०३.२, १.१०५.६, २.६.४, २.७.२१, २.८.६, मनु.अ. ७; श्लोक ११०

न्यायव्यवस्था ही संरक्षण प्रदान करती थी।[१] न्याय के अभाव में प्रजापालन सम्भव नहीं है — यह भावना प्रबल रूप में प्रचरित होने लगी थी।[२] नृप न्यायव्यवस्था की स्थापना के निमित्त नृप-सेना तक का अवलम्ब लेते थे।[३] इस प्रकार न्याय-पालन अनिवार्य समझा जाता था जिससे महान सुखों की प्राप्ति हो सके। जन-पराभव (पतन), अपकीर्ति, तथा दोषपूर्ण कार्यो से मुक्त रह सकें।[४] अतएव कष्ट देने वाले व शोषकों को उनके सहायकों सहित खोज निकालने के लिए न्यायव्यवस्था को योजना स्थापित की गई थी।[५] यहां तक कि आवागमन तक के भागों को भी चोर, व शत्रु एवं लम्पट रहित रखा जाता था।[६] बढ़तो हिंसावृत्ति को अवरुद्ध कर, सामान्य जीवन सुखी बनाने के निमित्त न्यायव्यवस्था को आवश्यक समझा गया था।[७] सब प्रकार के पापों तथा विभिन्न प्रकार की दुर्गतियों से मुक्ति मिलकर मानव का व्यक्तिगत व सामुहिक जीवन निर्मल हो सके, इसलिए स्मृतिकारों में व्यवहार-पद्धति को स्थापना के भाव जगे और विकसित हुए थे।[८] राष्ट्र के सर्वांगीण विकास हेतु सद्पुरषों की रक्षा के संरक्षण व पालनार्थ शत्रुओं, दुष्टों व प्रतिपाक्षियों के दमनको अभीष्ट मानकर न्याय-पद्धति का विकास हुआ था जिससे राज्य अखण्ड और नियन्त्रित रहता था।[९] अवर्षण न हो, न्यायव्यवहार भी बना रहे इस हेतु

---

१ ऋग्वेद ३.३४.९, यजुर्वेद अध्याय - १५, मन्त्र ६२

२ यजुर्वेद अध्याय - १, मन्त्र - २०८, अध्याय - ४२, मन्त्र - २, अध्याय - ३, मन्त्र - ३१

३ यजुर्वेद अध्याय - ७, मन्त्र - ३९, अध्याय - ८, मन्त्र - ३४

४ यजुर्वेद अध्याय - १३, मन्त्र - १६, यजु.अ. २९, मन्त्र - २४ :- मानो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद्वृजिनाद्वेष्या या। अथर्ववेद काण्ड - १, सूक्त - २०, मन्त्र - १, (पराभव हमारे पास न आवें, अपकीर्ति हमें प्राप्त न हो, जो द्वेष करने वाले कुटिल कृत्य हैं - वे भी हमारे पास न पावें)

५ दर्शय`मा यातुधानान्दर्शययातुधान्यः। पिशाचान्त्सवन्दिश्यिति त्वारभ ओषधे॥ - अथर्ववेद काण्ड - ४, सूक्त - २०, मन्त्र - ६, (कौन कष्ट देने वाले हैं ? उनके सहायक कौन हैं ? दूसरों का रक्त चूसने वाले कौन हैं ? यह सब ज्ञात हो जावे।) - अथर्ववेद ६.८८.३१

६ अथर्ववेद काण्ड - १२, सूक्त - १, मन्त्र - ४७

७ अथर्व. १२.१.३४; बृ.उप.अ.४; ब्राह. ५, पृ. ११५५, आप.ध.सू.प्र. १ कं. ३, सूत्र - २३ व २४

८ अथर्व.का. - १, सू. ३१; मं. २, बृह.उप.अ. - ५, ब्राह. २; अनु. ३१, महाभा. सभापर्व, अ. - ५, श्लोक - २३, ससंगमोपाजनेनसेण्यो (दुब्वभियमक्कटजातक) - पापो से दूर रखना चाहिए।

९ अथर्व. का. - २, सू. - २९, मन्त्र - ४ से ६ तक; अथर्व.का. - ३; सू. - २९, मन्त्र - २ से ६ तक; अथर्वऋ २.१४.४, बृह.उप.अ. - ३; ब्राहाण - ८.

न्यायव्यवस्था का उदय हुआ था।[१] सम्पूर्ण दुर्गतियों को नष्ट कर राष्ट्र को पाप-रहित बनाने की शक्ति व्यवहार-पद्धति में ही निहित थी।[२] 'यदि मैं किसी को यातना या ताप दूं, तो मै आज ही मर जाऊं — जैसी पवित्र भावना ने व्यवहार-पद्धति को जन्म दिया था।[३] दुष्टजन अपनी दुष्टता के कारण विलाप करने लगें ऐसो न्यायिक व्यवस्था का प्रबन्ध अपेक्षित समझा जाता था। शत्रु प्रकोप एवं पाप-वृद्धिको न्यायव्यवस्था के द्वारा अवरुद्ध किया जाता था।[४]

पवित्र जीवन मानव को लौकिक तथा पारलौकिक सुख - प्रदान कराने का साधन है। इसके द्वारा मोक्ष और दिव्य आनन्द तक प्राप्त हो सकता है। फलतः बुद्धिजन आत्मदण्ड के रूप में विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाएं किया करते थे; क्योंकि आत्मशुद्धि विचारों को पवित्र रखने का एकमात्र साधन मानी जाती थी। पापों से दूर रहकर अपार लाभ की प्राप्ति तथा पाप और अपराध में लिप्त रहने पर विभिन्न प्रकार के दारुण कष्टों का मिलना अनिवार्य है। आकाश और पृथ्वी को क्रमशः पिता और माता के रूप में स्वीकार कर विभिन्न प्रकार को प्रार्थनायें की जातीं थी।[५] सम्पूर्ण राष्ट्र दुष्टों से निवृत होकर श्रेष्ठजनगृह बन सके इसलिए दुष्टों को प्रतिबन्धित कर सुखमय वातावरण को साकार बनाने के लिए व्यवहार-पद्धतियुक्त सुव्यवस्था को गई थी। अज्ञान, अनाचार, अत्याचार एवं रागादि का शमन न्याय द्वारा ही सम्भव हो सका था। दूसरी ओर ज्ञानी, पापरहित, निर्दोष व्यक्तित्व का सम्मान भी इसी व्यवस्था से हो सकता था।[६]

---

१ ऋग्वेद मण्डल - ७, सू. - ३४, मन्त्र - ७

२ अथर्व.का. - ६, सू. - २, शा.पर्व अ. - ८५, श्लोक - १६, विंधुर जातक - ५४५, (जातक कथाओं से)

३ यदि यातुधानोऽस्मि, यदि वा पुरुषस्यआयुः ततप अधामुरीय॥ अथ.का. - ८, सू - ४ मन्त्र - १५, (यदि मै किसी को यातना दूं, अथवा किसी को ताप दूं तो मै आज ही मर जाऊं)।

४ अथर्व- ३.३७.१ से ६ तक, अथर्व. १.७.३, शा.पर्व अ‍ - ९१; श्लोकि - ३८ : १.६; अध्याय - ८; मार्कण्डेयपुराण

५ अथर्व. ७.११५.१ से ४ तक, अथर्व. ६.११५.१ से ३ तक, अथर्व.का. - ४; सूक्त - ३३, अथर्व. ६.२६.१ से ११ तक; ७.६४.१ व २; ७.४२.१ व २; ४.२७.१ से ७ तक; ४.२८.१ से ७ तक; ४.२९.१ से ७ तक; बृह.अ.उप.अ. - २, ब्राह. - १, अनु. - १८, वायु पुराण-खण्ड-२, अ. - ६३ शिवपरवर्णन; मनु. ४९ से ५४, अ. - ११; विष्णुपुरण अध्याय-१७, प्रथमांश श्लोक - ८१

६ अथर्व. १.१.४; बृह.उप.क.अ. - २, ब्राह. - १; राष्ट्रं तवानुंशासन्ति मंत्रिणोभरतर्वभ, - अध्याय - ५, श्लोक - ४५, सभापर्व; महाभारत।

सम्पूर्ण विश्व अपने स्थान में स्थिर है । सूर्य व चन्द्रादि नक्षत्रों में कोई भी नक्षत्र अपनी मर्यादा (सत्य) का अतिक्रमण नहीं करता है । मर्यादा में रहने के कारण वे देवतुल्य उपासित होते हैं । मर्यादा में ही रहने के कारण सम्पूर्ण भूमण्डल स्थिर है । अतएव सब मनुष्य अपने धर्म की मर्यादा में स्थिर रहें, सतर्कता के साथ प्रजा शान्तिपूर्वक सुख की निद्रा का लाभ प्राप्त कर सकें, समाज नष्टभ्रष्ट कर्ता आगे न बढ़ सकें, क्रोधी प्रवृत्ति, उच्छृंखल एवं असंयमित मनोवृत्ति का विकास अवरुद्ध करने के निमित्त वासना जैसी विनाशकारी व दाही प्रवृत्ति को नियन्त्रित करने हेतु राजा व्यवहार पद्धति को सुदृढ़ व्यवस्था स्थापित कर राष्ट्रकल्याण की कामना करता था । समूचे राज्य को समान न्यायव्यवस्था से प्रभावित बनाया जाता था ।[1]

अल्पता-संकुचन, सामाजिक व्याधियों, अकीर्ति आदि को नष्ट करने के लिए न्याय का अवलम्ब लिया था । पाप व अपराध करने से मानव का पतन व मानहानि होती थी । इसी लिए पाप को न्याय-पद्धति से अवरुद्ध किया जाता था । तथा उपद्रवों का दमन भी न्याय के द्वारा ही हो सका था ।[3] धर्म का जीवन में प्रमुख स्थान था । उसे ही सब फलों का श्रोता माना गया था । ऐसा विश्वास किया जाता था कि उत्तम आचरण वाले व्यक्ति उत्तम योनि (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), तथा हीन व पतित कार्य करने वाले पतित योनियां (कुत्ते, सूकर चाण्डालादि) ग्रहण करते हैं, अतएव सभी उत्तम कर्म करने के लिए बाध्य होवें, किसी का पतन न होवे, सम्पूर्ण सुखों की प्राप्ति हो सके इस हेतु न्याय व्यवस्था की आवश्यकता प्रतीत हुई थी ।[4]

छन्दोग्य उपनिषद् के अध्याय — ५, खण्ड — ११ में नृप अश्वपति का ऋषि उद्दालक के सम्मुख यह कथन कि — मेरे राज्य में कोई चोर नहीं है तथा न अदाता, न मद्यप, न अविद्वान, न परस्त्रीगामी ही है, फिर कुलटा स्त्री (चरित्रहीन व चुगलखोर) तो आई ही कहां से ? हे पूज्यगण ! मैं स्वयं भी यज्ञ करने वाला हूँ । ... आदि से स्पष्ट है कि राज्य को सदाचार के द्वारा पूर्णतः पवित्र रखा जाता था तथा

---

१ अथर्व. ६.७७.१ से ३ तक; अथर्व. ४.५.७; अथर्व. २.७.४; अथर्व. ११.५.१७ अथर्व १२.३.३.१; अथर्व ७.९५.१; अनुशासनपर्व, अध्याय - ७५, श्लो- ३०

२ अथर्व.७.११४.२, छान्दोग्योपनिषद, अध्याय - १, खण्ड - ८, मन्त्र - ६; शा.पर्व, अध्याय - ९०, श्लोक - ८ से १३ तक; सोनकजातक ५२९य, जातककथाओं से ।

३ ऋग्. मण्डल - ८, सूक्त - ६७, मन्त्र - ५

४ छान्दयोग्य उपनिषद - अध्याय - ३; खण्ड - १७; मन्त्र - ४; ५.१०.७; ७.१६.; शा.पर्व अ. - ९०; श्लोक - २१; बृह.उप.अ. - १; ब्रा. १; १.४ अनु. १४; धर्म एव हतोहन्ति धर्मोरक्षति रक्षितः ॥ अध्याय - ३१३, श्लोक १२८; वनपर्व महाभारत; (यदि धर्म का नाश किया जाये, तो वह नष्ट हुआ धर्म हो कर्ता को भी नष्ट कर देता है, और यदि उसकी रक्षा की जाये, तो वह कर्ता को भी रक्षा करता है ।)

पृथक् से नीति शास्त्र की संज्ञा देकर व्यवहार पद्धति को अंकुरित व पल्लिवित किया गया था ।[१]

स्वर्ग और मोक्ष के हेतु कर्म (श्रेष्ठकर्म) धर्म कहलाते थे । जिस कार्य को श्रेष्ठजन उत्तम कहे वह धर्म है, तथा जिसकी निन्दा करें वह अधर्म है ।[२] अधर्म ही पाप व अपराध कहलाता था । पाप के कारण ही लोक-परलोक का पुण्य नष्ट हो जाता है । पापों की निवृति के लिए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चितों का विशद् विवरण शास्त्रों व स्मृतियों में उपलब्ध है । यह प्रायश्चित व्यवहार पद्धति की मूल व आधार है । प्राश्चित के उपायों को ही आधार मानकर न्याय पद्धति का विकास हुआ था । अपराध व पापों की गुरुता के अनुरूप प्रायश्चितों की योजना नियत की गई । प्रायश्चितों को आधार मानकर न्यायव्यवस्था का गठन हुआ है[३]

क्योंकि गौ.धर्मसूत्र ३.१.४ में प्रायश्चितों का पूर्ण निषेध हुआ है । उनका विश्वास अपराधों के मूलनार्थ न्यायव्यवस्था में था ।

व्यवहार पद्धति के अंकुर सामाजिक अवश्यकता व धार्मिक दृष्टिकोण की देन हैं । ऐसा विश्वास किया जाता रहा है कि व्यवहार पद्धति के नियमो व व्यवस्था का सूत्रपात ब्रह्मा से ही स्मृतिकारों तक पहुंच सका । स्मृतिकारों ने जिनका युग भिन्न-भिन्न रहा है इसी ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा जनों को न्यायिक आलोक प्रदान कर, अन्याय के तम से मुक्त किया था ।[४] अन्यथा न्याय के अभाव में प्रजा राज्य को छोड़ कर अन्यत्र प्रस्थान कर जाती थी, समाज की दशा उस टूटी नाव के सदृश समझी जाती थी जो प्रवाह पूर्ण अगाध समुद्र में कहीं से कहीं बहकर चली जाती है ।[५] इस प्रकार पाप और अपराध का परिणाम सर्वविनाश था ।[६] इस दुष्परिणाम

१ छान्दो.अ. - ७; खण्ड - १; मन्त्र - २

२ आप.ध.सू. - प्र. १; कं. - १ सू. - १; १.२०.७; शा.पर्वअ. - ९१; श्लो - ३९

३ आप.ध.सू.प्र- २; कं. - २, गौ.ध.सू.प्र. ३, अ. - १, सू. - २; पापंकुर्वन्पापवृत्तः पापस्यान्तं न गच्छति ॥ अ. २०९; श्लो. १; व.पर्व, महाभारत - (पाप करने वाले मनुष्य को पाप को आदत हो जाती है, फिर उसके पाप का अन्त नहीं होता)। नहि पापात् परतरमस्तिकिंचिद राजकाल ७; अ. - ६६; शा.पर्व (पापपूर्ण अराजकता से बढ़ कर दूसरा पाप नहीं है ।)

४ न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् । यं तु रक्षितुमिच्छन्ति वुद्धया सविभजन्तितम् ॥ अ. - ३५; श्लो. ४०; उ.प महाभारत । (देवता लोग चरवाहों की तरह से डंडा लेकर किसी का पहरा नहीं देते । वे जिसकी रक्षा चाहते है, उसे उत्तमबुद्धि से युक्त कर देते है)

५ शा.पर्व अध्या. - ८५; श्लोक - १४

६ नाधर्मश्चरितोराजन् सद्यः फलतिगोरिव । मुलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति ॥ १७; अ.- ९५; शा.प.म. (राजन् जैसे पृथ्वी में बोये हुए बीज का फल तत्काल नहीं मिलता है, उसी प्रकार किये गये पाप का फल भी तुरन्त नहीं मिलता, परंतु जब वह फल प्राप्त होता है, तब मूल और शाखा दोनों को जला कर भस्म कर देता है) : अनु.पर्व - अ. - ११४; श्लोक - १२

पर न्यायव्यवस्था ही अंकुश रख सकती थी । सम्पूर्ण जन समुदाय पापों व दुष्कर्मों से पृथक् होकर लोक हितकारी व सद्-परम्परित नियमों का पालन करें, कोई भी कदाचारी, अनाचारी, भ्रष्ट, अमर्यादित तथा पतित ने होवे; लुटेरों, धूर्तों एवं एन्द्रजालिकों से रक्षा हेतु तथा प्रजापीडन उन्मूलनार्थ व्यवहार पद्धति की अनुभूति प्रतीत हुई । राजा न्यायपूर्वक प्रजापालन के लिए बाध्य था । प्रत्येक प्रकार के विवादों का निर्णय व्यवहार पद्धति के आधार पर स्वीकार किया[१] गया ।

उद्देश्य

सार्वजनिक हित एवं मंगल की कामना स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति का मुख्य लक्ष्य था । दीर्घ समय तक पक्षपात रहित न्यायपूर्वक प्रजा का पालन हो सके, दोषों से मुक्त रखकर सुखी एवं प्रसन्न रह सकें — यह मूल ध्येय था । सत्य एवं समभाव पुत्र तुल्य प्रजा पालन करना, धन का वर्द्धन करना, राज्य को स्थिर रखना व्यवहार पद्धति का प्रमुख लक्ष्य था । ज्ञान, आनन्द, ऐश्वर्यवर्द्धन की प्राप्ति भी व्यवहार पद्धति से सम्भव थी । व्यापारियों की चौरवृत्ति को नियन्त्रित करना, यथाशक्ति शत्रुनाश व शत्रुओं को ढूंढ़ निकालना उसके लिए गुप्तचर जैसी व्यवस्था की योजना करना भी न्यायव्यवस्था का दायित्व था ।[२] मानवजन परस्पर धर्मयुक्त व्यवहार करें, सम्पूर्ण पापों व अपराधों का मूलरूप में निवारण होकर, प्रत्येक प्रकार के व्यवहारों की सिद्धि हो सके, भली प्रकार से प्रजापालन निर्बाध रूप में हो सके, राज्य उपद्रव रहित बन सके — यह न्यायपरिधि का विषय था ।[३] यजुर्वेद अध्याय — ११, मन्त्र — १५ में युक्ति शब्द का प्रयोग हुआ है । इस युक्ति से प्रयोजन सुलझी हुई प्रगतिशील व्यवहार पद्धति से है ।

हर प्रकार राज्य की अच्छाई व भलाई स्थिर रहे, मनुष्य दुर्व्यसनों से सदैव दूर रहें, दुष्टों को इतना दण्ड दिया जाये कि वे रुदन कर उठें ।[४] कपट, भय शोषण व प्रपीड़न का मूलोच्छेद हो सके[५], पापों से निवृत्त कर प्रशस्त कार्यों को और

---

१ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः ३२; अ. ७; मनु. : न्यायेनपरिपालयन् ३३५ आचार अध्याय, याज्ञ.; याज्ञ.श्लोक - ३३६, ३४१, ३४२ आचाराध्यायः कात्यायन मत संग्रहः; श्लोक - १३

२ ऋग्वेद ८; मण्डल - ७; सूक्त - १, ऋग्. ५; मण्डल - ७; सूक्त - २; ऋग्वेद - २५; मण्डल - ७; सूक्त -१; ऋग्वेद; मण्डल - ७; सूक्त - ६; मन्त्र - ७; ऋग्. ७.१५.७, ७.१५.५, १० व १४; ७.१८.१४; ऋग्वेद १०.६०.६; ऋग्. १.२३.३; ऋग्वेद १.३३.१२; ऋग्वेद १.३६.१६; यजुर्वेद अध्याय - ३०; मन्त्र - १२; याज्ञ. २.१; विष्णुधर्मसूत्र - ३.७२; मनु. ६.१; अर्थ. १.१९

३ यजुर्वेद अध्याय - २; मन्त्र ११; ४.२७; ८.४५; ९.१; ११.१५; सामवेद - ८५५; मनु. ८.१२; नारद - ३८९; याज्ञ. १.३५९

४ यजुर्वेद अध्याय - १२; मन्त्र ३३; २९.५६; याज्ञ. १.३६१; मार्कण्डेय पुराण २७.३०

५ यजुर्वेद अध्याय ३३.५१; शान्तिपर्व ८५.२

जन्मानस को प्रेरित करना एवं बाध्य करना व्यवहार पद्धति का दायित्व था।[१] समाज व देश को सुसंस्कृतज्ञ बनाना व्यवहार पद्धति का अंग माना जाता था।[२]

घातक पुरुष तथा उनके सहायकों का निरीक्षण उनकी सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि पर दृष्टि रखना, अपराधियों, पापियों तथा दुष्टों को ढूंढ़कर पकड़ना, गुप्तचरों के द्वारा उनके कार्यकलापों व स्थानों को जानना, विभिन्न प्रकार के क्रूर दण्डों से उन्हें दण्डित करना, श्रेष्ठ पुरुषों की रक्षा के निमित्त दुर्जनों का विनाश करना, दुर्जन व श्रेष्ठजन का इस दृष्टि से निश्चय करना कि कहीं दुष्ट दण्ड से बचकर निकल न जाये, तथा श्रेष्ठ व आचरणशील पुरुष दण्डित न हो जाये, अपराधियों के भ्रमण परप्रतिबन्ध लगाना, उन्हें कारागार में डालकर शक्तिहीन करना, उनके चतुर्दिक् वातावरण को प्रतिबन्धित करना जिससे अनर्थ व पाप का विकास रूक सके। अपराधी स्त्री या पुरुष दोनों को ही समाज विरोधी तत्व मानकर न्याय की तुला कर दण्डित करना, भूलकर भी उन्हें क्षमादान न देना, दुष्टता छोड़कर, सुपथ का अनुकरण करने को बाध्य कर देना व्यवहार पद्धति का प्रमुख उद्देश था।[३] दुष्ट कहां रह कर क्या करते हैं? दुष्ट मनुष्यों की सूची रखना, उनके संचारमार्गो को बन्द कर देना, शान्ति व सुखों को स्थापना के निमित्त आवश्यक समक्षा जाता था।[४] भारतीय सत्य के प्रति आस्थावान थे। उनका जीवन पापरहित होता था। मानव पाप एवम् अपराध से अकीर्ति पाता है तथा उसका मनसा-वाचा-कर्मणा पतन हो जाता है। शारीरिक और भौतिक सभी प्रकार के सुखों का विनाश अवश्यम् भावी रहता था। इसी कारण पाप-अपराध को नष्ट करने हेतु अपराधी को ग्राम व राष्ट्र तक से निर्वासित कर दिया जाता था। शत्रु-विनाशकरना न्यायसंगत था तथा ईश्वरीय आदेश माना जाता था। अपराधी को इतनी सीमा तक निर्बल कर दिया जाता था कि भविष्य में उपद्रव न कर सके।[५]

असयंमित व्यक्तियों को विधि के अनुसार संयत किया जाता था। प्रताड़ना के द्वारा सुधार-स्थापना न्यायव्यवस्था का मुख्य लक्ष्य था। अपराधी को भूलकर भी उपेक्षा नहीं की जाती थी। राष्ट्र को विकृति व पाप से बचाने के लिए न्याय संतुलन स्थापित करना व्यवहार-पद्धति से सम्बन्धित था।[६] सुनियमों का पालन व्यवहार पद्धति के द्वारा कराया जाता था। इसी के फलस्वरूप स्मृतिकालीन समाज सुख चैन की स्वासं ले सका था। सर्वजन परस्पर सम्भाव से मिलकर रहें,

---

१ अथर्ववद काण्ड - ५; सूक्त - ६; मन्त्र ८; मार्कण्डेय पुराण २७.२९

२ अथर्ववेद काण्ड - १३; सूक्त - १; मन्त्र - ३५

३ मनु. ८.१२८, वसिष्ठ - १९.४०; अथर्व. ८.४.१८ रक्षसः प्राक्तो अयाक्तो अधरात् उदक्तः जहि १ - अथर्व. ८.४.१९; (इन दुष्टों को सामने से, पीछे से, नीचे से, ऊपर से अर्थात् सब ओर से प्रतिबन्ध में रख कर नष्ट करो।)

४ दुष्कृते सुगं मा भूत।- अथर्व. ८.४.७ : (दुष्ट कर्मकर्ता इधर-उधर सुख से न घूमें)।

५ पार्थिवात् दिव्यात् च अहंस नः पातु। - अथर्व. ८.४.२३ : (भूमिसम्बन्ध तथा स्वर्गपर्यन्त में जो पाप हों उससे हमें बचाओ)। अथर्व. ६.७५.३; ५.८.४

६ अथर्व. ७.१०८.१, २; ७.९०.३, ४; वसिष्ठ १६.२; याज्ञ. १.३२७

हीनता का त्याग करें, श्रेष्ठ कर्त्तव्यों की ओर अग्रसर होवें, सद्कर्तव्यों के पालन में रत रहें, शुभ व श्रेष्ठ संस्कार ग्रहण करें। सबके लिए न्याय समान होवे, जिससे परस्पर विरोध जन्म न ले सके, सामाजिक सन्धिक जीवन अबाध गति से विकसित होता चले, मन-कर्म-संकल्प सम्यक् रीति से एकता में योगिक बनें, यह स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था का उद्देश्य था।[१]

सर्वहिताय की भावना को उद्भाषित कर विकसित करना स्मृति कारों का मौलिक सिद्धान्त रहा था।[२] सभी प्राणी अपने धर्म से विचलित न हो सकें, स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का यही मुख्य प्रयोजन व उद्देश्य था।[३] शास्त्रविहित नियमों के अनुसार प्रजारक्षण तथा पथभ्रष्ट लोगों को सन्मार्ग दिखाना, धर्म से च्युत जनों को दण्डित कर सन्मार्ग पर लाना, मात्स्यन्याय का उन्मूलन करना स्मृतिकालीन व्यवहारपद्धति का मुख्य प्रयोजन था।[४] स्मृतिकारों की आकांक्षा यह रही थी कि शान्ति व सुख के वातावरण से जन निर्भय जीवन यापन कर सकें। अपने नियमों का पालन करते हुए अपनी सम्पत्ति का लाभ उठा सकें। जनकल्याणार्थ नियमों का निर्माण करना, निश्पक्ष न्याय कर विवादों को निपटाना, लौकिक व पारलौकिक सुखों को प्राप्त कराना, उपकार एवं आनन्द की कामना करना व्यवहार पद्धति का ही उद्देश्य था।[५]। जिस से अपराध व अपराधि प्रवृत्ति का उन्मूलन हो सके।

(स) उत्पत्ति के कारण

अपराध

सद् परम्परित नियमों का उल्लंघन करना अपराध था। राष्ट्र का शोषण, प्रपीडन, द्रोह करना, प्रजा एवं राष्ट्र का अनिष्ट करना, अपराध माना जाता था। झूठ, अहित, कटुता, कपटपूर्ण व्यवहार करना प्रचलित व मान्य तथा न्यायसंगत आचरणशीलता के विपरीत व्यवहार करना अपराध कहलाता था।[६]

---

१ अथर्व. ११.५.१७; ६.६४.१ से ३; "वः मनांसि सं, वः व्रतानि सं वः आकूतीः सम्।" - अथर्व. ३.८.५ (तुम्हारे मन तुम्हारे कर्म, और तुम्हारे संकल्प सम्यक् रीति से एकता को बढ़ाने वाले हों।)

२ शा.पर्व.अ. - २८७.२०

३ तस्मात्स्व धर्म भूतानां राजा न व्यभिचारयेत ११.१; अर्थशास्त्र, अधि. - १, अध्याय - ३, (राजा का कर्तव्य है कि सभी प्राणियों को अपने अपने धर्म से विचलित न होने देवें)।

४ गौतम १०.७ वव८; ११.९-१०; याज्ञ. १.३६१; अर्थशा. ३.१; अर्थशा. १.१९; मनु. ८.१ व ३

५ ऋग्. मण्डल - ८, सूक्त - ८१, मन्त्र - ९

६ अथर्व. २.१.१४; १२.१.१६; ८.४.२४; बोधा.धर्मसूत्र १.२.५

नैतिकता का अतिक्रमण पाप तथा मानवीकृत व्यवस्था का उल्लंघ्न अपराध बनता था। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि आचार-विचारों का पतन पाप एवं व्यावस्थिक व्यवहारों की अवहेलना को अपराध समक्षा गया था। जिन कार्यो का सम्बन्ध समाज तथा देव-व्यक्तियों से होता था उनके प्रति बरती गई अवज्ञा पाप और अपराध दोनों ही मानी जाती थी। सामाजिक क्षति उत्पन्न करने वाले कारणों को अपराध की कोटि में रखा जाता था। सामाजिक एवं शास्त्रीय तथा न्यायिक और प्रसासकीय नियमों को उपेक्षा तथा उल्लंघन ही अपराध कहलाता था।[1]

वैदिक काल से सूत्रकाल तक पाप और अपराध को अलग-अलग न रख कर एक ही रूप में देखा गया है। अनेक वैदिक ऋचाओं व गृह्य-सूत्रों तथा धर्मसूत्रों में पाप को हेय दृष्टि से देखा गया है। वहां पर पाप व अपराध के सम्मिश्रण का कारण यह रहा है कि वैदिक और सूत्र काल में व्यवहार विधि और अपराध विधि विभाजित नहीं हुई थी। वेदों में ऋत की उपेक्षा या उल्लंघन पाप रहा है। आगे चलकर ऋत् की उपेक्षा अपराध में परिणत हो गई।

स्मृतिकाल के आते-आते नैतिक विधि व अपराध विधिको पृथक् कर दिया गया। मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, कात्यायन सूत्र तथा मनुस्मृति के बाद की रचना अर्थशास्त्र आदि इसके प्रमुख प्रतीक हैं।

अपराध विधि को लेकर मनुस्मृति का सीधा प्रभाव बाद की स्मृतियों पर विद्यमान है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में तो अपराधविधि का वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथ्यपरक विश्लेषण हुआ है। उसकी समतासंभवतः वर्तमान युग का 'इण्डियन पेनल कोड' भी नहीं कर सकता है। स्मृति काल में वेद-विरुद्ध कार्यो को अपराध स्वीकार कर लिया गया था। ऋत और सदाचार के विपरीत सम्पूर्ण कार्यो को अपराध की कोटि में रख दिया गया था। अपराध का विस्तार इस सीमा तक हुआ कि अवैदिक समाजों के साथ स्थापित सम्बन्धों को भी अपराध माना गया।[2] सभी स्मृतियों में इसकी सम्पुष्टि होती है।

उद्भव

मानव की दुष्प्रवृत्ति अपराध की मूल है अर्थात् अपराध का जन्म दुष्टप्रवृत्ति के फलस्वरूप और उसका विकास दुष्टप्रवृत्त परिस्थिजतयों के सहायक होने पर हुआ था। काम-क्रोध-लोभ के फलस्वरूप अपराधपूर्ण प्रवृत्ति का उद्भव व विकास हुआ था।[3] सुरा-क्रोध-धृत या अचिति या "इग्नोरेंस" अपराध को जन्म देते थे[4]।

---

१ वाल्मी.रामा. : युद्धकांड : सर्ग - १२, श्लोक - ३१

२ बोधा.ध.सू. २.१.२.२३; याज्ञ. २२७; प्रायश्चिताध्यायः

३ अग्निपुराण अ.- २३१; शा.पर्व १५८.१ से ३५; वनपर्व २९.१ से १९; मित्तविन्दजातक १०४

४ ऋग्वेद ७८६.६; कुम्भजातक ५१२; विधुरजातक

अपराध-वातावरण सापेक्ष है। प्रथम अपराध दूसरे अपराध का जनक होता है। अपराध वंशानुगतक्रम से भी विकासोम्मुख होता रहा है।[१]

स्तेय, हिंसा, ईर्ष्या, क्रोध, वासना, चोरी, द्रोह आदि विभिन्न अपराध की मूलप्रवृत्तियां है। इन प्रवृत्तियों का सम्पादन अथवा प्रायोगिक कृत्य अपराध के रूप में परिणत होता है। इन मूल प्रवृत्तियों से युक्त होकर जब मानव दूसरे के साथ दुर्व्यवहार या अकृत्य करता है, तो इस प्रकार का दुर्व्यवहार या आकृत्य अपराध बनता था। कृत्य की लघुता या गुरुता ही अपराध की लघुता व गुरुता होती थी। क्योंकि दोषपूर्णकृत्य से सामाजिक, धार्मिक या राजनैतिक अथवा आर्थिक क्षति होनी अपेक्षित थी। इसी क्षति के निवारणार्थ विपरीत या अनुरूप सूंघना, देखना, श्रवण करना, संकल्प करना, अपराध माना गया था। इतना ही नहीं इन्द्रिय जनित विषयों के संसर्ग से होने वाली आसक्ति को भी अपराध[२] ही माना जाता था। अपराधिक प्रवृत्ति के कर्ता को अपराधी की संज्ञा से अभिहित किया जाता था। असाध्य व निर्दिष्ट कर्मो से रुचि लेने को भी अपराधी गिना जाता था।[३] क्योंकि अनिष्ट और पापकारक तत्वों की ओर अग्रसर होने की भावना एवं प्रेरणा अपराध को जन्म देती है।[४] अनायास किया गया अपमान एवं दूसरों के प्रति प्रदर्शित की गई अनादर काभावना मृत्यु से भी बढ़कर निन्दनीय समझी जाती थी। उक्त दुर्भावनाओं से प्रभावित स्थिति अपराध जैसी जघन्य दशा की जन्मदात्री बन जाती थी।[५] सत्य, सरलता, क्रोध का अभाव, इन्द्रिय संयम, मननिग्रह, पवित्रता, अहिंसा जैसे पवित्र गुणों की उपेक्षा अपराध और पाप की जन्मस्थली मानी जाती थी।[६] अपराध शब्द कायिक, वाचिक, मानसिक और सामाजिक तथा राष्ट्रीयादि सभी प्रकार के अपराध व पापों की ओर इंगित करता रहा था।[७]

---

१ ऋग्वेद ७८६.५

२ बृहउप.अ. - १; ब्रा ह. - ३ : कथन ३ से ९ तक, पृ. - १२४ छान्दो.अ. - २.१३.१

३ अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वे। कार्याणाम् क्रियाणं च स पार्थ पुरुषाधमः ११.१८.६९; कर्णपर्व - महा. (पार्थ ! जो करने योग्य होने पर भी असाध्य हो, तथा जो साध्य होने पर निषिद्धहो ऐसे कर्मो में जो सम्बन्ध जोड़ता है, वह पुरुषों में अधम माना गया है)

४ बृह.उप.अध्याय - १, ब्राह. - ४

५ अवज्ञानं हि लोकेऽस्मिन् मरणदपिगर्हितम् ११.१२.२८; शा.पर्व महा. (अपमान मृत्यु से भी बढ़कर निन्दनीय है) "सौ वमानादर्थ हानि मुपालम्भनिदरम्। संतापदेपमोहांश्च शत्रूश्च लभते नरः॥" सो वामानादर्थ हानि महा., उद्योगपर्व अ. ३३; श्लोक - १०८

६ वनपर्व महा. २५९.१७ व १८

७ अथर्व. ३.३१.१ से ११

आपराधिक प्रवृत्ति से युक्त जन अपराधी कहलाता था। उसमें घात, निन्दा वद्वेष, साहस, रक्त पीना व कच्चा मांस खाना, चोरी करना, धन लूटना, डाका ड़ालना, हीन आचारों में व्यस्त रहना[१] जैसी हीन प्रवृत्तियां समाविष्ट रहती थीं। सदैव (नास्तिक), अभिमनयते : घमण्डी : दुःशंस (अहितकरना), आदिदेशति (अधिकार जमाने वाला), अभिदासति (दूसरों को दास बनाने बाला = नष्ट करने वाला = लूटनेवाला आदि) इत्यादि इस प्रकार के शब्दों से अपराध प्रवृत्ति का बोध होता है।[२] और भी कुछ ऐसे शब्द[३] आपराधिक प्रवृत्ति के प्रतीक हैं। ऐसे आपराधिक लक्षणों[४] से युक्त व्यक्ति को अपराधी की कोटि में रखा जाता था। वे व्यक्ति जो सेंध लगाते, स्वयं का दाह करते या स्वमन को दूषित करते, अपनी आत्मा व शरीर को दूषित करते तो उनको भी अपराधी माना जाता था। अनात्मवादी, नास्तिक को भी अपराधीमान कर उसे हेय दृष्टि से देखा जाता था। अपने माता-पिता, भ्राता, भगिनी आचार्य अथवा ब्राह्मण को अनुचित कहने वाला, माता-पिता, भ्रातवधिक को अपराधी की संज्ञा दी जाती थी।[५] अश्लील भाषा का प्रयोगकर्ता, ब्रह्मचारी, विद्वान, व्रतचारी का उपहास व अपमान करने वाला भी अपराधी ही होता था। प्रमादवश अथवा अनजाने में भी अपराध करने वाला अपराधी ही माना जाता था।[६] समाज के संगठन में पारिवारिक ढांचे को सुस्थिर बनाये रखने हेतु पिता की आज्ञा[७] का प्रतिकार या अवहेलना करने वाले को सामाजिक अपराधी कहा जाता था।

गौतम धर्मसूत्र में श्रेष्ठ कर्मो से पतित होने वाले या द्विज जाति कर्म अधिकार व सम्मान से वंचित होने वाले को अपराधी (पतित) माना गया है।[८] पुरुषों की भांति नारियां भी पतित व अपराधिन होती थीं। क्योंकि उनमें भी पुरुष सदृश आसक्ति, जुआं खेलना, शिकार करना, मद्यपान करने जैसे दुर्गुण विद्यमान होते थे।[९]

---

१ अथर्व. ४.३६.१ से १०; मनु. ११.४९ से ५४

२ अथर्व. १.६.१ से ३; छान्दो. २.१३.१; मनु. ११.५५, ६६

३ अथर्व. ८.३.१ से २५; छान्दो. १.१; द्रोणपर्व ७३.३० से ३७; मनु. ११.५५, ५८

४ अथर्व. ८.४.१ से २४; छान्दो. ७.६.१; "उलूकयातुं शशलूकयातुं जहि श्व यातुं जहि श्व यातभुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयात द्षदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥" २२.४८ : अथर्व.; याज्ञ.स्मृ.अ.प्रायश्चित २२७, २२६, २३१, २३३, अथर्व. ८.४; ७.९५.१; उ.पर्व ३५.४६; मनु. ११.४९ से ५४

५ अथर्व. १६.१.३ व ७; १२.१.५०; छान्दो. ७.१५.२; उ.पर्व ४०.३१

६ अथर्व. १५.२.३, ११, १७, २४; आ प.ध.सू. — १.२८.२

७ गौतमध.सू. २.६.१९

८ द्विजातिकर्मभ्योहानिः पतनम्। गौ.ध.सू. ३.३.४ (पतित होने का अर्थ है द्विज जाति कर्म के अधिकार से वंचित होना)

९ स्त्रियो क्षामृगयापानमेतत् कामसमुत्थितम्। दुःख चतुष्दयं प्रोक्तं यैर्नरो भ्रश्यते श्रियः॥ - ७.१३; वनपर्व महाभारत।

गौतम के अनुसार[१] ब्राह्मण की हत्या, सुरापान, गुरुपत्नी एवं मातृ व पितृपक्ष की नारियों के साथ रमण, सवर्ण, निर्दोष व्यक्ति का त्याग कर्ता तथा निम्न वर्ग के पुरुष से यौन सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्त्री, झूठी साक्ष्य देने, चुगली करने, असत्य दोषरोपण करने, हिंसा करने, निर्दोषी पर दोष लगाने पर उसे अपराधी मान लिया जाता था। अपराधी को अपराध निमित्त प्रेरित करने वाले, एवं अपराधी के साथ एक वर्ष तक उठने-बैठने वाले व्यक्ति भी अपराधी ही स्वीकार किये जाते थे। अन्यों के नियन्त्रण व दासता में रहकर अपराधी के साथ रहने, उसके साथ यज्ञ करने, उसे पढ़ाने या उसके साथ बैठने-उठने एवं वैवाहिक तथा अन्य सम्बन्ध बढ़ाने वाले को भी बोधायन ने अपराधी की संज्ञा से अभिहित किया है।[२]

आग लगाने, विष देने, सुरा बेचने, चुगली करने वालों तथा मित्रद्रोही, परस्त्री लम्पट, गर्भपातकर्ता, नास्तिक, हिंसक, अपहरणकर्ता, निन्दक, दोषारोपण करने, धरोहर हरने, विश्वासघात करने, पापयुक्त व्यवहार करने, अपमान करने वाले, क्रोधी, चंचल एवं आश्रितों की रक्षा व सुरक्षा करने के कारण धूस लेने, ठगी करने, असत्य बोलने, अन्यायकरने कठोरता से बोलने व मर्यादा का अतिक्रमण करने, धर्म और शास्त्र की अवहेलना दिखाने व उसे करने, स्त्री विक्रय करने, प्रण से हटने के फलस्वरूप मानव अपराधी बनता था। दूसरे की जीविका को नष्ट करना, प्यासे को पानी न पिलाना, कन्या का विवाह न करना, अपंगों का धन छीनने वाले भी अपराधी समझे जाते थे।[३]

विकास

मानव के अपने दोषपूर्ण चरित्र तथा पारिवारिक परिस्थितियों से ही अपराध को पनपने व विकसित होने का खुला अवसर मिलता था। सामाजिक अपराध, सामाजिक उपेक्षा व तिरस्कार, अपराध विकास रूपी अग्नि में धृताहुति का काम करते थे। निर्धनता, शोषण तथा आवश्यकताओं की सम्पूर्ति का अभाव अपराधिक प्रवृत्ति को प्रेरणा देने के प्रति उत्तरदायी रहे थे। 'बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्' — इस सिद्धान्त के धरातल पर अपराध चतुर्दिक् विकसित हुआ। सामाजिक उत्पीड़न, ईर्ष्या, द्वेष, निराशा, उपहास, निन्दा जैसी दुष्प्रवृत्तियों ने अपराध की लता को सुदृढ़ अवलम्ब प्रदान किया। समाज और व्यक्ति दोनों के पतित चरित्र के

---

१ गौ.ध.सू. ३.३.१, ९, १०, ११, १८, २०; द्रोणपर्व अध्याय - ७५ श्लोक २५ व २६

२ 'पातकसंयोजकाश्च' २; गौ.ध.सू.प्र. ३.३ (दूसरे व्यक्ति को पातककर्मो में प्रेरित कर्ता भी पतित या अपराधी होते है); तैश्चाब्दं समाचारन ३; गौ.ध.सू.प्र. ३.३; (पतित के साथ एकवर्ण तक उठने-बैठने वाला भी पतित हो जाता है)। :अनुशा.पर्व महा. १.३५; बो.ध.सू. २.१२.२.२३

३ उ.पर्वमहा. ३५.४६ से ४८; ४३.१८; द्रोणप. ७३.२५ से ४४; अनु.पर्व २४.५-१२ वारुणीजातक,, दम्मेध्जातक, विकण्णकजातक, वट्टकजातक, मणिचोरजातक, गामणीचण्डजातक, : मनु. ९.२३५ :सम्र्क्तस्मृति, ब्रह्मचर्यवर्णनम्' १०८

कारण अपराध विकसित होते-होते वंशानुगतरूप में परिणत हो गये। फलतः अपराध करना एक व्यवसाय अथवा प्रवृत्ति के रूप में विकसित हो गया। आज के जरायम पेशा लोग — कंज्जर, सांयंसी तथा खानाबदोश — उसी परिणाम की उपज हैं।

राज्य-प्रशासन अन्याय के प्रति उपेक्षा, पक्षपातपूर्ण नीति, अनुचित दण्ड के कारण भी अपराध विकसित होते थे। अपराधी को जब स्वच्छन्द वातावरण उपलब्ध होने लगता था, तब-तब उसकी उद्दण्डता तीव्रतर हो जाती थी। प्रशासन की अविवेकशीलता एवं विशुद्ध न्यायव्यवस्था के अभाव में अपराध एवं पाप विकसित हुए थे। अराजकता में अपराध को विकास का सुला अवसर मिलता था। राजकीय कर्मचारियों को स्वार्थ सिद्धि, न्यायाधीशों की सुप्तावस्था व धन-लोलुपता अपराधी को अपराध के निमित्त प्रेरित करती थी। अपराध को नियन्त्रित न करने की अक्षमता अपराध विकास के प्रति उत्तरदायी थी।

धार्मिक जटिलताओं के कारण अनेक स्थलों पर मानव व मानव समुदाय को श्रेष्ठ कर्मो से निलम्बित कर दिया जाता था। धार्मिक परिधि में वर्ण की उच्चता व लघुता के विष ने परिस्थितियों को विषैला बना दिया। जाति प्रथा ने इसे बल व गति अर्पित की थी। परिणामतः मूर्ख ब्राह्मण सम्मान का पात्र बना रहा, जबकि विद्वान शुद्र की बराबर निन्दा होती रही। इसी आंखमिचोनी के खेल या उपेक्षावृत्ति ने मानव को जघन्य से जघन्य अपराध के लिए प्रेरित किया। हिंसा या आत्महत्या, चोरी, स्त्रीसंग्रहण, व साहस एवं आदेशों की उपेक्षा जैसे अपराध उद्‌भूत होते गये। वैदिक मान्यता 'ऋत' का विरोध करने में भी धैर्य व संकोच की सीमा टूट गई। बुद्ध व जैन युग में वेद और यज्ञों का प्रबल विरोध हुआ। सामाजिक सम्बन्धों में वर्ण व जाति की प्रधानता बनी रही। अतएव अपने को हीन, नीच, उपेक्षित समझे जाने वालों का एक संगठन आ खड़ा हुआ। उन्होंने समय-समय पर क्रान्तियां की। फलतः समाज टूट-टूट कर बिखरता गया और नित नये-नये अपराध विकसित होते गए।

आंख के बदले आंख, हाथ के बदले हाथ — एवं विद्रोह की भावना का भी अपराध के विकास में विशेष योगदान रहा। गौतम का यह कथन कि गुरुपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री से सम्भोगकर्ता पतित (अपराधी) नहीं होता[१]। स्त्रीसंग्रह जैसे घोर अपराध को विकास की दिशा देता रहा होगा। विवाह, मैथुन एवं उपहास के अवसर पर असत्य की छूट[२] भी अपराधों को बल देती रही। महाभारतकारने कपटकर्ता के साथ कपट-अचरण की सहमति[३] व्यक्त कर जहां तक अपराध को

---

१ गौ.धर्म सूत्र प्र. - ३; अ. - ३; सूत्र - ८

२ गौ.धर्म सूत्र प्र. - ३; अ. - ५; सत्र - २९

३ उद्योगपर्व अ. - ३७; श्लोक - ७

समाप्त करना उचित समझा वहां, दूसरी ओर पापमूलक प्रवृति को विकसित होने का खुला वातावरण भी प्रदान किया ।

अपराधों का वर्गीकरण

अपराधों का सिलसिला वैदिक काल से ही प्रारम्भ हो गया था और इस काल की पृष्ठभूमि, सूत्रकाल को दायभाग के रूप में मिली थी । महाभारत काल में अपराधों की बहुलता दृष्टिगत होती है । अपराधों का विभत्स रूप जातक कथाओं में लिपिबद्ध है ।। मनुस्मृति में स्मृतिकारने अपराधों को १८ शीर्षकों में सम्वेत किया है । सम्पूर्ण स्मृतियों एवं अर्थशास्त्र पर मनु की व्यवस्था का प्रभाव किसी न किसी रूप में विद्यमान है स्मृतिकालीन अपराधों का विवरण निम्नवत् है :-

मनुस्मृति

१. ऋणादान (लेन-देन) - तेषामाद्यमृणं दानं

२. निक्षेप (अमानत या धरोहर) - निक्षेपो स्वामिविक्रयः ।

३. अस्वामिविक्रय - संभृय च समुत्थानं

४. स्म्भूय-समुत्थान (साझा) - दत्तस्यानपकर्म च ॥ ४.अ.८.मनु.

५. दत्तस्यापाम कर्म

६. वेतनादान (वेतन व परिश्रम का फल न देना) - वेयनश्यैव चादानं

७. संविद-व्यतिक्रम (प्रणभंग) संविदश्चं व्यतिक्रमः ।

८. क्रयविक्रयानश्य (क्रयविक्रय विवाद) क्रयविक्रया श्योविवादः

९. स्वामिपालविवाद (स्वामी-सेवक विवाद) स्वामिपालयोः ॥ ५.८.मनु

१०. सीमा-विवाद-सीमा विवाद धर्मश्च

११. वाक्पारुष्य (मिथ्यादोष) पारुष्येदण्डवाविके ।

१२. दण्डपारुष्य (मारपीट) स्तेय च साहसं चैव

१३. स्तेय (चोरी) स्त्रोसंग्रहणमेव च ॥

१४. साहस (डकैती व लूट) — ६.८.मनु.

१५. स्त्रीसंग्रहण

१६. स्त्रीपुरुष धर्म-स्त्रीपुन्धमोविभागश्च

१७. विभाग (दायभाग) घूतमाह्वय एव च ।

१८. घूतसमाह्वह- पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥ — ७.८.मुन.

याज्ञवल्क्यस्मृति : व्यवहार अध्याय

१. ऋणादान. व्य. ३

२. उपनिधि. व्य. ४

३.दायविभाग. व्य. ८

४. सोमाविवाद. व्य. ९

५. स्वामिपालविवाद. १०

६. अस्वामिविक्रय व्य. ११

७. दत्तानिकप्रकरण व्य. १२

८. क्रीतानुशग. व्य. १३

९. अभ्युपेत्याशुश्रूषा. व्य. १४

१०. संविदयतिक्रमप्रकरण. व्य. १५

११. वेतनदानप्रकरण . व्य. १६

१२. द्यूतसमाह्वय व्य. १७

१३. वाक्पारुष्य व्य. १८

१४. दण्डपारुष्य व्य. १९

१५. साहस व्य. २०

१६. विक्रोयासम्प्रदान व्य. २१

१७. संभूयसमुत्थान व्य. २२

१८. स्तेयप्रकरण व्य. २३

१९. स्त्रीसंग्रहण व्य.ष् २४

२०. प्रकीर्णक व्य. २५

बृहस्पतिस्मृति

च.२प. : ९

१. कुसीद (ऋणादान)

२. निधि

३. अदेमाद्य (दत्ताप्रदानिक)

४. सम्भूयसमुत्थान

५. भृत्यदान (वेतना दान)

६. अशुश्रूषा (अभ्-युपेताशुश्रृषा)

७. भूवाद (सीमा विवाद)

८. अस्वामिविक्रय

९. क्रयविक्रयानुशय

१०. समयातिक्रम (संविदव्यतिक्म)

११. स्तेय

१२. स्त्री पूंसंयोग

१३. दायभाग

१४. अक्षवेदन (द्यूतसमाह्वय)

१५. वाक्पारुष्य

१६. दण्डपारुष्य

१७. वध (साहस)

१८. स्त्रीसंग्रह

१९. प्रकीर्णक

नारद

१. श्रृणदान

२. निक्षेप

३. सम्भूयसमुत्थान

४. अभ्युपेत्याशश्रूषा

५. दत्ताप्रदानिक

६. वेतनस्यानपाकर्म

७. अस्वामिविक्रय

८. विक्रीयासंप्रदान

९. क्रीतानुशय (क्रयविक्रयानशय)

१०. समयस्यानपाकर्म (संविद-व्यतिक्रम)

११. क्षेत्रजविवाद (सीमा विवाद)

१२. स्त्रीपपुसंयोग

१३. दायभाग

१४. साहस

१५. वाक्परुष्य

१६. दण्डपारुष्य

१७. द्यूतसमाह्वय

१८. प्रकीर्णक

कौटिल्य अर्थशास्त्र अधिकरण : ३

१. पति-पत्नी संबंधित अं २, ३, ४

२. दायविभाग अं ५, ७

३. वास्तुक के अंतर्गत गृहवास्तुक सीमा विवाद अं ८, ९

४. समयस्यानपाकर्म (संविदव्यतिक्रम) अ.१०

५. श्रृणादान अ.११

६. उपनिधि अ.१२

७. दासकर्मकारकल्प (वेतनदान) अ.१३

८. सम्भूयसमुत्थान अ.१४

९. विक्रोतक्रोतानुशय (क्रयविक्रय) अ.१५

१०. दत्तस्यानपाकर्म अ.१६

११. अस्वामिविक्रय अ.१६

१२. साहस अ.१७

१३. वाक्पारुषय अ.१८

१४. दण्डपारुष्य अ.१९

१५. द्यूतसमाह्वय अ.२०

१६. प्रकीर्णक अ.२०

सम्पूर्ण अपराधों को मनु ने १८ विभागों में समेट कर व्यवहार पद्धति को नई दिशा दी है। वे ही प्रथम व्यवस्थाकार, न्यायविद् एवं विधिज्ञ थे जिन्होंने सूक्ष्म चेतना के आधार पर अपनी पैनी व विवेचनापूर्ण दृष्टि से ऋग्वेदकाल से लेकर अपने पूर्ववर्तीकाल तक विशृंखलित व्यवहार पद्धति को व्यवस्थित किया है। अपराधों का वर्गीकरण करते हुए अपराध विधि एवं नैतिक विधि को भी पृथक् किया है। मनु के बाद के स्मृतिकारों तथा अर्थशास्त्र के रचियता कौटिल्य ने भी अपराध का वर्गीकरण, मनु द्वारा निर्देशित आधार पर ही किया है। यद्यपि अनेक स्थलों पर भिन्नता दृष्टिगत होती है तो भी रूपरेखा, मानदण्ड व्यवहारप्रणाली, मनु के अनुरुप ही हैं। अनेक व्यवहार शीर्षकों में परिवर्तन एवं कुछ भिन्नता अवश्य हुई है, परन्तु उनका मूल मनु के सिद्धान्तों में ही आधारित हैं। काल परिवर्तन के नाते अपराध-सूचियों में परिवर्तन अवश्य हुआ। अपराध वरीयता भी विभिन्न कालों में स्थानान्तरित होती रही थी। विगत पृष्ठों पर अंकित अपराध सूचियां इसकी पुष्टि करती हैं।

मनु ने व्यवहार-पद्धति में १८ प्रकार के व्यवहारों का उल्लेख किया है। यह व्यवस्था गागर में सागर की प्रणति है। मनु के काल में व्याप्त विभिन्न अपराध इन १८ व्यवहारों में समाविष्ट है। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, दैशिक, एवं व्यावहारिक जीवन में कहां क्या विघ्न, कमी, पतन हो सकता है इसको मनु ने सुलझा कर रख दिया है। जिससे मानव जीवन पूर्ण बना रह सके। याज्ञवल्क्य ने — २० प्रकार के व्यवहारों को दर्शाया है। उन्होंने अयुपेत्याशुश्रूषा एवं प्रकीर्णक नाम से दो अतिरिक्त व्यवहारों का उल्लेख किया है। नारद ने १८, बृहस्पति ने १९, प्रकार के व्यवहार वर्ग में प्रकीर्णक व्यवहारपद्धति अध्याय को सम्मिलित रखा है। यही स्थिति कौटिल्य को भी है। स्पष्ट हो जाता है कि मनु के बाद प्रचलित व्यवहारों को स्मृतियों ने प्रकीर्णक के अध्याय में समाविष्ट कर नए वर्गीकरण की स्थापन या प्रतिपादन नहीं किया है। स्मृतिकारों ने मनु द्वारा प्रतिपादित व्यवहार वर्गीकरण को ज्यों का त्यों या न्यून हेरफेर के साथ स्वीकार कर लिया है।

स्मृतिकारों की व्यवहार सूचियों से स्पष्ट है कि प्रत्येक स्मृतिकार के युग में अपराधों की ज्येष्ठता व गुरुता परिवर्तनशील रही है। समय व परिस्थितियों के कारण सामाजिक परिवर्तन का सीधा प्रभाव व्यवहारों की क्रमता पर पड़ता था। ऋण और निक्षेप को छोड़कर स्मृतिकारों ने अपनी-अपनी अपराध या व्यवहार सूची को बदला है। मनु ने तीसरे स्थान पर अस्वामिविक्रय को रखा, तो याज्ञवल्क्य ने

दायविभाग नारद ने सम्भूयसमुत्थान, बृहस्पति ने अदेयाद्य (दत्ताप्रदानिक) को तीसरे स्थान पर रखा है । सम्पूर्ण स्मृतिकारों के व्यवहार विवरण इस परिवर्तन से प्रभावित हैं । हां, वाक्यपारुष्य, दण्डपारष्य, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रह जैसे विवादों के सूचीस्थल परिवर्तन में गौणता अवश्य रही है । कुछ स्थलों पर भिन्नता भी स्पष्ट है । उदाहरणतः मनु द्वारा उल्लिखित स्वामिपालविवाद को नारद और बृहस्पति ने, स्त्रीसंग्रहण व स्तेय को नारद ने, अभ्युयेत्याशुश्रूषा व प्रकीर्णक को मनु ने अपनी व्यवहार पद्धतिसूचियों में सम्मिलित नहीं किया है। प्रमुख स्मृतिकारों की निम्नांकित तालिका से यह भिन्नता स्पष्ट हो जाती है :-

क्रम. मनु	याज्ञवल्क्य	बृहस्पति	नारद
१. ऋणदान	१. ऋणादान	१. कुसीद (ऋण)	१. ऋणादान
२. निक्षेप	२. उपनिधि	२. निधि	२. निक्षेप
३. अस्वाभिविक्रय	६. अस्वामिविक्रय	८. अस्वामिविक्रय	७.अस्वामिविक्रय
४. सम्भूयसमुत्थान	१७. सम्भूयसमुत्थोन	४. सम्भू यत्थोन	३. सम्भूयत्थान
५. दत्तस्यानपाकर्म	७. दत्ताप्रदानिक	३. अदेयाद्य	४. दत्ताप्रदानिक
६. वेतना दान	११. वेतनादान	५. भृत्यदान	६.वेतनस्यानपाकर्म
७. संविदव्यतिक्रम	१०. संविदव्यतिक्रम	१०. संमिवातिक्रम	१०. समस्यानपा-कर्म
८. क्रयविक्रयानशय	८. क्रीतानुशय	९. क्रयवविक्रयानुशय	९. क्रीतानुश्य
९. स्वामिपालविवाद	१६. विक्रोयासंप्रदान	—	८. विकीयसम्प्रदान
१०. सीमाविवाद	५. स्वामिपालविवाद	—	—
११. वाक्पारुष्य	४. सीमाविवाद	११. क्षेत्रजविवाद	७. भूवाद
१२. दण्डपारुष्य	१३. वाक्पारुष्य	१५. वाक्पारुष्य	१५. वाक्पारुष्य
१३. स्तेय	१४. दंडपारुष्य	१६. दंडपारुष्य	१६. दण्डपारुष्य
१४. साहस	१८. स्तेय	१२. स्तेय	१२. स्तेय
१५. स्त्रीसंग्रहण	१५. साहस	१४. साहस (वध)	१७. वध
१६. स्त्रीपुंधर्म	१९. स्त्रीसंग्रहण	१८. स्त्रीसंग्रहण	१८. स्त्रीपुंसंयोग

१७. विभाग (दायभाग) —		१२. स्त्रीपुसयोग	११. +
१८. द्युतसमाह्वय	३. दायविभाग	१३. दायभाग	१३. दायभाग
१९. —	१२. द्युतसमा.	१७. द्यूतसमाहय (अक्षदेवन)	१४. अक्षदेवन
२०. —	९. अभ्युयेत्या. २०. प्रकीर्णक	५. अभ्युप्रेत्याशुश्रूक्ष १८. प्रकीर्णक	६. अशुश्रूषा १९. प्रकीर्णक

उपर्युक्त चारों समृतिकारों को छोड़कर अन्य स्मृतिकारों ने अपनी स्मृतियों में व्यवहार पदों को क्रमिक रूप में प्रस्तुत नहीं किया है। वे सब अपने पूर्ववर्ती स्मृतिकारों तथा वैदिक काल, उपनिषदकाल, सूत्र-काल, महाकाव्यकाल से प्रभावित दीखते हैं। यह व्यवहार पद्धति में एक प्रकार की विडम्बना ही रही है। परन्तु दंड के धरातल पर लगभग अनेक अपराधों पर उन्होंने दण्ड विधान व प्रायश्चित विधान को विशद रूप में विवेचित किया है।स्मृतिकार समय की प्रासंगिकता व अनिवार्यता से सीधे प्रभावित रहे हैं।

इस सम्बन्ध में मेरा दृष्टकोण यह भी है कि मनु, को प्रत्येक रूप में आदर्श व मापदण्ड के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। अतएव अपने से संबंधित स्मृति में व्यवहार सूची को अलग-अलग देना उपयुक्त समझा। क्योंकि यह केवल पुनरावृत्ति मात्र ही होती, जैसा कि उक्त तालिका में याज्ञ. बृह. व नारद को व्यवहार सूचियों में विद्यमान है। इन तीनों स्मृतिकारों की व्यवहार सूची मनु से अधिकांशतः मिलती हैं।

मनु. याज्ञवल्वय, तथा नारद आदि स्मृतिकारों को छोड़कर, अन्य स्मृतिकारों ने अतिपाप, महापाप, (अर्थात अपराध, उप-अपराध, अति अपराध, महापराध) आदि वर्गीकरण किया है। प्रायश्चितों का उल्लेख करते हुए विभिन्न प्रकार के अपराधों की गणना की है। अनेक स्मृतिकारों ने अपराधों को अपनी स्मृतियों में छितरा दिया है। अपराधों पर सामाजिक शक्ति के प्रभाव ने आपराधिकस्तर में परिवर्तन किया है। इसमें वर्ण की प्रधानता को वरीयता मिली है। उदाहरणतः ब्राह्मण द्वारा घटित क्रिया को गौण और शूद्र द्वारा घटित वही क्रिया शूद्र का महापराध बनती थी।

आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिसर में अपराधों का क्रम अंकित रहा था।

१. आर्थिक अपराध — धन, सम्पत्ति की किसी भी प्रकार की हानि या क्षति आर्थिक अपराध कहलाती थी। स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, स्तेय, दायभाग जैसे व्यवहार इसी कोटि के थे। ऋणदान, निक्षेप, वेतनादान, क्रयविक्रय भी इसी शृंखला की कड़ी थे।[१] सूद लेना,[२] अन्न नष्ट करना[३] घूस लेना[४], लोभ[५], आर्थिक अपराध ही गिने जाते थे।

२. राजनैतिक अपराध — राज्य प्रशासन में विकृत उत्पन्न करने वाली दशायें राजनैतिक अपराध कहलाती थीं। अशुद्ध खोटी मुद्राओं का प्रयोग[६] राजकीय चिन्हों व लेखों में परिवर्तन[७] बिना अनुज्ञप्ति (लाइसेंस) के द्वारा प्रतिबन्धित वस्तुओं का निर्माण, निर्यात करना[८] अपराधों में सहायता[९], अपराधियों को बिना दंड छोड़ देना,[१०] घूस लेकर निर्णय देना या अकृत्य करना[११], आदि अपराध राजनैतिक अपराध माने जाते थे। राष्ट्रीय उत्पादन को क्षति पहुंचना[१२], राजकीय चिन्हों में परिवर्तन, राजाज्ञा का अतिक्रमण[१३], राज्य के प्रति असावधानी[१४], को घोरराजनैतिक अपराध माना जाता था।

३. सामाजिक अपराध — संविद व्यतिक्रम, वाक्पारुष्य, दंडपारुष्य, साहस, स्त्रीसंग्रह, द्यूतसमाह्वय आदि व्यवहारों को सामाजिक व्यवहार माना जाता था।[१५] ये अपराध जो सामाजिक ढ़ाचे को सीधा प्रभावित कर, असंतुलित बनाते

---

१ मनु. ८.४-७; याज्ञ.व्य.- ३,४,८,९,१६,२३; अग्निपुराण अ.: १६८.२४; मणिचोरजातक, वेरीजातक

२ अग्निपुराण अ. १६८

३ शा.पर्व अ. - १३५.१५

४ द्रोणपर्व अ. ७३.३२

५ उद्योगपर्व अ. - ३३.६६

६ याज्ञ. २.२२४; नारद १५.१६; को. ३.१९.१९७

७ मनु. ९.२३२, वि. ५.९

८ मनु. ८.३९९, को. २.३१.१११

९ विष्णु ५.७४

१० याज्ञ. २.२९५

११ मनु. ९.२३४; याज्ञ. २.४; विष्णु. ५.१९५; बृह. २२.१०

१२ मनु. ८.२६४, २८१, २८६; याज्ञ. २.१५५; विष्णु. ५.१५

१३ मनु. ८.३९९, ९.२३२; का. २.२१.१११, ४.२.२०४ व २०५, को. २.१४.१८५; याज्ञ. २.२९२

१४ मनु. २.२८४, याज्ञ. २.२४२, विष्णु. ५.१७७, बृह. २२८, को. २.१.२०२

१५ मनु. ८.५-७; याज्ञ.व्य.अ. १५, १७-२०, २४, २५ आदि नारद, बृहस्पति पूर्वोक्त अपराध सूची अनुसार।

थे या समाज में विभिन्न प्रकार को विकृतियां उत्पन्न करते थे उन अपराधों को समाजिक अपराध कहा जाता था। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नि, स्वामिसेवक आदि अपराध इसी कोटि के होते थे।[१] । जाति बहिष्कार, मूर्ति का अपमान, महान पुरुषों का निरादर तथा पाखण्ड प्रदर्शन भी सामाजिक अपराध ही थे।[२] असत्य साक्षी, विश्वासघात, झूठा अधिकार, मिथ्यारोपण, सद्कार्यो में उपेक्षा[३] वस्तु में मिलावट[४], नरमांस, सडामांस विक्रय[५], जल के स्रोतों को दूषित करना, राजमार्ग, मन्दिर, तीर्थस्थानों को अपवित्र करना[६], हानिप्रद वस्तुओं को दूसरों पर फेंकना[७] मूल्य, नापतोल, तथा बांटों में घेरफेर करना,[८] दूषित औषधि का निर्माण व उसे देना[९] कूप, तालाब, बांध नष्ट करना,[१०] सीमा तोड़ना,[११] आग लगाना,[१२] वृक्षनष्ट करना,[१३] सेवा की अवज्ञा[१४] आदि विभिन्न अपराध सामाजिक अपराध माने जाते थे।

४. धार्मिक अपराध – धार्मिक कृत्यों की अवहेलना, ऋत् के विपरीत कार्य, अनृत से युक्त पापपूर्ण कृत्यों को धार्मिक अपराधों की कोटि में रखा जाता था। संक्षेप में धर्म के विपरीत कार्य धार्मिक अपराध बनता था। शास्त्रों की अवहेलना, वेद के प्रति उदासीनता, यज्ञों की उपेक्षा, धार्मिक अपराध बनते थे। मूर्ति तोड़ना,[१५] पाखंडप्रदर्शन[१६] निम्नवर्ग द्वारा उच्च वर्ण के व्यक्ति को दूषित करना, सुरापान करना, अखाद्य खाना, अपेय पीना, जानकर दूसरों को भ्रष्ट करना, शूद्रो द्वारा

---

१ नारद - १.६

२ मनु. ९.२८९, २२५, याज्ञ. २.२११ को. ३.१८.१९४

३ मनु. ८.२८५, २८६; मनु. ८.५८; विष्णु. ५.७४

४ मनु. ९.२८६; याज्ञ. २.२४५; को. ४.२.२०४

५ याज्ञ. २.२९७; विष्णु ५.४९

६ को. २.३६.१४५; विष्णु ५.१०६; मनु. ९.२८१, २८३

७ याज्ञ. २.२२४; नारद १५-१६; को. ३.१९.१९७

८ याज्ञ. २.२४०; मनु. ४०३, वशिष्ठ १९.१३; को. २.१९.१०५; ४.१.२०१; ४.२.२०३

९ मनु. ८.२२८

१० मनु. ८.२८६; याज्ञ. २.२५; मनु. ९.२८१; विष्णु ५.१५

११ मनु. ९.२९१; याज्ञ. २.१५५

१२ याज्ञ. २.२७९; विष्णु. ५.९ को. ४.११.२२८

१३ मनु. ८.२८५, याज्ञ. २.२२९, विष्णु. ५.५५; को. ३.१९.१९७

१४ मनु. ८.२१९, ९.२८४, बृह. १७.५, २२८, विष्णु ५.१७५, याज्ञ. २.२४२; आपस्तम्ब २.१०.२७.१८

१५ मनु. ९.२८९, विष्णु. ५.१७४, छा.उ.५.११; बृह.उप. ३.५१, अनु.प. २४८

१६ मनु. ९.२२५

यज्ञोपवीत पहनना, शूद्रों द्वारा वैदिक मन्त्रों का उच्चारण व श्रवण करना धार्मिक अपराध था।[१]। लौकिक तथा शास्त्रीय अभिचार,[२] मन्दिर दूषित करना, नास्तिकता, असत्य व हिंसा आदि भी आदि धार्मिक अपराध माने जाते थे।[३] आत्मवादी एवं वेदनिन्दा भी धार्मिक अपराध में था।

५. राजद्रोह — राजा, राज्य, राज्यप्रशासन, राज्यादेश, राज्यकर्मचारियों, राजपरिवारों, राज्यव्यवस्था आदि के प्रति विद्रोह कर देना, अनास्था व्यक्त करना, मिथ्यादोषारोपण करना राजद्रोह कहलाता था। राजा व राज्य को किसी भी प्रकार की क्षति पहुंचाना या अपमानित करना राज्यद्रोह का प्रसंग होता था।[४] रानी के प्रति अपमान को व्यक्त करना, राजा के अस्त्रशस्त्र व वाहन नष्ट करना, राजा को अपशब्द कहना, राजा को धोखा देना, गुप्त मंत्रणा का रहस्य खोलना गंभीर राज्यद्रोह होता था।[५] राजकीय अभिलेखों में परिवर्तन राजकीय आदेशों का तिरस्कार, जाली मुद्राओं का सृजन, राजा पर आक्रमण करना, दुर्ग, कोष को नष्ट करना, सेना में विद्रोह करना, गुप्त गुरुतर राज्य विद्रोह की श्रेणी के अपराध रहे थे।[६]

६. अन्य अपराध — वे कृत्य जिन्हें अपराध सूची में समाविष्ट न किया जा सका, परन्तु उनसे अहित होने की अधिक संभावना रहती थी उन कृत्यों को अन्य अपराधों की कोटि में रखा गया है। जनस्वास्थय को आकांक्षा के निमित्त मृत पशु एवं मानव शव को निश्चित स्थान के अतिरिक्त सार्वजनिक स्थान पर दबाना अपराध था।[७] खाद्यान्नों में मिलावट करना, निषिद्ध खाद्यों को बेचना, जलस्त्रोतों को मलमूत्र से दूषित करना या जल के पास शौचालय, मूत्रालय का

---

१ शा.पर्व. ५९.६०; वारुणीजातक ४७, सुरापान जातक ८१, परा.स्मृ. १.६४, गौ. १२.४; मनु.९ २२४, २६०; ९.२३५, ९.२२५, २८०, २८५; विष्णु. ५.१०४; आ.पर्व ७७.६७, उ.प. ३३.४४, याज्ञ. २.२३४, २९६, ३०४, को. ४.१३.२३२ आ प. १.१७.२९-३९, १.२१८, गौ.ध. ३.३.१

२ मनु. ९.२९०, बृह २२.१६, को. ४.१३, २३३, वा.रा.यु.का. १२.३१

३ मनु. ११.५५,५६; ९.२८१; ऋग्. ८.१६.११; ८.५२३; ४.२३.७; ५.१२.४; अग्नि. १६८.२, ४, ७; यजु. ९.३५, २५.२१, अथर्व. २.१.१६, १२.१.५०, ६.६.१, आ पध.सू. १.२३.५, आ. पर्व ७४.१०४, उ.पर्व ४०.३; वा.रा. ९.३, ४ अरणयकांड, वा.रा.उ.कां. ७३.७; उपसालधक जातक १६६; ग्रामणीखण्डजातक २५७

४ याज्ञ. २.२३२, ३७ आप. २.२.२९.१; अर्थशा. ३.१७, बृह. १७.१६; मनु. ९.२७५, अर्थशा. ४.११, ऋग्वेद ८.९.७, ४.२३.७, उ.पर्व ३५.४३

५ मनु. ९.२३२-२३५, २७५ व २८०, याज्ञ. २.२२१, २८२, ३०२, नारद १८; को. ४.२२७, ४.१३.२३ व २३३४, ४.११

६ नारद १५ व १६; मनु. ९.२७५; मत्स्यपुराण १८५, को. ४.११.२२७., शा.पर्व. १३५.१५ कलायमुदिठ जातक १७६; संकप्पजातक २५१; महानारदकश्यप जातक ५४४;

७ विष्णु ७.१८.१९, बृहस्पति १७.१६, अथर्व ११.२.२०, को. ५.२४.१४५

निर्माण करना, पेयजल को दूषित करना जनस्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक माना जाता था ।[1] गृहों में विषैली वस्तु या विषैले जीवजन्तु रखना, या किसी पर विषैली वस्तु फेंककर उसका जीवन नष्ट करने का प्रयत्न करना अपराध था ।[2]

पशु को अत्याधिक पीटना, उसे भूखा व प्यासा रखना, उसके साथ दुर्व्यवहार करना, अन्य किसी प्रकार का कष्ट देना, पशुबलिदेना, या पशुहत्या करना, आखेट करना, दुष्कृत्य थे ।[3]

पशुओं के साथ मैथुन करना भी अप्राकृतिक अपराध था ।[4] हरे व फलदार वृक्षों को काटना[5] हिंसा की कोटि का अपराध रहा था ।

अपराध : विभिन्न भेद

(इस पर विस्तृत प्रकाश पंचम अध्याय में ड़ाला गया है)

(१) ऋणादान

आवश्यकतानुसार ऋण लेना, सूद देना, ऋणव्यवहार का मूलस्रोत था । कौन-सा ऋण देय या अदेय है, ऋण देने व वसूनल करने की पद्धति क्या है ? इस व्यवस्था से सम्बन्धित प्रकरण ऋणदान प्रकरण कहलाता था ।[6] ऋग्वेद म. ४. सू. २३. मन्त्र-७, गौतम ध.सू.प्रश्न-२, अध्याय-३, ऋग्वेद ८.४७.१७, १०.३४.१०, ऐतरेय ब्राह्मण ३.३.१, तेत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.९.८, अर्थवेद ६.११७.३ में ऋण शब्द का प्रयोग हुआ है । ऋण पर लिया गया लाभ सूद या ब्याज एवं कुसीद कहलाता था ।[7] सूद व कुसीद प्राप्त कर्ता को सूदखोर अथवा कुसीदी कहते थे ।[8]

ऋण पर सूद देना एक सामान्य नियम था ।[9] ब्याज की दर सुनिश्चित होती थी । मूल १.८० भाग सूद के रूप में मान्य था ।[10] वर्गो के अनुसार २, ३, ४,

---

१ मनु. ९.२८१, याज्ञ. २.२०३, २४५, २९७, विष्णु. ५.४९.१७४; अर्थ. ४.२.२०४; ४.१०.२२५, २.२६.१२२

२ मनु. ९.२८२, २८३, याज्ञ. २.२२४; विष्णु. ५.१०६, बृह. १९.२८, को. ३.१९.१९७

३ मनु.८.२८६,विष्णु.५.५२,५४;बृह.२१.१६;को.२.९.१७५३ २.२६.१२२,३.१०.१७३

४ याज्ञ. २.२९२, २८९; नारद ६.१९; मत्स्य. २२७.१४१, १४२; विष्णु. ५.४२, ४४ अर्थ. ४.१३.२३४

५ मनु. ११.६४

६ अग्निपु.अ. २५३, मनु. ८.४, याज्ञ. व्य.अ. ३, अर्थ. ३.११, ना. एवं बृ. ऋग् ४.२३.७

७ तैत्ति.सं. ३.३.८.१-२, शत.ब्र. १३.४.३११, निरुक्त ६.३२, ऋग्. ३.५३.१४ पाणिनि ५.१.४७, नारद ४.९८, गौतम १२.२६, वशिष्ठ २.५० को. ३.२ मनु.८.१४०-१४१

८ नारद ४.९८

९ याज्ञ. २.२८, विष्णु. ६.३, गौतम १२.२६, याज्ञ. २.३७, मनु.अ. ११.६१, ८.१४०, १४२, नारद ४.९९.१०० अनु. पर्व ११७.२०, अग्निपुराण अ. १६८.३८

१० वसिष्ठ २.५० गौतम १२.२६, अर्थ. ३.२ मनु. ८.१४०

प्रतिशत सूद प्रतिमास का भी प्रचलन रहा था।[१] जिन ऋणियों को घने वन एवं समुद्र मार्ग से गमन करना पड़ता था उनपर ब्याज १० % तक देय रहा था। चक्रवृद्धि ब्याज भी लिया जाता था।[२] दूसरी ओर कुछ स्मृतिकारों की यह भी मान्यता रही कि सूद लेना महान अपराध है वसिष्ठ ने सूदखोर को ब्रह्महत्यारे से प्रबल अपराधी माना है। सूद को पापमय कृत्य मानते हुए इसकी भर्त्सना की गई थी।[३]

ऋण से मुक्त होना अनिवार्य होता था। विभिन्न प्रकार के ऋणों, जैसे देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण, अतिथि ऋण को चुकाना व्यावहारिक एवं धार्मिक दोनों रूपों में आवश्यक था।[४] ऋण अदा न करने, अत्यधिक सूद लेने पर ऋणादान विवाद उत्पन्न होता था।

कैसा ऋण देना है या नहीं देना है, किस के द्वारा जिस स्थान पर जिस प्रकार या ऋण किन अनुबन्धों के साथा दिया जाये, आदि दशाओं का ऋणादान व्यवहार में अपना विशिष्ट महत्त्व था।[५]

मूलधन और बयाज जोड़ कर पुनः उस पर ब्याज लगाने को चक्रवृद्धि ब्याज तथा समय के आधार पर ब्याज निर्धारय करने पर कालवृद्धि ब्याज कहलाता था।[६] ऋणी पर एक वर्ष तक ब्याज नहीं लगता था एक वर्ष के बाद ब्याज प्रारम्भ होता था। जब तक मूलधन सूद लगते लगते दुगुना नहीं होता था तब तक ब्याज लगता रहता था।[७] बाद से मुक्त रहता था।[८]

नारद, मनु एवं गौतम ने सूद को मुख्यतः चार भागों में विभाजन किया है:—[९]

---

१ मनु. ८.१४२, याज्ञ. २.३७, नारद ४.१०० विष्णु ६.२

२ याज्ञ. २.३८, अर्थ. ३.२, मित्तविन्दजातक १०४, (चतुब्भिअट्ठज्झगमा — चक्कमासदो।), बोधा.ध.सू. १.५.१०.२३

३ वसिष्ठ २.४१, मनु. ८.१५२, बोधा.ध.सू. १.५.९३, अग्निपुण १६८.१५, बौधायान१.५.१०.२४,

४ आदिपर्व १२०.१७ से २०, अनु. पर्व ३७.१७

५ नारद ४.१

६ गौ.ध.सू. प्र.-२, अ.-३, सूत्र-३१, मनु. ८.१५२

७ नातिसावत्सरी मेके १.२७, गौ.ध.सू.प्र.२, सू. ३.२७ : चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य २८, गौ.ध.सू.प्र. २,अ. ३.२८, गौ.ध.सू. २९ प्र. २,अ.३

८ नारद ४.१०२.१०४, मनु. ८.१५२, बृहस्पति व व्यास (उद्धृतस्मृति च.पृ. २ पर) गौ.ध.सू. प्रश्न-२.३ सूत्र -३२ — भुक्ताधिर्नवर्धते।

९ अग्निपुराण अ. २५३, नारद ४.११७.१२४, याज्ञ. २.५८, परमिताक्षरा, मनु. ८.४, ८.१६५. गोस्मृति १२.२९, आप.ध.सू. १.६.१८.२० ए अर्थ. ३.१२, याज्ञ. व्य.अ.४

१. कारिता = ऋण, ऋणी, अवस्था, धन के अवस्था, धन के आधार पर ऋणदाता द्वारा निश्चित सूद ।

२. कालिका = प्रतिमास दिया जाने वाला ब्याज ।

३. कायिका = श्रम द्वारा दिया जाने वाला ब्याज ।

४. चक्रवृद्धि = मूल मे ब्याज जोड़ का पुनः लगने वाला ब्याज (सूद पर सूद) परन्तु बृहस्पत्ति, व्यास ने सूद दर के विभाग में निम्न दो भाग अतिरिक्त रूप में सम्मिलित किये थे :—

(अ) शिखावृद्धि = शिखाभांति बढ़ने वाला सूद ।

(ब) भोग लाभ = बन्धन वस्तु के उपभोग का लाभ ।

(२) निक्षेप या उपनिधि

जब तक मनुष्य शंकारहित होकर, दूसरे पर विश्वास कर, उसके पास अपनी वस्तु, द्रव्य, धरोहर के रूप मे रखता था, धरोहर के रूप में रखी वस्तु निक्षेप या उपनिधि कहलाती थी ।[1] निक्षेप एवं उपनिधि को याज्ञवल्व्य, मनु, वसिष्ठ, कोटिल्य ने अलग-अलग स्वीकार किया है ।[2]

याज्ञवल्य के अनुसार किसी वस्तु को सन्दूक में बन्द कर, जिसके पास रखनी है, उसे बता कर रख दी गई, उपनिधि कहलाती है ।[3] परन्तु जब वस्तु को गिन कर सम्हाला जाये तब उसे निक्षेप कहते है ।[4] परिस्थितियां कुछ भी रही हों, परन्तु यह स्पष्ट है कि निक्षेप व उपनिधि का उपयोग, धरोहर रूप में दूसरे व्यक्तिको विश्वास दिलाने के निमित्त किया जाता था । दोनों का लक्ष्य व उद्देश्य ऋणदाता या अन्य किसी व्यक्ति को प्रत्याभूति सहित शंका रहित करना होता था । निक्षेप या उपनिधि में पड़ने वाला व्यवधान या विकृति या दुरुप्रयोग व निक्षेप अपहरण को उपनिधि व्यवहार की कोटि में रखा जाता था ।[5]

---

१ अग्निपुराण अ. २५३, नारद ४.११७.१२४, याज्ञ. २.५८, परिमताक्षरा, मनु. ८.४, ८.१६५, गौस्मृति १२.२९, आप.ध.सू. १.६.१८.२० ए अर्थ. ३.१२ याज्ञ. व्य.अ. ४

२ याज्ञ. २.६५.६७, मनु. ८.१४९, वसिष्ठ १६.१८, को. ३.१२

३ याज्ञ. २.६५

४ नारद ५.१, ५, गौ.ध.सू. २.३.३९

५ द्रोणपर्व अ.७३, अग्निपुराण १६८, १०, मनु. ११.५७,

(३) अस्वामिविक्रय

धरोहर में रखी, या चुराई सम्पत्ति को, वस्तु के वास्तविक स्वामी के परोक्ष में बेचना अस्वामिविक्रय विवाद कहलाता था।[१] खुली या मुद्रांकित निक्षेप, दूसरे को चोरी की गई वस्तु, उत्सव निमित्त ली गई वस्तु, किसी की छुटी वस्तु या प्रतिभूति को गुप्त रूप में बेचना अस्वामिविक्रय होता था। दूसरे के धन का गुप्तरूप में दान देना भी इसी प्रकार का अपराध माना जाता था।[२]

(४) सम्भूय-समुत्थान : साझेदारी, सहकारिता

जब अनेक जन या व्यापारी या कलाकार, शिल्पकार एवं अन्य लोग परस्पर मिलकर या साझेदार होकर किसी कार्य को करते थे, तो उसे सम्भूय समुत्थान कहते थे। सहकारी आधार पर किया गया कार्य भी सम्भूय समुत्थान कहलाता था।[३] सम्भूय का संयोग सम् + भू के आधारपर बराबरबराबर होता था। इसी प्रकार सम् + उत्थान का अर्थ बराबरउन्नति सम्यूसमुत्थान में प्रत्येक भागीदार बराबर का भागीदार होता है। इस प्रक्रिया से सम्बन्धित विवाद, एवं व्यवधान को सम्भूय समुत्थान व्यवहार कहते थे।

(५) दत्तस्यानपाकर्म

जब कोई व्यक्ति पहले विधिपूर्वक किसी द्रव्य का दान देकर पुनः उसे वापिस लेने या न देने की इच्छा व्यक्त करता था, तो उसे दत्तस्यानपाकर्म कहते थे।[४] याज्ञवल्वय ने दत्तस्यानपाकर्म को दत्ताप्रदानिक तथा बृहस्पति ने अदेमाद्य की संज्ञा से अभिहित किया है[५] कुछ देने के उपरान्त यह विचार उत्पन्न होने पर कि वस्तु देने में नियम का अतिक्रमण हुआ है, तत्पश्चात् दी गई वस्तु को पुनः लौटाना दत्तानपाकर्म कहलाता था।[६] नारद ने दत्तस्यानपाकर्म को चार भागों में विभाजित किया है :— १. जो दिया न जा सके, २. जो दिया जा सके, ३. जो देना न्यायानुकूल न हो, ४. जो देना न्यायनुकूल हो।[७] अन्वाहित, धरोहर, याचित, निक्षेप, साझे की वस्तु, पुत्र एवं स्त्री, सन्तान की सम्पत्ति प्रतिश्रुत वस्तु अदेय होती थी।[८]

---

१ अग्निपुराण अ. २५३; मनु. ८.४; याज्ञ. व्य.अ. ११, अर्थ. ३.१६

२ नारद ७.१, मनु. ८.१९९, २०२ याज्ञ. २.१६८, १७०, वि. ५.१६६ अग्निपुराण अ. १६८

३ मनु. अ. ८.४, याज्ञ. व्य.अ. २.२२, अर्थ. ३.१४, नारद ६.१, का. ६२४, अग्निपुराण अ. २५३, बृहस्पति उद्धत स्मृ.च.पृ. २ पर

४ अग्निपुराण अ. २५३, मनु.अ. ८.४, अर्थशा. ३.१६

५ याज्ञ.व्य.अ. २.१२, बृह.उद्धृत स्म.च.पृ. २ पर

६ नारद ७.१

७ नारद ७.२

८ नारद ७.३ से ५, ७७, अर्थ. ३.१६, याज्ञ. २.१७५, का. ६३८, मनु. ९.७, ९, १०, वसिष्ठ ८.१०, विष्णु. ५९८

(६) वेतनादान

भृत्यों (नौकरों) को वेतन देने या न देने के विषय वेतनादान के व्यवहार विषय़ कहलाते थे ।[१] बृहस्पति ने इसे भृत्यादान तथा नारद ने वेतनस्यानपाकर्म की संज्ञा दी है ।[२]

(७) संविद व्यतिक्रम

मनु, याज्ञवल्वय ने संविद व्यतिक्रम तथा बृहस्पतिने समयातिक्रम एवं कौटिल्य, नारद ने समस्यानपाकर्म आदि शीर्षकों में इसका उल्लेख किया है ।[३]

नियत की हुई व्यवस्था का नाम संविद है । उसका उल्लंघन संविद व्यतिक्रम माना जाता था ।[४] अनेक लोगों द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढ़ी या परम्परा को स्वीकार करना संविद होता था ।[५] याज्ञवल्वय ने इसे समझौता माना है ।[६] यह परम्परा दल के सम्पूर्ण सदस्यों को एकता के सूत्र में बांधे रखती थी । शब्द विस्तार की दृष्टि से नास्तिकों, श्रेणियों, निगमों व पूगों के नियम समय या संविद का ही स्वरूप हैं ।[७] इनका अनुकरण अनिवार्य था ।[८] संविद का व्यतिक्रम, संविद व्यवहार कहलाता था ।

(८) क्रयविक्रयानुशय : क्रयविक्रय विवाद

क्रय-विक्रय के पश्चात् पश्चात्ताप अर्थात क्रय के बाद वस्तु लौटा देना विक्रय के बाद वस्तु न देना, क्रयविक्रयानुशय कहलाता था ।[९] इसका शाब्दिक विश्लेषण है क्रय — खरीदना, विक्रय — बेचना, अनुशय — पश्चात्ताप करना । चल व अचल दोनों ही प्रकार की सम्पत्ति इस विवाद का विषय होती थी ।[१०] अग्निपुराण, याज्ञवल्वय, नारद ने इसको क्रीतानुशय एवं विक्रयानुशय या विक्रीयासम्प्रदान नामक दो व्यवहारों में विभक्त किया है । यदि ग्राहक किसी वस्तु का मूल्य देकर, क्रय करने के बाद उस वस्तु को लेना ठीक नहीं समझता, तो उसका

---

१ अग्निपुराण अ. २५३, याज्ञ.व्य.अ. १६, अर्थ. ३.१३, मनु. ८.५

२ बृह. उद्धृत स्मृ.चं.पृ. २ पर, नारद ९.२

३ मनु. ८.५, याज्ञ.व्य.अ. १५, बृह.उद्.स्म.चं.पृ. २, अर्थ. ३.१०, नारद १३.१

४ अग्निपुराण अ. २५७, ऋग्.१.३३.५

५ मनु. ८.२१९, आ प. १.१.१.२०, २.४८.१३ "धर्मज्ञसमयप्रमाणंवेदाश्च"

६ याज्ञ. १.६१

७ नारद १३.१, १३.२, याज्ञ. २.१९२

८ स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः । मनु. ७.३२

९ मनु. ८.५, २२२, याज्ञ. व्य.अ. १३, अर्थ. ३.१५, नारद ११.१, सौरिवाणिजजातक ३

१० नारद ११.२, अग्निपुराण अ. २५८

यह आचरण क्रीतानुशय कहलाता था। यदि व्यापारी किसी द्रव्य या पण्य का मूल्य लेकर विक्रय कर देने के बाद भी खरीददार को वह द्रव्य नहीं देता, तो विक्रेता के इस आचरण को बिक्रीय सम्प्रदान कहते थे।[१]

चल-अचल वस्तु के भेद : अग्निपुराण, अ. २५८

१. गणित	=	जो गिन कर बेची जाये जैसे सुपारी।
२. तुलित	=	जो तोलकर बेची जाये, जैसे सोना, कस्तूरी आदि
३. मेय	=	जो मापकर बेची जाये, जैसे धान, कपड़ा आदि।
४. क्रियोपलक्षित	=	जिसकी चाल या दोहन (दूध निकालकर) शक्ति देखकर बेचा जाये, जैसे गाय, भैंस, बैल, अश्व आदि।
५. रूपोपलक्षित	=	रूप या सौन्दर्य देखकर बेचा जाये, जैसे वेश्या, या दास अथवा दासी।
६. दिप्ति से उपलक्षित	=	जिसकी दिप्ति (आभा) देखकर बेचा जाये, जैसे हीरा, मोती, रत्न आदि।

न बेचने योग्य वस्तु को बेचना अपराध था।[२]

(९) स्वामिपाल विवाद

पशुस्वामी व पशु चरवाहे के मध्य उत्पन्न विवाद, व्यवधान स्वामिपाल-विवाद होता था। स्वामी व सेवक का विवाद भी स्वामिपालविवाद परिधि का विषय था।[३] पशुओं के स्वामी व उनके सेवकों के मध्य उत्पन्न विवादों का निराकरण इसी व्यवहार के अन्तर्गत होता था।[४]

(१०) सीमा विवाद

सीमा विवाद का सम्बन्ध जनपद, ग्राम, खेत या गृह की सीमा से था।[५] क्षेत्र के अधिकार को लेकर सेतु (बांध) केदार (मेंड) और खेत की सीमा के घटने-बढ़ने के विवाद को क्षेत्रज विवाद कहते थे। सीमा से प्रयोजन दो नगर, दो

---

१ अग्निपुराण अ. २५३

२ अग्निपुराण १६८.१६, मित्तविन्दजातक १०४

३ अग्निपुराणअ. २५७, मनु. ८.५, २३०, २३१, याज्ञ.व्य.अ. १०, नारद ९.१२, ११

४ नारद ९.१३, मनु. ८.२३२, २३५, याज्ञ. २.१६४, १६५, विष्णु. ५.१३७, आप. २.२.२८.६, गौ.ध.सू. २.३

५ मनु. ८.६, याज्ञ.व्य. अ. ९.३८, ९ : सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टनिश्चये। क्षेत्राधिकारोयस्तुस्याद्विवाद : क्षेत्रजस्तु सः॥ नारद १४.१

ग्राम, दो खेत एवं दो गृहों के मध्य एवं मार्ग के किनारे पड़ने वाली उस रेखा, चिन्ह, स्थान, वस्तु से होता था जहां एक का अधिकार समाप्त होकर दूसरों का प्रारम्भ होता था।[1] तालाब, पुल, जलप्रवाह के स्थान के निर्धारण का विवाद सीमा विवाद प्रकरण में सम्मिलित होता था।[2] बृहस्पति ने क्षेत्रज विवाद, नारदने भूवाद, कौ. ने वास्तुक-गृहवास्तुक विवाद की संज्ञा दी है।

सीमा-प्रकार[3]

१. ध्वजिनी : जिस पर लम्बे-लम्बे पेड़ खड़े होवें।

२. मत्स्यिनी : जिस पर तालाब, जलाश्य, नदी, झरना होवे।

३. नैधानी : जिस पर गुप्त चिह्न (भूषा, कोयला, पत्थर, ईट, हड्डी, मृदभाण्ड दबे हों) वाली।

४. भयवर्जिता : परस्पर सहयोगे या दलों द्वारा निर्णीत।

५. राजशासननीता — राजा द्वारा निर्णीत सीमा।

परन्तु मनु ने सीमा को तीन प्रकार से मान्यता दी है :—

१. वृक्ष प्रतीक सीमा— सेमल, साल-ताड, बांस झाड़ी से युक्त सीमा। (मनु. ८.२४६, २४७)

२. प्राकृतिक सीमा— नदीप्रवाह, जलस्रोत, तालाब, व जलाशय द्वारा निर्मित सीमा (मनु. ८.२४८)।

३. नैधानी या उपच्छन्नसीमा मिट्टी के बर्तनों में भूसा, कोयला, ईट-पत्थर आदि रखकर भूमि में दबाना। (मनु. ८.२५०-२५१)

बृहस्पति के अनुसार सीमा दो प्रकार की रही थी।

१. प्रकाश प्रत्यक्ष दीखने वाली सीमा।

२. उपांशु या उपछन्न— गुप्त रूप में छिपी सीमा।

सीमा के सम्बन्ध में ज्ञान पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता था। जिससे सीमा को विनाश से बचाया जा सके। तथा प्रत्येक को इस का वास्तविक बोध रह सके।

(११) वाक्पारुष्य[4]

किसी के देश, जाति, कुलादि पर दोषारोपण करना, प्रतिकूल वचन बोलना, व्यंग्य कसना आदि तथा अपशब्द, गालीगलोच, कशाघात वाक्यपारुष्य कहलाता

---

१ अग्निपुराण अ. २५३, २५७, नारद १४.१, का.सू. ७३२

२ मनु. ८.२६४

३ नारद — १४.२, मनु. ८.२४६ से २५१ तक, बृहस्पति, अग्निपुराण अध्याय - २५७, अर्थ. २.१

४ मनु. ८.६१, २६९, याज्ञ.व्य.अ. १८, अर्थ. ३.१८, अर्थ. ३.१८, नारद १८.१, बृहस्पति विष्णु ५.३५, मत्स्यपुराण २२७.६६

था। अनृतआख्यान तथा निन्दा, हुंकार करना, लोक गर्हित रूप में खांसना या अनुकृति करना या उच्चारण करना, झिड़की देना, तीव्रबोलना, निष्ठुर व अश्लील कृत्य करना या बोलना वाक्पारुष्य अपराध बनता था।

वाक्पाररुण्य के प्रकार[२]

नारद (४८.१२.३१) ने वाक्पारुंण्य को तीन भागों में विभक्त किया है। अग्निपुराण ने भी नारद के विभाजन को दोहराया है।

१. निष्ठुर : झिड़की देना, मूर्ख या निष्ठुर कहना।
२. अश्लील : अपमानजनक गाली।
३. तीव्र : भीषण आरोप (ब्रह्म हत्या या मद्यपान)।

बृहस्पति के अनुसार :—

१. लघु : साधारण गाली,
२. मध्यम : माता, बहिन, या उपपातक की गाली।
३. महान्-अपराध : निषिद्ध आचार विचार (या महापातक का आरोप) लगाना।

कौटिल्य के अनुसार :— ३.१८.,

१. उपवाद : अंग विकृति या क्षति पर व्यंग्य करना या कटुकहना।
२. कुत्सन : पागल, मूर्ख कहकर निन्दा करना।
३. अतिसर्जन : वधादि का भय दिखाकर धमकाना या निंदा करना।

(१२) दण्डपारुष्य[३]

दूसरे के शरीर पर या किसी अंग पर आयुद्ध से प्रहार करना, शरीर पर अग्नि, राख, धूल, मल-मूत्र फेंकना, दूसरों को विकलांगकरना हिंसा करना, लड़ाई-

---

१ अग्नि. २५३, अर्थ. ३.१८, का. ६१०, पारा. प्र.अ.धर्मो. का ३३ श्लोक, नारद १८.१, कात्या. ७६८ शा.प.२९९८.९, अनु.पर्व १०४.३१, ३६, हुंकार कासनं चैव लोकेंयच्चविगिर्हितम्। अनुकुर्यादनुब्रूयाद् वाक्पाहण्यं तदुच्यते॥ ७६८ कात्या., ऋग्. ८८१३, ८७९.९, ८८०८, यजु. ९.३५, साम. १.१२.४, ४.१०.२, अथर्व. १५.२.३, ११, १७, २४, २.१.१६, ८.४.१४, ४.३६.१, छान्दो. १.१८, ७.६.१., आप.ध.सू. १.२३.५, गौ.धि.सू. १२.२७, ३.३.१०, १८, अग्नि. १६८.६, महा.आदिपर्व - ८७८, १३, सभा. ६५.१३, उ. पर्व ३३.४४, १०८, ३५.१०, ४०.३ वनपूर्व - १३.९.१०, २८.१९, १२.२८, अवज्ञानंहि लोकेऽस्मिन्मरणादपि गहितम्, वा.रा.आ.का. ९.३.४

२ मनु. ९.५९-६०, याज्ञ. ३.२३४, २४२, विष्णु.ध.सू. ३७, अग्निप.अ. २५८

३ मनु. ८.६, याज्ञ.व्य.अ. १९, बृह. उद्धृतस्मृ.च. - २, पृ. ९, अर्थ. ३.१९, नारद १८.४

झगड़ा, मारपीट, लाठी-रस्सी से पीटना अथवा बांधना, वन-उपवन नष्ट करना, आत्महत्या करना, पशु-पक्षी की हिंसा करना, दूसरों पर ढ़ेला फेंकना या किसी भी प्रकार पीड़ा पहुंचाना। पत्थर, कीच फेंकना दण्ड पारुष्य कहलाता था। यह कृत्य अपने में घोर अपराध था।[1] भ्रूणहत्या एवं मनुष्य की बलि देने वाले को भी दण्डपारुष्य का अपराधी समझा जाता था।

दण्डपारुष्य के प्रकार : नारद १८.५-६

१.	प्रथम	:	आक्रमण की तैयारी करना।
२.	मध्यम	:	बिना किसी अनुशय या परिताप के आक्रमण करना।
३.	उत्तम	:	घायल करना या हिंसा करना।

व्यक्ति या वस्तु की हीनता या मध्यमता के एवं उच्चता के आधार पर इस अपराध का निर्धारण तथा परीक्षण होता था।[2]

(१३) स्तेय[3]

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद ने स्तेय का प्रयोग चोरवृत्ति के रूप में किया है। परन्तु बृहस्पति व कौटिल्य ने इसे साहस प्रकरण में समाविष्ट किया है।[4] परद्रव्य-हरण, परोक्ष या प्रत्यक्ष, दिन या रात्रि, आदि में, जब भी होता था तो इसे स्तेय कहते थे।[5] सोते हुए, असावधानी में उन्मत्तावस्था में धन का अपहरण हो

---

१ अग्नि पृ. २५३; २५६८ १६८.२४४, अर्थ. ३.१९, १४.७, ४.१०, नारद १८.१, याज्ञ. २.२.२, ऋग्.७.३२.९,८.१०.४,८.१७.६,८.१९.२७-२८,८.२०.१,८.६७.१४,१.३१.१४, १.४४.२,१.१४२.५,१.३६.१६,४.२३.७,४.४५.५,यजु.२५.३५-३६,अर्थ.१५.५.१-१६, १६.१.३,८.४.२०, २२, १२.१.५०, ८.३.१, २, ३, २१, ४.३६.१-२, ४, ६-८, ११.२.२०, महा.शा.पर्व १३५.१३-१४.३५, १८०.२१, अनु.पर्व ११५.६, वा.रामा.ए.का. ७३.७, मनु. ९.२३५, ११.५५-५६, कुलावक जातक ३१, मतकभत जातक — १८, दण्डपारुषण्यं स्पर्शनमवगुर्णनं प्रहतमिति। अर्थ. ३.१९, हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांशुभिः। आयुधैश्चप्रहरणं दण्डपारुष्यमुच्यते॥ बृहस्पति (उद्धृत दिवादरत्नाकर, पृ. २५९) सम्वृतस्मृति, ब्रह्मचर्यवर्णनम् १०८ पाराशरस्मृति प्र.अ. ६४, छानदो. ७.१५.२, बृहद.उ. १.४.११, ३.५, ४.१, ४.३.२२, — आपस्तम्ब ध.सू. १.१७.२९-३९, १.२१.८, १५, १.१८.२, ३, गौ.ध.सू. १.२.२३, ३.३.२०, बो.ध.सू. १.५.१२.१-७, २.७.१२.८, ३.३.३.६, दुम्मेघ जातक - ५०, सिगालजातक - ११३, कुसनालिजातक - १२१, चुल्लनन्दियजातक — २२, सेय्यतजातक - २८२, मणिसूकर जातक - २८५, घुसजातक - ३३८, सुतनुजातक - ३९६, महोवोधिजातक - ५२८, भूरिजातक - ५४३

२ नारद १६.६

३ मनु. ८.१३, याज्ञ.व्य.अ.प्र. २३, ऋग्वेद - -६.२८.३, अग्निपुराण अ. २०७

४ अर्थशास्त्र ३.१७, बृह.

५ नारद - १७.१७, मनु. ८.३३२, अर्थ. ३.१७

जाना भी स्तेय था।[१] ऋग्वेद में स्तेय को दो भागों में विभक्त किया है, १. स्तेन — परोक्ष स्तेय २. तस्कर — प्रत्यक्ष स्तेय।[२]

स्तेय का प्रकार : नारद — १७.१७ के अनुसार

१. साधारण	:	साधारण खाद्य सामग्री (आटा-दाल) साधारण उपकरण (खाट, गिलास थाली)।
२. मध्यम	:	रेशम, पशु, स्वर्ण, चावल आदि।
३. उत्तम	:	स्त्री-पुरुष, बालक, पालतु पशु, मंदिरों के धन की चोरी।

मनु के अनुसार : ९.२५६ : बृहस्पति (उद्.स्मृ.चं.पृ — ३१)

१. प्रकाश	:	व्यापारी, जुआरी, मिथ्याचिकित्सक, उतकोचक, वैश्यायें, दलाल, अशुद्ध एवं अप्रानाणिक वस्तुओं के व्यापारी, हस्तरेखा विशेषज्ञ, भविष्यवक्ता, जादूगर, कूट साक्षी देने वालों को प्रत्यक्ष चौरवृत्ति माना है।
२. अप्रकाश (परोक्ष)—		सेन्ध लगाने वाले तस्कर। मनु ने इनके भी उपभेद किये हैं।

१. उत्क्षेपक = सामान उठानेवाला, उचक्का, २. सन्धिभेता, ३. पांथमुट (यात्रियों को लूटने वाला), ४. ग्रन्थिभेदक (जेबकतरा) ५. स्त्री-चोर, ६.पुरुषचोर, ७. पशुचोर, ८. अश्वचोर, ९. अन्य पशुपक्षी चोर। दूसरे की सम्पत्ति का लोभवश हरण स्तेय कहलाता था। स्तेयवृत्तिको पाप व अपराध मानकर निषिद्ध करना स्मृतिकारों एवं धर्मशास्त्रकारों का लक्ष्य रहा था।[३] उन महत्वपूर्ण स्थानों पर जिस जगह स्तेन एव तस्करों के रखने, घूमने, फिरने का सन्देह होता था, गुप्तचर छोड़ कर पकड़ने,

---

१ ऋग्वेद ६.२८.७, ६.६७.१४४, ७.५५.३

२ याज्ञ. २.२७५, नारद १७.१३-१६

३ ऋग्वेद : ८.३५.१६, ८.३७.७, ८.६७.१७, १०.६०.६, यजु. ९.३५ अथर्व. १६.१.३, ३.२९.१, ३.९, ८.४.१०, १३, ४.३६.३, ७, छान्दो. प्रथम अध्याय, प्रथम खण्ड, बृह.उप.अ.४, ब्राह. - १, ३; आप.ध.सू. १.२१८, गौ.ध.सू. ३.३.१; अग्निपुराण १६८.११; कौत्स, हारीत, काण्व, युष्कर, उद्धृत आप.ध.सू.सूक्त १.२७.१; सम्वतस्मृति ब्रह्मचर्यवर्णनम् १०८; वेदव्यजातक - ४८; असंक्रिय जातक ७६ पुप्फरत जातक - १४७; मणिचोरजातक - १९४; वेरीजातक - १०.३; गामणिचन्द्र जातक - २५७; मन्डतिन्दु जातक - ५२० पद्कुसलंमाणवजातक - ४३२ सत्तिगुम्बजातक - ५०३

पता लगाने की व्यवस्था की जाती थी ।[१] स्तेय से तप, शील, सत्य, स्मृति, मति, यश, कीर्ति, ज्ञान सभी नष्ट हो जाते हैं । चोर की सहायता करने वाला, एवं अधर्म के धन की जानबूझ कर चोरी करने वाला चोर ही होता था ।[२] परन्तु गायार्थ चारा, अग्नि हेतु ईधन, पूजार्थ लता वृक्षों के फूल तथा अरक्षित पेड़ों के फलों को वास्तविक-स्वामी की अनुमति बिना स्वेच्छापूर्वक लेना स्तेय नहीं होता था ।[३]

(१४) साहस[४]

साहस प्रकरण के अन्तर्गत लूट, हत्या, डकैती, बलात्कार जैसे अपराधों की गणना होती थी । ऐसा कर्म जो राजकर्मचारियों, सुरक्षा अधिकारियों को उपस्थिति में दूसरों को उत्पीडित करने के प्रयोजन से किया जाये, साहस कहलाता था । बल व हिंसा के प्रयोगाधार पर किया गया कार्य साहस था । सब लोगों के सम्मुख बल के अभिधान से किया गया अपहरण साहस होता था ।[५] सहस् (बल) शब्द से साहस को उत्पत्ति मानी जाती है । ध्वनि से प्रत्यक्ष है कि साहस (बल) का प्रयोग साहस होता है । नारद ने साहस को वध प्रसंग में रखा है ।

साहस के मुख्य विषय — १. मनुष्य वधु २. स्तेय, ३. स्त्री अपहरण, ४. पारुष्य ।[६]

'साहस' प्रकार : साहस का वर्गीकरण स्मृतिकारों ने निम्नप्रकार से किया था ।[७]

---

१ याज्ञ. २.२६६-६८, मनु. ९.२६१-२६६; उद्यानेषुविहारेषु देवलायनेषु च, पानागारेषु रथ्यासु सर्वतोर्थोषुचाप्यथा । चत्वरेषुच कूपेषु पर्वतेषु च, समवायेषुर्वेषु सरितसु च - ६४ विचारयेत ॥ - ६५ - आ.पर्व, १३९ महा. (उद्यान, घूमने फिरने के स्थान, देवता, मद्यपान के स्थान, गली, या सड़क, सम्पूर्ण तीर्थस्थान, चौराहे, कुयें, पर्वत, वन, नदी, तथा जहां मनुष्य भीड रूप में एकत्र होते हैं, उन सभी स्थानों में अपने गुप्तचर छोड़े ।) ऋग्वेद - ८.७८.६

२ गौ.ध.सू. २.३.४६

३ गौ.ध.सू. २.३.२५

४ मनु. अ. ८.१४, याज्ञ. व्य.अ. प्रकरण अ. २०

५ मनु. ८.३२२; अर्थ. ३.१७; नारद १७.१; याज्ञ. २.२३०; अग्नि. - २५८ स्यात्साहसं त्वनययवत प्रसभंकर्मयत्कृतम । - मनु. ८.३३२, (स्वामी के सम्मुख परिवार जनों के समान बलपूर्वक वस्तु ले जाना साहस है ।) ::सहसाक्रियते कर्म यत्किंचिद बलदर्पितैः । तत्साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते ॥ - अर्थ. ३.१७

६ नारद १७.२, बृह. ३६; उद्.स्मृ.चं.२, पृ - ३१२

७ नारद १७.३-६

१. प्रथम साहस : नाश करना, वाक्पारुष्य, कृषि जनित वस्तुओं व ओजारों की तोड़-फोड़।

२. मध्यम साहस : वस्त्र, भोजन, पेय पदार्थ, बर्तनों को नष्ट करना

३. उत्तम साहस : डकैती, वध, स्त्रीसंग्रहण।

साहस को अशान्ति व असुरक्षा का प्रतीक मानते हुए उपेक्षित-समझा जाता था।[१]

(१५) स्त्रीसंग्रह[२]

कामवासना के वशीभूत होकर किसी नारी का पर-पुरुषके साथ संयोग या पुरुष का नर-नारी के साथ मिलन स्त्रीसंग्रहण कहलाता था।[३] नग्न स्त्री देखना, नारी की ओर हंसना, स्त्री का मुख चूमना, स्त्रीप्राप्ति की कामना करना, बिना कारण स्त्री का स्पर्श करना स्त्रीसंग्रहण अपराध माना जाता था।[४] माता और पिता योनि सम्बन्ध वाली स्त्रियों (माता की बहिन, पिता की बहिन, तथा उनकी पुत्रियों), मौसी, मामा, बुआ, चाचा को पुत्री के साथ मैथुन करना तथा माता, श्रेष्ठ स्त्रियों, पिता की प्रिया स्त्रियों, गुरुपत्नी के साथ वासनातृप्ति महान अपराध होता था।[५]

स्त्रीसंग्रह के प्रकार — बृहस्पति के अनुसार (उद्.स्मृतिचं.२, पृ - ८)

१. बलपूर्वक : स्त्री की इच्छा के विरूद्ध उसके साथ बलपूर्वक गुप्त स्थान में सम्भोग करना भ्रमित, पागल, अ-शान्त, व व्यथित नारी के साथ रमण करना बला-त्कार था।

२. धोखे से : किसी प्रकार धोखे से या बहकाकर, फुसलाकर या नशीली वस्तु पिलाकर सम्भोग करना।

३. कामपिपासा : आंगिक चेष्टायें कर या सन्देश भेजकर या परस्पर सौन्दर्य व धनलोलुपता के कारण सम्भोग क्रिया का आनन्द प्राप्त करना।

कामपिपासा को भी तीन उपभागों में विभक्त किया गया था

---

१ ऋग्.८.२०.१,४.१८.४; यजु.१.१,९.३५, अर्थ.१६.१.३१,१२.१.५,१२.१.४७,३.२९.१, १६, १७, २४; ८.४.१, ७, ९; ४.३६.७,९; बृह. ४.१, ५.२.३; अग्निपु. १६८.९; महा.आदिपर्व ७९.७;८७.५; उ.पर्व. ३३.४४; गिज्झजातक १६४; पुचिमन्दजातक ३१०

२ याज्ञ. व्य.अ प्रकरण २४; मनु ८.६

३ याज्ञ. २.२८३

४ आ प.ध.सू. १.७.३-१०

५ आ प.ध.सू. १.२१.८.१०.१३, गौ.ध.सू. ३.३.१

अ. प्रथम : आंगिक चेष्टायें (आंखमारना, मुस्कराना, हंसना, गाना, इंगित करना, वस्त्र व आभूषण छूना)

ब. मध्यम : सौन्दर्यप्रदर्शन करना, सौन्दर्यप्रसाधन का सामान देना, गुप्त बातचीत करना आदि ।

स. गम्भीर : परस्पर चुम्बन करना, आलिंगन करना, घूमना, एक ही बिस्तंर पर सोना आदि[1]

पापपूर्ण कृत्य मानते हुए परनारी, परकन्या, एवं पशु व मूर्ति से रमण करने का निषेध सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में स्मृति में विकसित हुआ था । कामवासना मे लिप्त मानव को पामर व पतित माना जाता था ।[2] बृहदारणक्य उपनिषद १.४.३ में इष्ट विषय के संयोग से होने वाली क्रीड़ा का नाम रति माना है । छान्दो.उप. १.१.६ में पारस्परिक संसर्ग मिथुन को ग्राम्यव्यवहार कहा है । आपस्तम्ब धर्मसूत्र २. ।३.३ में परविवाहिता नारी एवं भिन्न वर्ण वाली स्त्रियों से संसर्ग को मैथुनापराध माना गया है । विकण्णजातक में कामुकता को तीक्ष्ण शल्य सदृश कहा है ।

सन्तानोत्पत्ति से पूर्व पति का देहान्त हो जाने पर, सन्तान की इच्छा के निमित्त देवर या एक पिण्ड के, एक गोत्र या एक प्रवर पुरुष के साथ अथवा इन सबके सम्भव न होने पर अपनी जाति के पुरुष से रमण करना स्मृतिसम्मत रहा था । परन्तु एक सन्तान के पश्चात दूसरी सन्तान की अनुमति स्मृतिकारों ने प्रदान नहीं की थी ।[3] पति के अज्ञात स्थान पर चले जाने के कारण ६ वर्ष तक, तथा विद्या

---

१ अग्निपुराण अ. २५८
स्त्रीपुंसयोर्मिथुर्नाभावः संग्रहगम्। - मिताक्षरा (याज्ञ. २.२८३ संग्रहणं परस्त्रियासहपुरुषस्य सम्बन्ध। बृहस्पति (उद.स्मृ.च.२ पृ. - ८)

२ ऋग्. ७.१८८, ८.६९.२, ८.७०.११, १.११२.१९, ४.३०.९.११; यजु. ९.३५, ११.३९, ३०.२०, २५.२१; अर्थवेद ७.९५.१; गौ.ध.सू. ३.३.१, ३.३.९; बृह.उप. १.४.३; छान्दो. १.१.६; २.१३.१; महा.:वनपर्व - १३.७; उद्योगपर्व - ३३.४४; ३५.९; शा.पर्व - ५९.६०, ९०.३३;वा.रामा.अ.कां. ९.३-४; अग्निपु. १६८.३, १२; पारा.स्मृ.प्रथम अ.: धर्मोपदेश ६४; अंडभुतजातक - ६२, कोसियजा. १३०; राधजा. १४५; गृहप.जा. १९९, मुदुपाणी जा. २६२, कर्णवेर जा. ३१८

३ अपतिरपत्यालिप्सुर्देवरात्। गौ.धौ.सू.प्र.२, अ.९, सू.४; सन्तानोत्पत्ति के पूर्व पति की मृत्यु होने पर देवर से संतानप्राप्ति की इच्छा करे; पिण्डगोत्रसम्बन्धभ्योयोनिमात्राद्धा। - गौ.ध.सू. २९८: (एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान उत्पन्न न करे।) नातिद्वित्तीयं गौ.धर्म सू. प्र.२ अ.९ सू.८, (एकसन्तान के बाद दूसरी सन्तान उत्पन्न न करे)।

अध्ययनार्थ चले जाने पर बारह वर्ष तक उसके लौटने की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।[१]

अन्डभूत जातक मे स्त्रीसंग्रह की घटना के अनुसार ब्राह्मण की पत्नी माणविका अपने प्रेमी को मकान में छिपाकर रखती तथा उस से रमण करती थी। बन्धनमोक्ख जातक के अनुसार रानी एक साथ साठ पुरुषों से बलात्कार करती रही थी। राजपुरुष स्त्रीसंग्रहण अनुरागी होते थे। (लोहकुम्भी जातक) राजा, अमात्यों की पत्नियों से रमण किया करते थे (विधुर जातक)।स्त्री संग्रह अपनी चरम सीमा पर था।

(१६) स्त्रीपुंधर्म

स्त्री और पुरुष से सम्बन्धित विवाह व्यवस्था आदि के विवाद को स्त्रपुंसविवाद कहते थे। स्त्रीपुरुष आचरण को इसी श्रेणी में रखा जाता था।[२] पति-पत्नी के कर्तव्य, पत्नी की रक्षा, पत्नी का सम्मान अनिवार्य था।[३] अक्षतयोनि तथा समान जाति व कम आयु की कन्या से विवाह मान्य रहा था।[४] पिंगलबालों वाली, अधिक न्यूनांगों से युक्त एवं विकृतांगों वाली के साथ विवाह निषिद्ध था।[५] सपिण्ड कन्या भार्या नहीं बन सकती थी।[६] सात पीढियों के उपरान्त पिता व पांच पीढियों के उपरान्त माता की ओर से सपिण्ड का प्रतिबन्ध समाप्त हो जाता था।[७] विवाह आयु निर्धारण निम्नवत् होता था।[८]

पुरुष आयु = ३० : २४

---

१ गौ.ध.सू. २९.१५, १७

२ नानावर्णासुभार्यासु सवर्णासहवारिणी। धर्म्याधर्मेषु धर्मिष्ठाज्यष्ठातस्य स्वजातिषु १ (स्वर्णाभार्या ही सहचारिणी व ज्येष्ठ मानी जाती थी) विवाहविधियोग, वेदव्यास्मृति।; मनु. ८.७, अग्निपृ. २५३ अर्थशा. ३.२, ३.४, नारद १६.३०

३ मनु. ९.१, २, ३.४, नारद १६.३०, मनु. ९.७, ९.२२, २४, २६; हारीत (उद.स्मृ.चं.२, पृ - २३९) शंलिखित उद.स्मृ.चं. २ पृ - २४१, याज्ञ. १८२

४ गौ. ४.१, वसि. ८.१, याज्ञ. १.५२, मनु. ३.४, १२

५ मनु. ३.८, विष्णुध.सू. २४.१२, १६

६ आप. २.५.११.१५, १६, वसि.ध.सू. ८.१, याज्ञ. १.५३, व्यास २.२, वेद. स्मृ. २.२ विवाहविधिवर्णनम्। मनु. ३.५

७ गौ. ४.२, वसि. ८.२, वि.ध.सू. २४.१० याज्ञ. १.५३ शंखस्मृति चतुर्थअध्याय।मातृपंचमीऽचापि पितृतस्तूवथसप्तमीप॥१॥ शंखस्मृति चतुर्थ अ. विवाह का वर्णनं।

मनु. ९.९४ वि.पुराण ३.१०.१६, महा.अनु.पर्व ४४.१४

पत्नी आयु = १२ : ०८

विवाह अवस्था में १.३ का अनुपात अनिवार्य होता था।

पुरुष आयु = २१ : ३०

पत्नी आयु = ०७ : १०

गुणवान वर के साथ ही कन्या का विवाह होता था।[१] परन्तु कन्या का विक्रय अवैध था।[२] निम्न श्रेणी लोग पुत्र विक्रय कर सकते थे।[३] पत्नी का हंसमुख, दक्ष, कुशल, सुनागरिका होना अनिवार्य था। पति के प्रति उसे आचरणशीलता को निभाना आवश्यक होता था।[४]

विवाह के प्रकार

स्मृतिकारों ने अपनपे काल में आठ प्रकार के विवाहों — ब्राह्म, देव, आर्ष, प्राजापत, आसुर गान्धर्व, राक्षस, पेशाच, का उल्लेख किया है।[५] किन्तु आपस्तम्ब ने कुल ६ विवाहों का उल्लेख किया है। उसने, इस क्रम में, प्राजापत्य व पैशाच को सम्मलित नहीं किया है।[६] आसुर और पैशाच विवाह को मनु (३.२५) ने निषिद्ध माना है; गान्धर्व और राक्षस को उसने (३.२६) केवल क्षत्रियों के लिये वैद्य ठहराया। अनेक अवसरों पर आसुर विवाह को वेश्या व शूद्रों के लिये उपयुक्त माना गया। मनु (३.२४) सम्पूर्ण विवाहों में ब्राह्म विवाह को श्रेष्ठ मानते हैं। अन्य विवाहों को क्रमानुसार श्रेष्ठ व उत्तम स्वीकृत किया गया।[७]

---

१ अनु.पर्व. ४४.१६, बो.ध.सू. ४.१.१४, वसिध.सू. १७.६७-८६

२ मनु. ९.९८, याज्ञ. ३.२३६, अनु.पर्व ९३.१३५

३ याज्ञ. २.११८-११९, १७५, २३४; विष्णुध.सू. ५.११३-११४, को. ३.२०; मनु. ८.२९९-३००

४ मनु. ५.१५४, १५६, याज्ञ. १.७७, १८३-८७; रामा.अ.को. २४.२६-२७ महा.अनु.पर्व - १४६.५५, शा.प. १४८.६-७, वनपर्व - २३३.१९-५८; मत्स्य पृ. २१०.१८ वि.ध.सू. २५.२, व्यासस्मृ. २.२०-३२, मनु. ५.१५०

५ ब्राहमोदेवस्तथैवाऽऽर्षः प्राजापत्यस्तथाऽऽसुरः। गान्धर्वोराक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽथमः - २ शंखस्मृति चतुर्थाध्याय ब्राह्मोदेवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः। गान्धर्वोराक्षसश्चैवपैशाचश्चाष्टमो धर्मः ॥ २१ अ. ३ मनुस्मृति; मनु. ३.२१ याज्ञ. १.५८; बो.ध.सू. १.११; अर्थ. ३.१, महा.आ.पर्व ७३८-९, १०२१२-१५; विष्णपुराण तृतीयांश अ. १०; विष्णुध.सू. २४.१८-१९; गौ.ध.सू. प्रश्न - १; अ.४ सू. - ४ से १० तक; ब्राह्मोदेवआर्षोगान्धर्वःक्षात्त्रोमानुष्श्चेति १.२९, विष्णुस्मृतिविवाहवर्णन

६ आप.ध.सू.प्रश्न - २; क. ११; सू. १७-२०; तथा २.१२, सू. १-२; वसिष्ठ स्मृतिष्डविवाहा २८, (ब्राह्मोदेवआर्षोगान्धर्वःक्षात्त्रोमानुष्श्चेति। - २९)

७ आप. २.५.१२.३; नारद (स्त्रीपुस ४४); बो.स्मृ.विप्रकरण श्लोक - १२; (तेष्वपिपूर्वःपूर्वश्रेयान् १.११, उत्तरेषामुत्तसेत्तरःपापीयान १.१२)

१. ब्राह्मविवाह[१] — अलंकारों से अलंकृत, रत्नमंडित कन्या, जब किसी सुचरित्रवान्, वेदज्ञवर को निमन्त्रित कर, (पिता द्वारा) दी जाती थी। (मनु ३.२७)

२. देवविवाह[२] — जब पिता अलंकृत व सुसज्जित कन्या को, यज्ञ करने वाले पुरोहित को अर्पित करता था (मनु. ३.२८)

३. आर्ष विवाह[३] — एक गाय अथवा बैल वर से लेकर जब पिता कन्या को वर को देता था उसे आर्ष विवाह कहते थे। (मनु. ३.२९)

४. प्राजापत्य[४] — वर व कन्या को यह आशीर्वाद देते हुए कि "तुम दोनों धर्माचरण करना" पिता द्वारा वर को कन्या दी जाती थी। (मनु. ३.३०)। याज्ञवल्क्य ने इसे काय विवाह कहा है, (आचार अध्याय - श्लोक - ६०)

५. आसुरविवाह[५] — वर द्वारा कन्या पक्ष को मूल्य देकर कन्या के पिता से कन्या प्राप्त करना आसुर विवाह कहलाता था।(मनु. .३.३१)

---

१ आच्छाद्यचार्चयि वा च श्रुति शीलवतेस्वयम्। आहूयदानं कन्याया ब्राहोधर्मः प्रकीतिर्त ॥ २७;अ.३; मनु. श्रुतशीलेविज्ञायब्रहमचारिने ऽथिनिदयते स ब्राह्मः २; बौ.स्मृ.वि.प्रकरण कन्यादानं कन्या मलकृत्यब्राह्मोविवाह अर्थ. ३.२

२ यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विज कर्मकुर्वते। अलंकृतत्यसूतादानं देवधर्मप्रचक्षते ॥ २८; मनु.अ. ३; दक्षिणासुनियमानास्वन्तवेदमृत्विजेसदेवः ५; बौ.स्मृ. विवाहप्रकरण; अन्तर्वेधामृत्विजेदानाद्दैवः अर्थ. ३.२

३ एकं गौ मिथुनं द्वेवावरादादायधर्मतः। कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते। मनु. २९.३; पुर्वालाजाहुत्वा गौ मिथुनं कन्यावतेदद्यात्स आर्षः। बौ.स्मृ.वि. प्रकरण - ४; गौ मिथुनंदानादार्षः अर्थ. ३.२

४ सहनोचरतां धर्मे मितिवाचानुभाष्य चाकन्या प्रदानमभ्यर्च्यप्राजापत्यो विधिःस्मृतः; मनु. ३०.३; आच्छाद्यातंकृत्येष। सहधर्मचर्यतामिति प्राजापत्यः बौ.स्मृ.वि.प्र. - ३; सहधर्मचयाप्राजापत्यं अर्थ. ३.२

५ धनेवोपदतोष्याऽऽसुर ६ :बौ.ध.स्मृ.वि.प्र.६; शुल्कादानादासुरः अर्थ. ३.२ ज्ञातिभ्योद्रविणदत्वाकन्यायै चैव शक्तिः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरोधर्म उच्यते। मनु. ३.३१

६. गान्धर्वविवाह[1] —	वं कन्या को परस्पर सहमति एवं प्रेमभावना के आधार पर किया गया विवाह गार्न्धवविवाह कहलाता था। (मनु. ३.३२)
७. राक्षसविवाह[2] —	कन्या पक्ष के परिवार को हानि पहुंचाकर, रोते बिलखते कन्या को बलपूर्वक छीनना राक्षसविवाह कहलाता था। (मनु. ३.३३)
८. पैशाच विवाह[3] —	सुप्त, अचेत, या उन्मत्त, अज्ञात, रोगी कन्या से सम्भोग करना पैशाच विवाह कहलाता था। (मनु. ३.३४)

प्रथम चार प्रकार के विवाहों को श्रेष्ठ माना जाता था।[4] स्त्रीं पुरुष के सम्बन्ध में किसी प्रकार का धोखा, कपट, व्यवधान, गत्यावरोध, स्त्रीधन विवाहविच्छेद आदि स्त्रीपुंधर्म व्यवहार का विषय होता था।

(१७) विभाग[5] : दायभाग

पैतृतक धन का विभाजन दायभाग कहलाता था।[6] जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं उसे दायभाग व्यवहार कहते थे। (नारद-पद्य,, २; दायभाग) । वह धन जो धन के स्वामी के सम्बन्ध से किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाता था।[7]

दायभाग को दो कोटियों में विभाजित किया गया था।[8] —

१. अप्रतिबन्ध २. सप्रतिबन्ध।

---

१ सकामेनसकामाया मिथः सयोगी गान्धर्वः ; बौ.स्मृ.वि. प्र. ७ ; मिथः समवायागान्धर्वः ; अर्थ. ३.२, इच्छयान्योन्यसयोन्यसेयोगः कन्यायाश्चवरस्य च। गान्धर्वःसतु विज्ञेयोमैथुन्य का- मसम्भवः। मनु. ३.३२

२ प्रसह्यहरणाद्राक्षसः बौ.स्मृ.वि.प्र. ९; प्रसह्यदानाद्राक्षसः अर्थ. ३.२; हत्वाछित्वा च भित्वा चं क्रोशन्तागृहात्। प्रसाह्यकन्याहरणंराक्षसो विधि रुच्यते; मनु. ३.३३

३ सुप्तांमत्तांप्रमत्तांवोपयच्छेदिति पैशाचः; बौ.स्मृ.वि.प्र.९; सुप्तादानात्पैशाचः। सुप्तांमत्तांप्रमतांवारहो यत्रोपगच्छति। सपापिष्ठो विवाहाना पैशाचश्चाटमोऽधर्मः; अर्थ. ३.२

४ विष्णु स्मृति विवाहप्रकरण, (एतेष्वााधाश्चत्वारोधर्म्माः) अर्थ. ३.२

५ मनु. ८.७, याज्ञ. व्य.अ.प्रकरण - ८; अर्थ. ३.५, ६, ७; बृह.

६ अग्निपुराण अ. २५६; पाराशर स्मृ. ३८

७ याज्ञ. २.११४; पर मिताक्षरा;। : अग्निपुराण अ. २५६

८ अग्निपुराण अ. २५६

१. अप्रतिबन्धदाय : पुत्रों का पुत्रत्व और पौत्रत्व के कारण पिता और पितामह के धन व सभी प्रकार की संपत्तियों पर अनायास ही स्वत्व हो जाता है, अत एव सम्म्पत्ति व धन अप्रतिबन्धदाय कहलाता है । आगत वंश-परम्परा के कारण धन की प्राप्ति दाय कहलाती थी ।

२. सप्रतिबन्धदाय : चाचा और भाई आदि को पुत्र और स्वामी के अभाव में धन पर अधिकार प्राप्त होता है । इस लिए इसे सप्रतिबन्धदाय कहते थे ।

विभाग से प्रयोजन धन व सम्पत्ति को बांटकर प्रत्येकांश को पृथक्-पृथक् करने से था ।[१]

दायभाग का आधार या उदग्मम : गौ.स्मृति के अनुसार (१०.३९-४२) ।

१. रिक्थ (वसियत), २. क्रय करना, ३. संविभाग (अपने अंश धारियों से विभाजन), ४. परिग्रह (बलपूर्व छीनी हुई सम्पत्ति), ५. अधिगम् (अचानक, गुप्तधन या कोष पर अधिकार या पुरस्कार में मिली सम्पत्ति),[२] परन्तु मनु ने इसके सात आधार गिनाये हैं[३] (१) नौकरी (२) गुप्तधन, (३) क्रय, (४) जाति से मिला धन, (५) व्यापार करना (६) अन्य पवित्र कर्म करने से प्राप्त, (७) उत्तम दान प्राप्त । — गौतम ने ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र के लिए क्रमश दान मे मिला धन विजय में प्राप्त धन, कृषिलाभ से मिला धन, एवं सेवा कर्म से मिले धन को स्वत्व के अतिरिक्त साधन माना है ।[४] रिक्थ संविभाग से प्रयोजन दायभाग का विभाजन है । सम्पत्ति विभाजन की धारणा शास्त्रों में अनादिकाल से स्थिर है, स्मृतिकाल में इसे सुव्यवस्थित आधार प्राप्त हुआ था । निन्दनीय कर्मो द्वारा अर्जित ब्राह्मण के धन को स्वत्व के उद्गम से पृथक् रखा जाता था ।[५] शास्त्रोक्त विधि से उत्पन्न पुत्र माता पिता के दाय का अंशग्राही होता था ।[६] पितामह की सम्पत्तिं में पिता व पुत्र के

---

१ अग्निपुराण अ. २५६

२ गौतम १०.३९-४२

३ सम्तवित्तागमाधर्म्या दायो लाभः कृयो जयः।
प्रयोगः कर्मयोगशच सत्प्रतिग्रह एव च ॥ ११५ मनु. अ. १०

४ गौतम स्मृति १०.४१

५ मनु. ११.१९३; विष्णुध.सू. ५४.२८

६ आप. २.१३.२

स्वामित्व सम्बन्धी अधिकार एक समान होते थे।[१] परन्तु शारीरिक, मानसिक, आचरणहीनता जैसे पागल, जड़, नपुंसक, पतित अन्ध, असाध्यरोगी, संन्यासी दायविभाग से वंचित रहते थे। बधिर, पंगु, गूंगा, पितृद्रोही भी दाय प्राप्त नहीं कर सकते थे।[२] शारीरिकरूप से पागल व जड़ पुत्र को मनु ने (९.२०) एवं याज्ञवल्वय ने (२.१४०-१४१), अनंश या निरशंक (दाय के अयोग्य) मानते हुए उनके भरण-पोषण का दायित्व अंशधारियों पर ड़ाला है।[३]

पुत्र

दाय का प्रमुख अधिकारी या अंशग्राही पुत्र होता था। पुत्र के द्वारा पितृगण से मुक्ति, अमरत्व की प्राप्ति तक सम्भव मानी जाती थी। विभिन्न कल्याणकारी कार्यो अथवा मार्गो का साधन पुत्र ही है — ऐसा स्मृतिकारों का दृढ़विश्वास रहा था। पुत्र से वंश अविच्छिन्न रूप में अग्रसर होता रहता है।[४] वृद्धावस्था का एक मात्र अवलम्ब पुत्र ही होता है। पुत्त नामक नरक से पिता को रक्षा पुत्र हो करता है। पुत्र पिता की अपनी आत्मा है। मनु. (९.१३६) के अनुसार पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र प्रशंसा के आधार हैं। पुत्र से मानव उच्च लोक, पौत्र से अमरता, प्रपौत्र से सूर्यलोक प्राप्त करता है। पुत्र नरक भय से मुक्त कर वृद्धावस्था का सहायक होता है। पुत्र कल्याण का आधार है। ऐसी स्मृतिवारों को सुनिश्चित धारणा रही है।[५] जो आगे बलवती होती गई। वर्तमान में भी उसकी पकड़ सुदृढ है। नारद (४.५) व द्रोणचार्य (१७३.५४) ने पुत्र को पितृ-श्रृण से मोक्ष का हेतु माना है।

---

१ याज्ञ. २.१२१; विष्णु १७.२

२ मनु. ९.२०१; याज्ञ. २.१४०; नारद (दायभाग २१-२२); गौ.स्मृ. २८.४१; आप. २.६.१४; वसिष्ठ स्मृ. १७.५१-५३; विष्णु स्मृ. १५.३२-३८; अर्थ. ३.५; बौ.ध.सू. २.२.४३-४४; देवलस्मृ. (दायभाग ५.११; मनु.अ. ९.२०१ याज्ञ. २.१४०)

३ अग्निपु. २५६, अर्थ.शा. ३.५

४ मनु. ८.१०६, १०७, याज्ञ. १.७८

५ मनु. ९.३.१३८; विष्णुस्मृ. १५.४४; आ.पर्व २२९.१४; पुदिति नरक स्याख्या दुःख च नरं विदुः। पुदित्राणात्ततः पुत्रमिहच्छन्ति परत्रु च॥ बौ.ध्र.सू. १.२.५; आत्मापुत्र इतिप्रोक्तः पितुर्मातुरनुग्रहात्। शंखलिखित वि.रत्लाकर पृ. ५५५; पुत्रेण लोकाज्जयति पौत्रणनन्त्यमानुते अर्थपुत्रस्यपोत्रेण ब्रध्नस्योप्नोतिविष्टयम्॥ मनु. ९.१३७; वसि.स्मृ. १७.५/बौ.ध.सू. २.९.७; वि.स्मृ. १५.४६; विष्णु. ८५.६७; मत्स्य पृ. २२.६; वायु १५०.१०; अत्रिस्मृ. ५५; कांक्षन्तिपितरः पुत्रान्नरकापातभीरवः। पालयिष्यति वृद्धत्वेश्राद्धं दास्यतिवान्वहम्॥ बृह.उद.परा. १.२, पृं ३०

पुत्र प्रकार :—

स्मृतिकारों ने ११ से १३ प्रकार पुत्रों का उल्लेख अपने स्मृतिग्रन्थों में किया है ।[1] — १. ओरस, २. पुत्रिका पुत्र, ३. क्षेत्रज, ४. दत्त, ५. कृत्रिम, ६. गृढ़ोत्पन्न, ७. अपविद्ध, ८. कानीन, ९. सहोढ़, १०. क्रीत, ११. पौनर्भव, १२. स्वयंदत्त, १३. शौद्र ।

१. औरस[2] — शास्त्र द्वारा व्यवस्थित नियमों के अनुसार सजातीय विवाहिता पत्नी से पति द्वारा उत्पन्न पुत्र ।

ग्वक्षेत्र संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयोद्वियम् । तमोरसं विजानीयां त्पुत्रंप्रथमकल्पितम् ॥ मनु. ९.१६६; औरसो धर्मपत्नीज ... याज्ञा. २.१२८ स्वयंजातः कृतक्रियायामोरसः ।...याज्ञ. ३.७; आत्मवैजायतेपुत्रः । बौ.स्मृति दायविभाग वर्णनम् १५ व १६

२. पुत्री का पुत्र — पुत्रहीन व्यक्ति जब अपनी स्वकीय पुत्री के पुत्र को, अपने पुत्र के समान स्वीकार करता हो वह पुत्रिका पुत्र (सुत) कहलाता है ।[3]

३. क्षेत्रज[4] — अपनी पत्नी के गर्भ से, सगोत्र या सपिण्ड अथवा देवर के नियोग से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता था । बौ. ३.७, एवं बौ. २.२.२१-२३, ने ऐसे पुत्र को दो पिताओं का पुत्र स्वीकार किया है । वह दोनों

---

१ मनु. ९.१५८-१६६; ओरसःक्षेत्रजश्चेव दत्तःकृत्तिमं एवच ।गुढ़ोत्पन्नोपविद्धश्ख्दायादावान्धवाश्वषट् ॥ मनु. ९.१५९; कानीन्श्चसहोछश्चक्रीतःपानर्भवस्तथा । स्वयंदत्तश्चशोद्रश्च ष्ड्दायादवान्धवाः ॥ मनु. ९.१६० याज्ञ. २.१२८-१३२; नारद (दायभाग ४५-४६); वि.स्मृ. १५.१-३०; गौ.स्मृ. २८.३०-३१; वसि.स्मृ. १७.१२-३८; बौ.ध.सू. २.२.१४-३२; अर्थ.शा. ३.७; आ.पर्व १२०.३१-३४; यमस्मृ. (उ.व्य.र.पृ - १४७); अनु.पर्व. ४९.३-१०; अग्निपु. २५६; बौ.स्मृ. (दायविभाग १५-३२)

२ मनु. ९.१६६, वसि. १७.१३; विष्णु. १५.२; अर्थ. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.१४; अग्निपु. २५६

३ मनु. ९.१३४; याज्ञ. २.१२८; अर्थशा. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३-१५ बौ.स्मृ. १७ दायभागवर्णन; वसिष्ठ १७.१६ ऋग्वेद १.१२४.७; अग्निपु. २५६

४ अग्निपु. २५६; अर्थशा. ; मनु. ९.१६७; याज्ञ. २.१२६; बौ.ध.सू. २.३.१६; बौ.स्मृ. २० दायभाग वर्णनम् ।

पिताओं की सम्पत्ति एवं दोनों पिताओं को पिण्ड देने का अधिकारी होता है ।

गौत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः । अर्थशा. ३.७ यस्तवल्पजः प्रमीतस्य क्लीवस्य व्याधितस्य वा ।

स्वधर्नेणनियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ॥ मनु. ९.१६७

क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोश्रेणेतरेण वा । याज्ञ. व्य.अ. २.१२८

४. दत्त[1] — गोद लिया हुआ पुत्र या माता पिता द्वारा दूसरे को प्रदत्त पुत्र कहलाता है ।

माता पितावद्द्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि ।
सदृशं प्रोतसंयुक्तं स ज्ञेयो दत्रिमः सुतः ॥ मनु. ९.१६८ दद्यान्मातापिता वा यं स पुत्रो दत्त को भवेत् । याज्ञ.व्य.अ. २.१३०

५. कृतिम — लोभ या लालच देकर यायह कहकर कि तुम मेरे पुत्र हो, दूसरे के पुत्र को स्वीकार किया जाता था । उसे कृत्तिम पुत्र कहते थे ।[2] ऐसा पुत्र माता-पिता द्वारा न दिया जाकर, अपनी सहमति के आधार पर सम्पत्ति के लोभ के वशीभूत कृतिम पुत्र बनना स्वीकार करता था। सहमति दाता होने वाले कृत्रिम पुत्र का व्यस्क (बालिग) होना आवश्यक होता था

६. गृढ़ोत्पन्न या गूढज पतिगृह में गुप्त रूप से रहने वाले सजातीय या अन्य पुरुष से उत्पन्न पुत्र ऐसा पुत्र उस पिता का पुत्र होता है जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न होता है ।[3] परन्तु कौटिल्य ने मातागृह में निवास करती स्त्री

---

१ मनु. ९.१६८; याज्ञ. २.१३०; विष्णुस्मृ. १५.१८-१९; बौ.ध.सू. २.२.२; नारद दायभाग, ४६; अग्निपु. २५६; बौ.स्मृ. दायविभाग - २४

२ अग्निपु. २५६; पुत्रत्वेऽधिकृतः कृतकः । अर्थ. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.२१; बौ.स्मृ. २५ दायविभाग; मनु. ९.१६९ याज्ञ. कृतिमःस्यात्स्वयंकृतः, २.१३१

३ ऋग्वेद २.२९.१; अग्नि. २५६; बौ.ध.सू. २.२.३.२२; बौ.स्मृ. २६ दाय. उत्पद्यतैगृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्य सः। स गृहेगूढउत्पन्नस्तस्यस्याद्यस्य तल्पजः॥ मनु. ९.१७०; गृहेप्रच्छन्नउत्पन्नोगूढजस्तुसुतः स्मृतः याज्ञ.व्य.अ. २.१२९

का अन्य पुरुष के संयोग से उत्पन्न पुत्र को गूढज माना है। (बन्धूनां गृहे गूढजः) अर्थशा. ३.७।

७. अपविद्ध — माता-पिता अथवा दोनों में से एक द्वारा त्यागे पुत्र को जब दूसरा व्यक्ति अपने पुत्र के समान गृहण करे। अग्नि पुराण ने ग्रहणकर्ता के लिए सवर्ण होना अनिवार्य माना है।[1]

८. कानीन — अविवाहिता कन्या से उत्पन्न पुत्र कानीन कहलाता है। अर्थशास्त्र ३.७, ने इस पुत्र को कानीन मातृमह अर्थात् नाना का पुत्र होना स्वीकार किया है।[2] ऐसा पुत्र उसका पुत्र होता है जिससे कानीन पुत्र माता का विवाह होता है।

९. सहोढ — ऐसा पुत्र जो नारी विवाह के समय उसके गर्भ में रहता था अर्थात विवाह से पूर्व ही गर्भवती स्त्री के गर्भ में आ गया हो और विवाह-संस्कारावसर पर उसके (नारी) के साथ परिणीत हो गया हो सहोढ पुत्र कहलाता है। क्योंकि ऐसा पुत्र विवाह के समय माता के गर्भ में होता है तथा विवाहोपरान्त उसका जन्म होने के कारण - सहोढ कहलाता है।[3]

१०. क्रीत : पुत्रवान् माता-पिता से,[4] अपना पुत्र बनाने के लिए इस निमित्य क्रय किया गया पुत्र क्रीत पुत्र कहलाता है।

---

१ अग्नि. २५७; बौ.ण.सू. २, २.३.२३; बौ.स्मृ. २७ दायभा.व.; बन्धुनोत्सृष्टोऽपविद्धसंस्कृर्तुः पुत्रः। अर्थ.शा. ३.७; मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोंरन्यतरेणवा। यं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धःसउच्यते। मनु. ९.१७१; उत्सृष्टोगृह्यतेयस्तुसोऽपविद्धो भवेत्सुतः॥ याज्ञ.व्य.अ. २.१३२

२ अथर्व. ५.५.८; नारद १७ दायभाग १; अग्नि. २५६; बौ.ध.सू. २.२.३.२४; बौ.स्मृ. २८ दायभागावर्णनम्।; पितृवेश्मनिकन्यातु यं पुत्रं जनयेद्रहः। तंकानीनदंदन्नामनावोढुः कन्यासमुद्भवम्॥ मनु. ९.१७२; कानीनः कन्याकाजातोमाता महसुतोमतः॥ याज्ञ.व्य.अ. २.१२९

३ अग्निपु. अ. २५६ सगर्भोढायाःसहोरुढः। अर्थ. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.२५; बौ.स्म.दायभाववर्णनम्; या गर्भिणी संस्क्रियतेज्ञाताज्ञातापि वा सती। वोढुः स गर्भोभवति सहोरुढ इति चोच्यते। मनु. ९.१७३; गर्भेविन्नः सहोरुढजः याज्ञ.व्य.अ. २.१३१

४ अग्नि. २५६; परिक्रीतः क्रीत इति। अर्थ. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.२६; बौ.स्मृ. ३० दायभागवर्णनम्। क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थंमातापित्रौर्यमन्तिकात्। स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥ मनु. अ.९.१७४; क्रीतश्चताभ्यांविक्रीतः। याज्ञ.व्य.अ. २.१३१; वसिष्ठ १७.३०-३२

११. पौनर्भव — (पुनर्विवाहित स्त्री का पु९) : विधवा अथवा पति द्वारा परित्यक्त की गई ऐसी स्त्री जिसके पुनर्विवाह हो जाने के पश्चात् उसके गर्भ से उत्पन्न होने वाला बालक पौनभर्व कहलाता है । अग्नि पुराण में विधवा पत्नी से सजातीय पुरुष द्वारा उत्पन्न पुत्र को भी पौनर्भव की संज्ञा दी है ।[१]

१२. स्वयंदत्त — जो पुत्र अपने माता पिता के नष्ट होने या उनके द्वारा त्यागे जाने पर, स्वयं को किसी दूसरे व्यक्ति को स्वेच्छासे अर्पित करता है । अग्निपुराण ने इस प्रकार के पुत्र को दत्तात्मा कहा है । कौटिल्य ने ऐसे पुत्र को उपगत को संज्ञा दी है ।[२]

१३. शोद्र — पारशव या पराशव — ब्राह्मण का शूद्रापत्नी से उत्पन्न पुत्र परासव या शौद्र कहलाता है । बौधायन ने इस प्रकार के पुत्र को निषाद कहा है ।[३]

उक्त प्रकार के पुत्र दायद कहलाते है । पूर्व पूर्व पुत्रों के अभाव में उत्तर उत्तर (बाद वाले) पुत्र दांय के अधिकारी होते हैं । वे ही पिंड व दान के प्रति भी उत्तरदायी हैं ।[४] क्योंकि सगे भाई यां पिता, चाचा आदि धन प्राप्त करने के अधिकारी नहीं है । पिता का धन व अंश प्राप्त करने का अधिकारी उसका पुत्र हो होता है ।[५]

---

१ अग्नि. २५६; पुनर्भूतायाः पौनर्भवः अर्थशा.३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.२७ बौ.स्मृ.३१ दायभाग;। यापत्या वा परित्यक्ता विधवास्वयेच्छया। उत्पादयेत्पुर्भूत्वा सपौरनर्भवउच्यते। मनु. ९.१७५; अक्षतायां क्षतायां वा-जातः पौनर्भवःसुतः। याज्ञ. २.१३०; वसिष्ठ स्मृ. १५.३

२ अग्नि. अ. २५६; स्वयंबन्धुभिर्वापुत्रभावोपुत्रभावोपगतःउपतः। अर्थशा. ३.७; बौ.ध.सू. २.२.३.२८; बौ.स्मृ. ३२ दायभाग मातापितृविहीनो यस्त्यक्रोवास्यादकारणात्। आत्मानंस्पर्शमेद्यस्मैस्वयंदत्तस्तुसस्मृतः। मनु. ९.१७७; दत्तात्मातुस्वयंदत्तो याज्ञ.व्य.अ. २१.१३१; वसिष्ठ १७.३३-३५

३ बौ.ध.सू. २.२.२.२९; यं ब्राह्मणस्तु शूद्रायाकामादुत्पादयेत्सुतम्। स पारयन्नैव शवस्तस्मात्पारशवः स्मृतः॥ मनु. ९.१७८

४ श्रेयसः श्रेयसोऽलाभे पापयाब्क्थिथमर्हति। वहवश्चेत्तुसद्दशाः सर्वे रिक्थस्यभागिनः मनु. ९.१८४ पिण्डदोंऽशहरश्चैषापूर्वाभावे परः परः। याज्ञ.व्य.अ. २.१३२

५ न भ्रातरो न पितरः पुत्रारिक्थहराः पितुः। पिताहरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥ मनु. ९.१८५

स्मृतियों के आधार पुत्र-भेद (प्रकार) सूची

मनु के अनुसार पुत्र प्रकार: गौ.स्मृ. २८.३०,३१ बौ. १५-३२ वसिष्ठ १७.१३-३८ याज्ञ. २.१२०-१२ नारद दायनाम

क्रमांक	मनुस्मृति अ. ९ श्लोक १५८ से १६६ तक पुत्र प्रकार	गौतमस्मृति ८.३०-३१	बौधायनस्मृति १५-३२ दायविभागवर्णनम्	वसिष्ठस्मृ. १७.१३-३८	याज्ञस्मृ. २.१२८-१३२	नारदस्मृ. दायभाग ४५-४६	बृहस्पति स्मृति	विष्णुस्मृति १५.१-३०	देवलस्मृ. दायभाग ५	यम स्मृति	महा. आदिपर्व १२०.३१-३४	अर्थशा. ३.७	अग्निपुराण अ. २५६
१	औरस	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१	१
२	पुत्रिका पुत्र	१०	२	३	२	३	२	३	२	२	२	२	२
३	क्षेत्रज	२	३	२	३	२	३	२	३	२	३	३	३
४	दत्त	३	४	८	७	९	४	८	९	९	७	९	७
५	कृतिम	४	५	+	९	११	७	१२	११	१०	९	११	९
६	गूढोत्पन	५	६	६	४	६	१२	६	५	६	६	४	४
७	अपविद्ध	६	७	११	१३	८	५	११	६	७	+	५	१२
८	कानीन	७	८	५	५	४	१०	५	४	५	५	६	५
९	सहोढ	८	९	७	११	५	११	७	७	८	११	७	११
१०	क्रीत	१२	१०	९	८	१०	६	९	१२	११	८	१२	८
११	पौनभर्व	९	११	४	६	७	९	४	८	४	४	८	६
१२	स्वयदत्त	११	१२	१०	१०	१२	+	१०	१०	१२	१०	१०	१०
१३	शौद्र या पारशव (पराशव)	+	१३	१२	+	+	८	+	+	+	१२	+	+

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकारों ने अपनी परिस्थतियों के अनुरूप पुत्रों के क्रम को ज्येष्ठता प्रदान की थी, परन्तु तालिका विवरण इस वस्तुस्थिति का प्रतीक है कि सभी स्मृतिकारों पर पुत्र विभाजन के नाते मनु का सीधा प्रभाव व्याप्त है। वह अपने में एक ऐसा वैज्ञानिक क्रम है जो वर्तमान में भी प्रभावी बना हुआ है।

स्त्री-धन

स्त्री की अपनी सम्पत्ति स्त्रीधन कहलाती थी । विवाह के समय, अग्नि के समक्ष, विदाई के अवसर पर, स्नेह के वशीभूत माता पिता भ्रात या सगे सम्बन्धी द्वारा दिया गया धन स्त्री धन कहलाता था ।[१]

स्त्री-धन : प्रकार — १. अध्यग्निस्त्रीधन (विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो कुछ दिया जाये । २. अध्यावहनिक पतिगृह जाते समय, पिता से प्राप्त धन), ३. प्रीतिदत्त (श्वसुर, सास द्वारा स्नेह वश प्रदत्त धन, तथा श्रेष्ठजनों का वन्दन करते समय प्राप्त धन । ४. अन्वाधय) विवाहोपरान्त पतिकुल तथा पितृकुल के बन्धुजनों से प्राप्तधन या स्नेहवश पति व पिता से प्राप्तधन, ५. शुल्क - (धन बरतनों, पशुओं आभूषणों एवं दासों के मूल्य के रूप में प्राप्त होने वाला धन, एवम् ६. सौदायिक -) जो धन अपने पति या पितृगृह से या भ्रात से प्राप्तहोता है ।[२] कौटिल्य ने (३.२) शुल्क, अन्वाद्येय, आधिवेदनिक एवं बन्धुदत्त चार प्रकार के स्त्रीधन को स्वीकार किया है ।

जिस धन को स्त्री बिना पति नियन्त्रण के दान दे सके, विक्रय कर सके या स्वतन्त्र रूप में अपने हितों के लिए धन का प्रयोग कर सके, उसे ही स्मृतिकारों ने स्त्री धन कहा है ।

(१८) द्यूत, समाह्वय : जुंआ

पासे, वघ्र (चमडे की पट्टी), और शलाका (हाथी दांत की गोटियां) से होने वाली सशर्त क्रीडा को द्यूत क्रीडा कहते हैं । अर्थात् पांसा, कौडी आदि जड़वस्तु को सशर्त दांव पर लगाना द्यूत कहलाता था ।[३] द्यूतक्रीडा को विनाश की मूल समझा जाता था । सत्यता और पवित्रता आदि गुणों को द्यूत समाप्त कर देता है । विवाद, अनर्थ, छल और पाप, वैमनश्य की मूल द्यूत में निवासित है ।[४] अतएव इस क्रीड़ा

---

१ मनु. ९.१९४; नारद दायभाग ८; याज्ञ. २.१४३-१४४; विष्णु. १७.१८; आ प. २.६.१४.९; बौ.ध.सू. २.२.४९; वसिष्ठध.सू. १७.४६ अर्थशा. ३.२; अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रति कर्मणि । भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षडि़्वस्त्रीधनं स्मृतम् ॥ मनु. ९.१९४

२ मनु. ९.१९४; याज्ञ. २.१४३, १४४; नारद दायभाग-८; विष्णु १७.१८

३ अग्निपु. २५३ ऋग्वेद १.४१.९, ७८.६; अथर्व. ४.१६.५; आ प. २.२५.१३; मनु. ९.२२३ - अप्राणिभियाक्रियतेतल्लोके द्यूतमुच्यते ॥ (पांसा, कौडी आदि जड़वस्तु से दांव लगाकर बाजी लगाना, द्यूत कहलाती है); अंडभूतजातक ६२

४ ऋग्वेद १०.३४.१०-११, आप. २.१०.२५.१२-१३; गौ.ध.सू. १.२.३; महा.वनपर्व १३.९.१०; बृह. (उद्.स्मृ.चं. २, पृ - ३३१; सभापर्व ६८.२० विधुरजातक; मनु. ९.२२७; माहा.उ.प्र. ३७.१९; द्यूतेक्षतःकलहोविद्यते । सभापर्व, द्यूतमर्नथमूलं-सभापर्व ५९.५; विराटपर्व ६८.३३)

को निषिद्ध ठहराया गया था । कामजनित अपराध मानते हुए इसकी निन्दा की गई थी ।[१]

समाह्वय : पशुओं, पक्षियों (मुर्गा, कबूतर, तीतर, भेड़, बकरी, आदि) को सशर्त लड़ाया जाता था । मल्ल (पहलवानों) की क्रीड़ा भी इसी का अंग थी ।[२] यह क्रीड़ा राज्य को नष्टभ्रष्ट करने वाली, एवम् कलंकित करने वाली तथा हानि पहुंचाने वाली है । इस कार्य को करने वाले गुप्तचोर होते हैं । इस निन्दनीय कृत्य को निन्दा करते हुए इस से दूर रहने को बात स्मृतिकारों ने अनेक बार कही है ।[३]

(१९) अभ्युपेत्य अंशुश्रूषा

जब सेवक, सेवा स्वीकार करके भी उसका सम्पादन नहीं करता या सेवा निमित्त, स्वामी के पास उपस्थित नहीं होता, तो सेवक का यह व्यवहार अभ्युपेत्य अशुश्रूषा कहलाता है ।[४] कृषि सेवक, पशु-पालक, शिष्य अन्तेवासी (शिल्प या नृत्य की शिक्षा पाने वाला) आदि इसी श्रेणी के अंग थे ।[५]

सेवक प्रकार — नारद के अनुसार (८.२२-२३)

१. उत्तम ... सैनिक एवं प्रशासन की उच्चसेवाओं में लगे व्यक्ति ।

२. मध्यम ... कृषि कार्य में संलग्न ।

३. अधम ... द्वारपाल आदि ।

(२०) प्रकीर्णक

राजा की आज्ञा का उल्लंघन करना, उसके कार्यो को न करना, प्रकीर्णक विवाद कहलाता था ।[६] छल करना, भोज्य पदार्थों को दूषित करना, असत्य बोलना, राज्यापमान करना, कपट व राज्यद्रोह करना, तथ्यात्मकता को स्वीकार न करना इसी शृंखला की कड़ी था ।[७]

---

१ घूतं न सेवेत हास्या र्थमपिबुद्धमान् ; सभापर्व- ३७.१९ ; शा. पर्व ९.६० ऋग्. १०.३४.१२-१४; अथर्व ७.१०९.३

२ प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः । मनु.अ. ९.२२३ अग्निपु.अ. २५३

३ मनु. ९.२२१, २२२, २२३

४ अग्निपु. अ. २५३, याज्ञ. २.१८२

५ आप. २.२.२८.२-३; गौतम - १२.१६-१७; नारद ८.२-३, ८.४

६ अग्निपु. २५३; नारद - १७.१-४; संकप्पजातक - २५१

७ याज्ञ. २.२९५-३०६; नारद १७.१०-११; मनु. ९.२७५; गौ.स्मृ. १२.४६

(२१) अन्य सामान्य प्रकार के अपराध : व्यवहार

१. वास्तुकेगृहवास्तुकम् — घर, खेत, आरामस्थल (उपवन व बगीचा), सेतुबन्ध (सीमा तथा फूल-फल का बगीचा), सरोवरादि इस के मुख्य अंग थे।[१]

२. कारुकरक्षणम् — (शिल्पियों से रक्षा) : शिल्पियों द्वारा प्रदत्तक्षति, धोखाबाजी से रक्षा के विवाद इसी प्रकरण के विषय थे।[२]

३. असत्य — असत्य बोलना अपराध था। सम्पूर्ण दुःखों की मूल असत्य को माना जाता था। झूट का प्रतिकार करते हुए, सत्य बोलने पर बल दिया जाता था।[३] कूटसाक्षी भी इसी का अंग थी।[४]

४. दम्भ : दम्भ त्याज्य था क्योंकि सर्व विनाश इसी में निहित रहता है।[५] । यह विद्या, धन, उच्च कुलदम्भ — तीन प्रकार का प्रचलित रहा था।[६]

५. मात्सर्य : चुगली करना — मात्सर्य मानव की हीनता का प्रतीकात्मक अपराध था।[७]

६. ईर्ष्या या द्वेष : द्रोह — द्वेष करना भी अपराध था।[८]

७. सुरापान : सुरापान या अपेय पीना निषिद्ध था।[९] बुद्धिविनाश की मूल अपेय में निहित है। ऐसी स्मृति को मान्यता रही है। सुरापान कर्ता को मनु. (९.२२६) ने गुप्तचोर को संज्ञा दी है।

८. पाखण्ड : पाखण्ड करना सद्पुरुषों को भ्रमित करना अमान्य था। इस प्रकार का कार्य करने वाले को गुप्तचोर माना था।[१०]

---

१ अर्थ. ३८., ३.९; गौ.ध.सू. २.३.३४-३५; २६.१९

२ अर्थशा. ४.१

३ ऋग्. ५.१२.४; अथर्व. ८.४८; महा.उ.प.४०.३; सभापर्व ६८८४; तानिसर्वाणिदुःखानि प्राप्नोति वितथंब्रुवन।; वनपर्व - २०७.४२ - सत्यंचैव सदावदेत ९३.२०८ वनपर्व कुलावक जातक ३१

४ अग्निपुराण अ. २२७

५ अनु.पर्व १०४.३६; उ.पर्व ३५.५०; ऋग्. २.३०.१०

६ माह. उ.पर्व ३४.४४

७ महा. सभापर्व ५.१०७, अनुशा.पर्व १०४.३०; अथर्व. ६.४.२०

८ अनुशा.पर्व १०४.३६; न चैव द्रुह्येद ९३.२०६ सभापर्व; आप.ध.सू. १.३.२३-२४; यजु. १.२५, १०.३, ११८

९ मनु. ९.२२५; आप.ध.सू. १.१७.२१; सभापर्व ६८.२०; कुम्भजाताक ५.२

१० मनु. ९.२२५.२२६

द्वितीय अध्याय

न्यायधीश : प्राड़विवाक

न्यायधीश की परिभाषा :

विधि तथा धर्मशास्त्रों का विद्वान् न्याय पद पर आसीन होने के फलस्वरूप न्यायधीश कहलाता था। अपराध परिमार्जन कर्त्ता को न्यायाधीश कहते थे। विधि व विधान का रक्षक एवं व्याख्याकार को न्यायधीश कहते थे। विधि विधान का रक्षक एवं व्याख्याकार न्यायधीश होता था। न्यायपद की गरिमा को स्थिर कर व्यवहार पदों को निर्णीत करने वाला, नीरक्षीर विवेकी विधिशास्त्री, विधि रक्षक, अनृत के शोधनार्थ दण्ड को प्रयोग करने वाले तथा धर्मासन पर बैठकर पक्षपात रहित, स्व व पर की भावना से दूर रह कर न्याय करने वाले को न्यायधीश कहा जाता था। 'न्यायधीश' शब्द स्वयं में सार्थक एवं ध्वन्यक रहा है। न्याय का स्वामी या न्यायकर्ता न्यायाधीश की संज्ञा का प्रतीक बना था। प्राड़िविवाक का शाब्दिक अर्थ भी इसी प्रकार सत्य को पूछने वाला ही है। अपराधों के फलस्वरूप अपराधी को दण्ड देने वाला न्यायाधीश (प्राड़विवाक) कहलाता था। जनमानस को कृत्य, अकृत्य, पाप व पुण्य एवं आ पराधिक प्रवृत्ति पर फल, प्रतिष्ठा, प्रतिफल दण्ड एव यश देने का अधिकारी न्यायपद पर आसीन न्यायधीश ही होता था। संक्षेप में न्याय विधि को परिधि में न्यायासन पर बैठकर निर्णयकर्त्ता न्यायधीश अथवा प्राड़विवाक कहलाता था।[1]

ऋग्वेद से लेकर स्मृतिकाल तक लिखे गये विधिशास्त्र, स्मृति एवं अर्थशास्त्र तथा अनेक दार्शनिक ग्रन्थों में न्यायधीश शब्द का अनेकशः उल्लेख हुआ है। 'साहसाधिपति', 'सभ्य', 'प्राड़विवाक' 'धर्माध्यक्ष', 'धर्माधिकारी', आदि शब्द या संज्ञायें न्यायधीश के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुए हैं।[2] काल एवं परिस्थिति के

---

१ मनु. ८.१.२; ८.२०; याज्ञ. २. १-३; वशिष्ठ १.२.९०; वो. १८.४८; गौ. २८.४५; पाराशर ८.३४; आप. २.११.२९-५१; कात्यायनसूत्र ६७; नारद ३.४; विष्णुध. सू. ३.७४; का. प्रत्तसंग्रह सू. - २७७; पाराशर्रस्मृ. धर्माचर : वर्णनन् १६२; प्राडि्विवाकस्तया शल्यमुंद्धरेद्व्यवहारतः नारद - उद.स्मृ.चं. -२; पृ. १४

२ शुक्र २.४२८-४२९; ४.५.६-७; मनु. ८.२०, ८.११; गौतम - १३.२६,२७ नारद - १.३४,३५,६७; ३.५, १७; वसिष्ठ - १६.३-५; याज्ञ. २.४, ३०५; विष्णु, ध.सू. ३.७४; ५.१००; मत्स्यपुराण उ. २२७.१५८, २३४

अनुरुप न्यायधीश पद पर नियुक्त व्यक्ति के निमित्त उक्त विशेषणों का प्रयोग एक तथ्यमूलक घटना रही है । उसमें पूर्ण न्यायिक ध्वन्यात्मक एवं न्यायिक प्रवृत्ति की झलक दृष्टिगोचर होती है । अर्थशास्त्र में धर्मस्थ एवं प्रवेष्ठा शब्द भी न्यायधीश शब्द केपर्यायवाची रहे है ।[१] श्रेणि (पंचायताध्यक्ष), पूग व गणपति (सभा का स्वामी या पति) आदिशब्द कनिष्ठ व स्थानीय धरातल के न्यायधीशों को ध्वनित करते हैं ।[२] कोटिव्य का ग्रामिक, छोटे अपराधों का निर्णय करने वाला प्राड़िविवाक होता था ।[३] न्यायिक प्रक्रिया में अध्यक्षीय पद को सुशोभित करने वाला ग्रामिक या गुरुतर अपराधों को हल करने वाला प्राड़विवाक होता था । निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि — विधि के अनुरूप, राजा द्वारा नियुक्त व्यवहारकर्ता, न्यायाधीश या प्राड़विवाक कहलाता था । नृप द्वारा नियुक्त विधि, शास्त्रवेत्ता; वेद, परम्परा एवं लोकाचारकापूर्णविज्ञ; विवेक के द्वारा ऋत और अनृत, पाप और पुण्य, र्निदोषी व दोषी अपराधी का पारखी, अपराध के अनुरुप दण्ड अधिकार का प्रयोग कर सकने में समर्थ व्यक्ति हो न्यायधीश कहलात था ।

न्यायाधीश की आवश्यकता

राजत्व व प्रशासन का कार्यक्षेत्र अपने में अपरिसीमित एवं विशाल होता है । एकाकी राजा से सुव्यवस्था की कामना की अपेक्षाकरना केवल मृगतृष्णा ही हो सकती है । फलतः प्रशासन में अन्याय, अपराध, अनृत के शोधन के निमित्त न्यायभावना उद्‌भूत व विकसित हुई । इस हेतु विधि, व विधान की रक्षा अनिवार्य समझी गई । विधि को व्यावहारिक[४] रूप प्रदान करने के लिए स्मृतिकालीन नृपों ने न्यायाधीशों की नियुक्तियां प्रारम्भ की । जिससे विधि को संरक्षण व शक्ति मिलनी प्राप्त हुई । ग्राम, नगर, राष्ट्र को परम्पराओं एव रूढ़ियों का संरक्षण हो सके, एवं विपरीत परम्पराओं को त्याज्य और अमान्य ठहराया जा सके । सामान्य हित एवं राष्ट्र तथा नृप-कल्याण में बाधक परम्पराओं व नियमों को अवैध ठहरा कर बन्द किया जा सके । इसलिए न्यायाधीशों को प्रशासन में अपेक्षित समक्षा जाने लगा । पूजा के आपसी मतभेद, कलह एवं विवादों को न्यायपूर्वक हल किया जा सके । परस्पर विरोध व वैमनस्य का उन्मूलन विवेकपूर्ण विधि से हो सके - इन आदि कारणों से न्यायाधीश की नियुक्ति को उपयोगिता को साकार किया गया । राजा पूर्णतः विधिज्ञ होते हुए भी अकेले निर्णय देने में भी समर्थ नहीं था । इसी

---

१ अर्थशास्त्र ४.४, ३.१

२ याज्ञ. १.३० ; नारद - १.७; मनु. ७.११९

३ अर्थशा. ४.४

४ पितामह (उद्ध. सरस्वती विलास, पृ - ६७); मनु. ८.९-१० ; याज्ञ. २.३; आप. २.११.२९; अर्थ. १.७

कारण न्यायकार्य देखने के लिए विधिज्ञ एवं चरित्रवान् व्यक्तियों को न्यायधीश के पद पर नियुक्त किया गया।

न्याय कार्य में नियोजित इन न्यायाधीशों का प्रथम परम कर्तव्य होता था अन्याय पथ से हटा कर नृप को न्याय पथ की ओर ले जाना। अपनी पैनी दृष्टि से अपराध का उन्मूलन करने के कारण सभ्यया न्यायधीश की तुलना शल्य चिकित्सक से की जाती रही थी।[१] विवाद रूपी शूल के शोधनार्थ एवं सुखों की प्राप्ति कराने हेतु ऋग्वैदिक काल से ही न्यायधीश की नियुक्ति पर बल दिया गया था। न्यायधीश प्रजा में सुन्याय के द्वारा आनन्द व मंगल के स्रोत माने जाने को भावना ने पृथक् से न्याय व्यवस्था की स्थापना को जन्म देकर न्यायाधीशों के अस्तित्व को स्वीकार किया था। न्यायधीश राजा को देवताओं की कोटि में स्थापित कर सकता है — इसी भावना ने राजा को न्यायाधीश नियुक्ति को प्रेरणा व बल दिया था।[२] स्मृति काल में मात्स्य-न्याय प्रचलन के अवरोधार्थ तथा अपराधियों पर दण्ड प्रयोग निमित्त न्यायाधीश की नियुक्ति कर राज्य के वातावरण को निर्मल, पाप व भयरहित बनाया जाने लगा था।[३]

न्यायाधीश के बिना न्याय का अभाव हो जाता था। प्रजा शनैः शनैः राज्य को छोडकर अन्यत्र जाने लगती थी। समाज को दशा उस टूटी नौका के समान बन जाती थी जो प्रवाहपूर्ण अगाध समुद्र में कहीं से कहीं बह कर चली जाती है। इस आशंका के निवारणार्थ, राजा न्याय शासन चलाने के लिए अन्य सहयोगी न्यायाधीशों को विभिन्न क्षेत्रों में नियुक्त करता था। जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता उसी प्रकार एकाकी राजा न्यायरथ को नहीं खींच सकता था[४]।

प्रजा कल्याण के निमित्त उपद्रव को नियन्त्रित करने हेतु न्यायधीशों की नियुक्ति की उपयोगिता को यजुर्वेद में प्रदर्शित किया है।[५] राज्य की आन्तरिक घात-पात-हिंसा से बचाने के लिये, अपराधियों के शमनार्थ एवं दमनार्थ न्यायव्यवस्था के संचालन के निमित्त न्यायधीशों को नियुक्ति का समर्थन स्मृतिकारों ने किया है। यह कामना जनसाधारण में घर कर चुकी थी कि न्यायाधीश ही दुष्टों का उन्मूलन कर सकते हैं।[६]

---

१ मनु. ८.१.४१; प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद् व्यवहारः नारद (उ.समृ.च., २, पृ - १४ पर

२ ऋग्. ७.३५.२८.२, १८.१२, ६८.४-६, ८२.१०, ८४.३, १.९.१, १.३१.१; साम. ६७३

३ राजाचेन्न भवेल्लोके पृथिव्यांदण्ड धारकः। जलेमत्स्यानिवा भक्ष्यन्दुर्बलंबलवत्तराः॥ महा.शा.पर्व अ. ६७.१६ । वनपर्व १०५.४१

४ महा. शा. पर्व - ८५.१४ ; अर्थशा. १.७

५ ऋग्. ८.६७.५; यजु. ७.१८

६ अथर्व. ७.१०२.१; १३.१.२९-३१; १२.१.३२; १०.३.१

न्याय को श्रेष्ठ व्यवहार स्वीकार किया जाता था । इसका सम्पादन न्यायाधीश के विवेक के द्वारा ही होता था । न्याय को धर्म की मूल स्वीकार कर, न्यायधीश को धर्मासन या धर्माध्यक्ष के पद पर नियुक्त करना स्मृति युग का सर्वमान्य सिद्धान्त बन गया था । स्वच्छ न्याय धर्म का आधार है । धर्म की रक्षा से राजा व राज्य एवं प्रजा की रक्षा होती है । धर्म के विनाश से राजा, राज्य एवं प्रजा तीनों ही नष्ट हो जाते हैं । अतएव कुल मिलाकर धर्म की रक्षा की आकांक्षा न्यायाधीशों से की जाती थी ।[१] नियुक्त किये गये न्यायाधीश धार्मिकता की भावना से प्रेरित होकर न्याय पद की गरिमा निभाते थे । धर्म से प्रयोजन मान्यता प्राप्त प्रचलित मानव आचरण तथा सद् रुढ़ी से ही रहा था । इसी भावना ने धर्म को मानव का मित्र तक बना दिया था ।[२] इस पवित्र भावना के विकासार्थ स्मृतिकालीन राजा ने विभिन्न प्रकार के न्यायधीशों को नियुक्ति कर न्याय को सुलभ व ग्राह्य की परिधि में समाविष्ट किया था । स्मृतिकालीन एवं इतरकालीन नृपों ने वेदवेदांगों के पंडित एवं शास्त्रों के ज्ञाताओं को न्यायधीशों के पद पर नियुक्त कर राज्यको पाप रहित बनाने का भरपूर प्रयत्न किया गया था ।[३] निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि प्रजा को उत्पीड़न से बचाने के लिये अपराधियों को दण्डित करने हेतु न्यायिक प्रक्रिया को संचालित कर प्रयोगिक, एवम् व्यावहारिक रूप प्रदान करने के निमित्त न्यायाधीशों की आवश्यकता का समर्थन स्मृतिकारों एवं तत्कालीन अन्य शास्त्र रचिताओं ने किया । न्यायिक प्रक्रियाओं में न्यायाधीश शीष के समान था । जिस प्रकार बिना शीष के शरीर अचेतन होता है वैसे ही बिना न्यायाधीश के न्यायिकढांचा भी निर्मूल ही समझा जाता था । विधि का सूर्य, विवादों का सूक्ष्म चेता मान कर जनकल्याण की अपेक्षा के अनुरुप न्यायाधीश की आवश्यकता का समर्थन विधिशास्त्रों एवं स्मृतिकारों ने बराबर किया था ।[४] अपराधों के परिमार्जन हेतु न्यायाधीश की आवश्यकता समझी जाती रही थी ।[५]

न्यायाधीश की योग्यता एवं गुण

न्यायधीश का पद अपने में निर्णायक पद होता था । न्यायव्यवस्था का सम्पूर्ण ढांचा न्यायधीश के विवेक व सन्तुलन पर आधास्ति रहता था । उसकी न्यायप्रियता, सूक्ष्म चेतना, प्रतिभा पर ही न्याय व्यवस्था की अस्ति-नास्ति निर्भर करती थी । उसकी तनिक-सी लापरवाही, उदासीनता, अपवित्रता जनमानस व राष्ट्र एवं राजत्व

---

१ धर्म एव हतोहन्ति-धर्मोहतोऽवधीत् ॥ - मनु. ८.१५ वनपर्व १९४.६, शा. पर्व ८५.१६

२ मनु. ८.१७

३ पाराशर स्मृति धर्माचर : वर्णनम् — १६२-१६४

४ महा.शा.पर्व ८७.६-८; ११८.२२; याज्ञ. ८.९, २.३; नारद - ३.४ विष्णु ध.सू. ३.७४; ऋग्. ७.४.३, ८.३५.६; अर्थ. १६.२; मुन. ७.११५

५ मनु. ७८१; शा.पर्व ८४.४६

तक को विनिष्ट कर सकती थी। जनता के आंसुओं को पोंछ कर निर्भयता प्रदान करना, या राष्ट्र में उपद्रव जैसी स्थिति को जन्म देकर, क्रांतियां मचवा देना उसके निर्णयों पर ही आधारित था। राष्ट्र कल्याण के साथ राजा को देवत्व तक दिलाना, न्याय को धर्म की कोटि में स्थिर करना, न्यायाधीश के द्वारा ही होता था। वह जहां एक ओर शल्यचिकित्सक एवं आलोकसतम्भ था तो दूसरी ओर अपनी उदासीनता के फलस्वरूप मौत के देवता यम के समान भयावह बन सकता था। ग्राम से लेकर नगर तक, निर्धन से लेकर सम्पन्न तक, साधारण जन से लेकर उच्चपद तक, न्यायाधीश के धर्मासन को श्रद्धा व विश्वास के साथ देखा जाता था। समूचे राष्ट्र के नागरिकों को चातक सम अभिलषित दृष्टि न्यायाधीश को स्वाति नक्षत्र के सदृश देखती थी।

राजा को अमंगल-पथ से हटा कर पवित्र एवं कल्याणकारी कर्त्तव्यों का बोध कराना, अन्याय के दमनार्थ अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा देना, पवित्र एवं मंगलकारी रुढ़ी-परम्पराओं को अपनाकर जनमानस का सम्मान करना, राष्ट्रहित के नियमों को बनाना, अपूर्ण, अव्यावहारिक नियमों पर अंकुश लगाकर उनका प्रचलन बन्द करना, आदि अनेक कारणों से न्यायधीश के उच्च एवं सम्मानजनित पद के अभ्यर्थी के लिए स्मृतिकारों की दृष्टि में निम्न प्रकार के गुण एवं योग्यता का होना अनिवार्य समझा जाता था।

योग्यता

विधिज्ञ, अट्ठारह प्रकार के अभियोगों से संबंधित नियम-उपनियमों का जानकर, वेदज्ञ, धर्मज्ञ, अर्थशास्त्र, न्यायशील, विधि-आलोक स्तम्भ, शत्रुदमनार्थ समर्थ, भाषाविज्ञ, दण्ड देने में समर्थ, गुणवान्, विधिज्ञ, क्षात्रतेजस्वी, यथार्थज्ञानी, वीर आदि गुण प्रत्येक न्यायपद के अभ्यर्थी में होने आवश्यक थे।[1] अथर्ववेद का. ८ सू. ३ के अनुसार विप्रता, बहुश्रुतता, शास्त्रज्ञता, तेजयुक्त, स्थितप्रज्ञ, सुसंस्कृतज्ञ,

---

१ विवादे विद्याभिजन सम्पन्ना वृद्धामेधाविनो धर्मेष्वविनिवातिन आप.२.११.२९-५; नारद (उद्.स्मृ.चं.-२, पृ-१४ — अष्टादशपदाभिज्ञस्तद्भेदाष्टसहसविव। आन्वीक्षिक्यादिकुशलः श्रुतिस्मृतिपरायण। उदधृत स्मृ. च. २ पृष्ठ १४ पर॥ नारद — ३.२, ४, ५; विवादेविद्या भिजसम्पन्ना वृद्धांमेधाविनो धर्नेष्वविनिपातिन : याप. २.११.२९-५; महा.शा पर्व — ८३.२; वि. ध. सू. ३.७४; धर्मशास्त्रार्थकुशलै शास्त्रविशारदैः। का.उद्. मिताक्षरा याज्ञ. २.२; सर्वशास्त्रप्रवीणाश्य सभ्याः कार्यो द्वि जोत्तमाः का.) उ. राजद्नोतिरत्नाकार पृ - २३; ऋय्. ७.९.२, ३; १८.१, ११; २६.४; ३२.२; ८.३३.५-६; ३५.६; ६७.७, १३; यजु. ७.२१; १७.११-१२, १५, २६.२; अथर्व. १२.१.१, ७; अग्नि.प.अ — २५३; मत्स्य. ९८.१०; तेसकुणजा तक — ५२१; मनु. ७.३१; १४१; याज्ञ. ३५५ आचाराध्याय, २ व्यवहाराध्याय, कात्यायनमतसंग्रह १५-१६ गौतम स्मृतिराज धर्मवर्णनम्, विष्णु स्मृतिराज धर्म अध्याय।

आदि योग्यताओं को वरीयता प्रदान की जाती थी ।[१] अर्थी-प्रत्यर्थी विवाद का ज्ञान, न्यायविद्या का सम्पूर्ण ज्ञान होना भी आवश्यक था ।[२] निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता व दीर्घसूत्रता आदि मनोविकारों को न्यायपद की योग्यता में अवरोधक माना जाता था ।[३]

जहां तक संभव था वहां तक नीतिशास्त्रों के ज्ञाताओं को ही न्यायधीश पद पर नियुक्त करने का गौरव दिया जाता था ।[४]

मूलतः न्यायधीश को न्यायशास्त्र व विभिन्न प्रकार के विवादों का ज्ञान होना आवश्यक था । साथ-साथ न्यायप्रक्रिया का व्यावहारिक ज्ञान, उसके लिए अपेक्षित समझा जाता था । क्योंकि न्याय में किसी अवधान का उत्पन्न होना स्वाभाविक होता है, जिसका परिणाम विनाश के रूप मे पल्लवित व फलित हो सकता था । सूत्रीयभाषा को स्वीकार कर थोड़े में अधिक कहने की क्षमता रखता था । सभी कारण अनेक प्रकार की लेखीय त्रुटियों व दोषों का प्रभाव न्यायाधीश द्वारा लिखे गए अभिलेखों (जयपत्र, दण्डपत्र) पर पड़ता था । विवाद से मुक्त रहने वाले लेख भविष्य की मंगलकारी निधि माने जाते थे । न्यायाधीश क्षात्रतेज के कारण दण्ड देने में समर्थ होता था । शारीरिक बनावट एवम् कसावट का सीधा प्रभाव दर्शक व श्रोता दोनों पर पड़ता है । भयंकर से भयंकर अपराधियों के समक्ष निर्भय रहते हुए उनको अपराधानुरूप दण्डित करने के कारण शारीरिक क्षमता व योग्यता को वरियता दी जाती थी ।

गुण

स्मृतिकारों का जीवन के प्रति व्यावहारिक व सुलझा हुआ दृष्टि कोण रहा था । वे शास्त्रीय व विधि के ज्ञान के साथ प्रायोगिक अनुभव को महत्त्व देते थे । उनका विश्वास था कि लिखित ज्ञान बिना प्रयोग अपने में अपूर्ण होता है । अतएव जीवन में विधि की व्यावहारिकतान्याय व्यवस्था का मेरूदण्ड बन सकी थी । न्यायधीश पद के योग्य व्यक्ति में निम्न गुणों की आवश्यकता आवश्यक समझी जाती थी ।

कुलीन, व्यवहारकुशल, सत्यवादी, पक्षपातरहित, स्थिर, कार्यदक्ष, कर्त-व्यशील, मित्र-अभित्रभाव से परे, जितेन्द्रिय, शास्त्रीयवाणी का अनुकरणकर्ता

---

१ अथर्व. ८.३.३; २१, २२, २५; मनु. ७.५४

२ आ.पा. २.२९.५; गौ.ग.सू. २.२.३

३ षठनर्थामहाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः । निद्रा लस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीघसूत्रता ॥ सभापर्व अ. ५.१२६, महा.सभा पर्व ५.१२६ मनु. ७.४७-४९, ५३

४ महाभारत शा.पर्व. ८४.४६

दुष्प्रवृत्ति से दूर रहनेवाला, गुणवान् दृढ़संकल्पी, साहसी, धूर्त संगत से पृथक रहना उसे आवश्यक था[१]। प्यास से आकुल पक्षी जिसप्रकार पानी हेतु यत्रतत्र प्रयासरत रहते हैं, उसी भांति न्यायाधीश को दोषों, व विवादों के परिमार्जनार्थ लग्नशील रहना पड़ता था[२]। आलस्यहीन, दिव्य सामर्थी, विवेकशील, उत्तम व्यवहारकर्ता, सत्यपालक, मननशील, धैर्यशाली, अप्रमादी शान्तप्रिय, त्यागी, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का चाहने वाला, सुशील, सुखदुःख में समरूप, न्यायपालन में सक्षम, ब्रह्मचारी, धार्मिक अभय आदि गुणों[३] का समावेश न्यायपद के अभ्यर्थी में होना आवश्यक समझा जाता था। अथर्ववेद का. १६, सू. - २, मं. ४, के अनुसार श्रेष्ठवचन अनुरक्त, उत्तम श्रवणशक्ति का होना इसलिए आवश्यक था, जिस से विवाद के परिहारार्थ पक्ष-विपक्ष के कथनों को बिना किसी अवरोध के सुन सके। पैनी-दृष्टि से सम्पन्न एवं सन्तापरहित होते हुए दैविक शक्तियों (सूर्य, अग्नि, वायु, जल, आकाश, नक्षत्र, पृथ्वी आदि) से युक्त होना श्रेष्ठ लक्षण माना जाता था।[४]

राष्ट्र-रक्षण के कार्य को विवेकपूर्ण ढंग से चलाने हेतु निन्द्रा-तन्द्रा[५] से दूर रहकर, दण्ड का त्याग न करते हुए, धर्म-कार्य के उपदेश देने में अभिरुचि रखने वाले गुणो को वरीयता प्रदान की जाती थी।[६]। सभी प्रकार के व्यसनों[७] से दूर रह कर तुला-सदृश निश्पक्ष न्याय करने हेतु[८] अर्थज्ञ होना तथा घूतक्रीड़ा, मदिरापान आदि से दूर रहना आवश्यक था।[९]। लब्धलक्ष (बात की मूल तक पहुंचने वाला)

---

१ आप.ध.सू. २.११.२९-३; २.२९.५; वसि. १६.३-५; नारद १.३४, ३.५; नियुक्तो वा नियुक्तो वा धर्मज्ञो वक्तुमर्हति। देविवाचंसवदतयः शास्त्रमुपजीविति॥ — नारद ३.२; ऋग्. ७.२७.२; २८.१; ३१.२; ८.२५.१६-१७; २६.५; ३३.५-६, ६७.२, ७; १८.७; २७.१२; यजु. २७.४, ६, अग्नि.अ. २५३ मत्स्य. ९८.१०; अथर्व. ८.३.१; ३, २०-२६; तेसकुणजा.; बृह.उ. ४.४; समः प्रजासुस्यात् — गौ.ध.सू. २.२.५; महा.शा.पर्व ८५.९-११; २६७.२९; मनु. ७.३१, ५४, १४१; सत्यसधेनशुचिनासुसहायेन धर्मिता॥ याज्ञ. आचाराध्याय ३५५।

२ ऋग्. ८.३७.७; ८.६७.४ कात्यायन मतसंग्रहः - १५, १६

३ ऋग्. ८.९२.३०; १.२७.१२; यजु. ७.२१; १७.११, १२, १५, २७.४-८; २८.२; २७.३५, ३७, अथर्व. १६.३.५; १२.१.१, १७; याज्ञ.समृ.व्य.अ. २

४ अथर्व. १६.३.१-५; १६.४.१-७; १२.१.१; ६८८.१; महा.शा.प. ८५.१०

५ अथर्व. १२.१.७; मनु. ८.१३

६ महा.शा.प. — युक्तदंडो न निर्दण्डोधर्मकार्यानुशासनः।
चारनेत्रः प्रजा वेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा॥ — ११८.२२.

७ व्यसनानि च सर्वाणि भूपतिः परिवर्जयेत्। मत्स्य. ९८.२५; मनु. ७.४७

८ कुक्कुटरजातक — २२

९ तेसकुणजातक — ५२।

वेदज्ञ, विनम्र, मधुर व क्षमाशील, उत्साही शुचिसम्पन्न संयमी एवं ब्रह्मधारी जैसे गुणों की आवश्यकता पर स्मृतिकालीन विधिशास्त्री बल देते रहे थे।[१]

गुणों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि कुलीनता, सत्यवादिता, पक्षपात-रहितता, सदाचारी, गुणी, शुचिशील, मननशील, विवेकी दृढ़-संकल्पी एवं स्थिर विचारवान्, अप्रमादी, मनोविकारी द्रगुणो से विरक्त, अभय, शांतप्रिय, दैविक शक्तियों से युक्त - गुणों को सभी समृतिकारों ने एकमत से स्वीकार किया था।

न्यायधीश रूप मे स्मृतिकालीन नृप के गुणों की महत्ता को निम्न परिप्रेक्ष्य में परखा जा सकता है।

१. कुलीनता :- कुलीन से अभिप्राय ऐसे परिवार व कुल से है, जो अतीत-वर्तमान दोनों में आचरणशील, सभ्य, गुणज्ञ, अर्थज्ञ रहा हो। इस प्रकार के परिवार में जन्मे व्यक्ति को अनेक मानवीय गुण एवं श्रेष्ठ आचार-विचार जन्म से माता-पिता की गोद व लालन-पालन में सभ्य बनाने में सहायक होते थे।

कुलीनता के पीछे यह-भावना कार्य करती थी कि कुलीनव्यक्ति अपने कर्तव्यों के प्रति उत्तरदायी होते हुए अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करेगा। अपने सद्व्यवहार एवं विवेकशीलता को अमिट छाप, देशवासियों पर छोड़ सकेगा। अपनी कुल मर्यादा का ध्यान रखते हुए कर्तव्यपालन में निष्ठापूर्वक संलग्न रह सकेगा।

२. सत्य :- हमारे शास्त्रीय ग्रन्थों ने सत्य को तप व सूर्य की कोटि में रखा है। सत्य वह केन्द्र है जिस पर विश्व टिका है। अतएव न्यायधीश पद के अभ्यर्थी के लिए सत्य बोलना, सत्य सोचना, सत्य करना आवश्यक था। सत्य के निर्धाराणार्थ वादी-प्रतिवादी न्यायधीश के सम्मुख उपस्थित होते थे। और यदि उन्हें भी सत्य न मिले तो जन समूह का अशांत हो उठना स्वाभाविक था। विवाद की सत्यता प्राप्त करने के लिए सत्य आचरण आवश्यक गुण समझा जाता था।

३. पक्षपात रहित :- पक्षपात को भावना, तथ्यों से दूर ढ़केल देती है। वादी प्रतिवादी या स्वजनों के प्रति न्याय से हट कर पक्षपात करना महानदुर्गण था। वे ही जन न्यायाधीश पद के अधिकृत प्रत्याशी हो सकते थे, जो पक्षपात रहित होकर स्व तथा पर की भावना से हट कर न्याय का पक्ष लेते रहे हों। मित्र व शत्रु तथा दुराग्रह व पूर्वाग्रह के भाव से विरत व्यक्ति ही स्मृतिकाल में न्यायधीश पद के योग्य समझा जाता था।

---

१ मनु. ७.५४; याज्ञ.व्य.अ., का.मत्स्यसंग्रह १६.१८; गौ.स्मृ.रा. जधर्मवर्णन, वि.स्मृ. राजधर्म अध्याय, पारा.स्मृ. धर्माचरवर्णनम्, अथर्व. ११.५.१७.

४. सदाचारी :- सत् + आचारी = सत्य आचरणकर्ता, जो व्यक्ति दुर्गुणों, जैसे अपेय पीना, अखाद्य ग्रहण करना, अनाचार करना, अहित, अशान्ति, विघटन को प्रोत्साहित करना, एवं मानवीय विकारों जैसे क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, वासना, लोभ, भावुकता, निन्दा, तिरस्कार, आदि की ओर आकृष्ट होना, — से पृथक् रह कर लोक हितकारी तथा वेद एवं शास्त्रों तथा स्मृतियों द्वारा निर्धारित व अनुमोदित परम्पराओं एवं श्रेष्ठ कार्यों को स्वीकार करता था उसे सदाचारी स्वीकार किया जाता था। सत्य एवं श्रेष्ठ आचरणों व कृत्यों को क्रिया व्यापार में लाने वाले व्यक्ति को सदाचारी माना जाता था।

५. गुणी व विवेकी अर्थात् प्रतिभा सम्पन्न :- व्यक्ति का केवल विधिज्ञ व वेदज्ञ एवं शास्त्रज्ञ होना ही पर्याप्त नहीं था। गुणी व विवेकशील होना भी अनिवार्य था। विधि के ज्ञान के साथ-साथ उस ज्ञान का विवेकपूर्ण ढ़ग से विश्लेषण व उपयोग, गुणवान् व्यक्ति ही कर सकता था। अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के आधार पर लोक व्यवहार का स्मृति विधि से सामंजस्य बिठाने के निमित्त व्यक्ति में गुण व विवेक की अनिवार्यता की पुष्टि स्मृतिकारों ने की थी।

६. शुचि :- मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र होना ही शुचिता का आधार रहा था। शुचि विधिज्ञ व शास्त्रज्ञ ही न्यायपद की गरिमाको स्थापित करने में सफल रहे थे।

७. मननशील :- किसी भी कथन व श्रवण पर पूर्ण चिंतन करना मनन कहलाता है। ऐसे व्यक्ति जो अपनी पैनीदृष्टि के द्वारा विधि व शास्त्र की सूक्ष्मता व दृढ़ता को अपने मनन व चिंतन के द्वारा सुलझा कर समझा सकते थे उनको मननशील मानकर न्यायपद के योग्य समझा जाता था।

८. दृढ़-संकल्प व स्थिर-विचार :- न्यायधीश पद के प्रत्याशी के लिए दृढ़-संकल्प व स्थिर विचार रखना अनिवार्य था। भावुकता से परे हट कर दृढता पूर्वक अपने विचारों के निष्कर्ष को प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति न्याय पद पर नियुक्त करने को आवश्यकता की समर्थन स्मृतिकारों ने किया था। जिससे न्याय पद की पवित्रता व महानता बनी रह सके तथा जनसमूह उस पर आस्था व विश्वास बनाये रखें सकें।

९. अप्रमादी :- प्रमाद मानव के लिए अभिशाप रहा है। प्रमाद के वशीभूत मानव का पतन व विनाश सम्भव है। अतएव प्रमाद से दूर रहने वाले को अप्रमादी की कोटि में रखना स्तुत्य माना जाता था। अप्रमादो को न्याय पद की परिधि में नियुक्त कर, कामना की जाती थी कि अप्रमादी न्यायाधीश, त्वरित सुन्याय देकर जनता प्रमाद को दूर कर सकेगा।

१०. अभय :- निर्भयता, चरित्रवान् तथा सदाचारी मानव का अपना विशिष्ट गुण होता है। अन्य के पद, धन शक्ति, प्रभाव, एवम् वरिष्ठता की चिंता न करते हुए अपने सुमत व व्यवहार को व्यक्त कर देना अभय कहलाता है। बिना अभय के जीवन कुण्ठाग्रस्त हो जाता है। तथ्यपरक्ता दब कर रह जाती है। परिणामतः

निर्बल संरक्षण व सुन्याय पर मात्स्यन्याय प्रभावी हो जाता है । निर्भय व्यक्ति ही दण्ड व विधि का सदुपयोग करने में सक्ष्म हो सकता था । फलतः विधि की शक्ति का उपयोग करने वालों के लिए अभय को सपेक्षित माना जाता था ।

११. शान्तप्रिय :- धैर्य, शालीनता, शान्तप्रियता के ही पर्यायवाची माने जा सकते है । सहनशीलता का परिणाम सदैव ही सुखद होता है । वादी-प्रतिवादी, साक्षी एवं अन्य व्यक्तियों के कथनों व कार्यकलापों का धैर्य के साथ श्रवण व दर्शन, न्यायाधीश को व्यवहारमूल में छिपे तथ्य को प्राप्त कराने में सहायक हो सकता था । न्यायिक प्रक्रिया व न्यायाधीश् के व्यक्तिगत व सामूहिक व्यवहार में किसी भी प्रकार का अनृत होने की शंका नहीं रहती थी । धैर्य के फलस्वरूप अमंगल की शंका भी प्रायः समाप्त ही रहती थी ।

१२. दैविक शक्तियों से सम्पन्न :- न्यायाधीश के व्यक्तित्व में दैविक शक्तियों के समान तेज, उत्सर्गता, सामर्थ्यता, जितेन्द्रियता, धर्म परायणता, कर्तव्य-शीलता, दक्षता, उत्तमता, सुशीलता एवं क्षमाशीलता, की उपलब्धि अपना विशिष्ट स्थान रखती थी । पृथ्वी के समान क्षमाशील, सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्रसम शीतल, जल समान पवित्र व निर्मल अग्नि के समान शुद्ध व प्रचण्ड, आकाश के समान उच्च विचारवान्, वायु के समान भयहारी, तथा ब्रह्मा, विष्णु व शिव सदृश पाला-पोषक, एवं जन्मदाता व मंगलकारी एवं विघ्न हरने वाला होना दैविक लक्षणता का प्रतीक माना जाता था । देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान विज्ञताको दैविक व्यक्ति की परिधि में समाविष्ट किया गया था । उक्त दैविक गुणों से युक्त व्यक्ति देवता के समान तेजवान् व प्रभावशील होते हुए धर्माध्यक्ष के पद का सर्वोत्तम अभ्यर्थी बन सकता था । इसीलिये स्मृतिकारों ने वैदिक शक्ति से युक्त प्रतिभा प्रथम के रूप में वरीयता दी थी ।

सम्पूर्ण प्रकार को शैक्षिक योग्यताओं व गुणों के पीछे कुशल एवं विवेकी न्यायधीशों को नियुक्त करने का लक्ष्य रहा था । पूर्वोक्तयोग्यता व गुण दोनों मिलकर मणिकाचंन अथवा सोने में सुगन्ध की सार्थकता को चरितार्थ करते थे । अभीष्ट व लोक मंगलकारी न्याय की अनुपस्थिति, अनृत, अमंगल, अनिष्ट का हेतु बनती था, अतएव न्यायाधीश के लिए न्यायविदों व स्मृतिकारों मे योग्यता व गुणों को एकसाथ संसलिष्ट कर पवित्र न्यायव्यवस्था की स्थापना स्मृतिकाल में बन सकी थी । न्याय-प्रवाह को निष्पाप बनाने में न्यायविदों की योग्यता-गुण विशेष रूप में प्रभावी रहे थे ।

न्यायाधीशों के प्रकार :

स्मृति काल में न्याय करना पवित्र यज्ञ माना जाता था । विभिन्न प्रकार के न्यायाधीशों का उल्लेख स्मृतियों, अन्य धर्मग्रन्थों, अर्थशास्त्र आदि में मिलता है ।

ग्रामाणी से लेकर नृप तक की न्यायाधीश योजना अपने में सुसंगठित व सुलभ रही थी। इस न्यायधीश योजना का क्रमिक विकास निम्न प्रकार से विकसित हुआ था।

(१) नृप :

नृप अपने राष्ट्र का सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। सभी देवताओं का अंश उसमें विद्यमान है - ऐसा विश्वास किया जाता था। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र का प्रतीकरूप होने के कारण नृप को अपराधों व पापों का नाशक एवं विधि का निर्माता तथा विधि का मुख्यस्रोत भी माना जाता था।[१] यद्यपि वह अपने में अनियन्त्रित होता था, परन्तु शास्त्रीय नियमों का कदापि विरोध व अतिक्रमण नहीं कर सकता था।[२] न्यायमन्त्री तथा विद्वान् ब्राह्मण व पुरोहित के निर्देश मानने के लिए न्यायधीश व सभ्यों द्वारा सुझाए गए विधि — पथ पर चलने के लिए नृप बाध्य था।[३] प्रजा व्यवहार देखना उसका अपना प्रमुख कार्य होता था।[४] न्यायाधीश के रूप मे नृप प्रमाण माना जाता था। वह अपराधी को दण्डित भी कर सकता था और दण्डमुक्त भी। न्यायप्रक्रिया में वह अन्तिम और सर्वोच्च होता था। क्योंकि उसके निर्णय की अपील व पुनरावलोकन अन्यत्र नहीं हो सकता था।[५]

नृप को न्यायिक कार्यो में योग देने के निमित्त दस अन्य न्यायाधीश होते थे। इसे न्याय-परिषद् कहा जाता था। चार वैदक + एक मीमांसक + एक व्याकरणज्ञ + एक धर्मशास्त्रज्ञ + एक ब्राह्मण + एक क्षत्रिय + एक वैश्य। इस प्रकार कुल मिलाकर परिषद् में दस न्यायधीश होते थे। ऐसी परिषद् को ब्रह्मा की सभा अथवा यज्ञ के समान श्रेष्ठ माना जाता था। परिषद के कथनों को प्रमाण स्वरूप मानने के लिए नृप बाध्य, था। न्याय परिधि में नृप को इन सभ्यों (न्यायाधीशों) का नियन्त्रण स्वीकार करना पड़ता था।[६] क्योंकि संशयात्मक दशा

---

१ मनु. ७.१३, ८.४४; याज्ञ. १.३५४; अयो.का.रामायण १००.३६; महाभा. सभा पर्व. ३८; शा पर्व - ६९.५२; अर्थशा. १.१२; यजु. ७.३९; १९.१०; अथर्व.; ७८४.३; बृह.उ. १.४.१।

२ गौ.स्मृ. ९.२

३ वा.रा.मा. ७.४५; वसि. १.३९-४; १ गौतम - ११.१२-१४; मनु. ९.३२०

४ यज्ञःकार्यानुशासनम्। - अर्थ.अधि. १, अ. १५.४; व्यवहारांस्ततीदृष्ट्वा याज्ञ. १.३२७; मनु. ८.४५ - स्वयमेवव्यवहारान् पश्येत्। - वि.स्मृ.राजधर्माध्यायः

५ प्रमाणं चेन्तमतो राजा भवतो दण्ड धारणे। महा.शा.पर्व २३.३३

६ याज्ञ. १.२ — सा ब्रूत यं स धर्म।; बोधा. १.१.७; मनु. ८.११ यस्मिन्देशोनिषीदन्ति विप्राः वैदविदस्त्रयः। राजश्चाधिकृतो विद्वान ब्राह्मणस्तंसभा विदुः॥; मनु. ११ अ८ मनु १२.१११-११३; बोध. १.१.८ — चातर्वैद्यविकल्पी च अंगविद्धमपाठकः। आश्रमस्थास्त्रयो विप्राः पर्षदेषदशा वश॥ पारा.स्मृ.८.३५ - चत्वारश्चतुर्णापारगा वेदनां प्रागुत्तमः स्त्रयआश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरान् परिषदित्या चक्षते गौ स्मृ. पुत्रां विभाग १८.३५; महानिव्वानसुत्त; गो.स्मृ.पुत्रा.सं.वि. शा. प. ६९.२८ अग्नि पु. २५३ अर्थ. १.७

में एक व्यक्ति द्वारा दिया गया निर्णय वर्जित माना जाता था ।[१] तथा अन्याय होने की भी संभावना रहती थी । परिषद के सम्पूर्ण सदस्य निर्भीक होते हुए विवाद व विधि पर निर्मल विचार व्यक्त करते थे । निर्णय सर्वसम्मत या बहुमत के आधार पर होता था । नृप इस न्याय परिषद् की उपेक्षा नहीं कर सकता था । परन्तु वह इस परिषद का भी अध्यक्ष होता था । परिषद में विरोध होने पर वह अपने विवेक का प्रयोग 'वीटो' के रूप में कर सकता था ।

(२) न्यायमन्त्री

इसे न्यायाध्यक्ष, समाहर्ता तथा सचिव व सभापति आदि संज्ञाओं से जाना जाता था ।[२] न्याय कार्य में लगे न्यायाधीशों एवं न्याय सम्बन्धी विभिन्न कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करना, उनको सत्यता व कर्तव्यपरायणता परखना, दोषी न्यायाधीश व कर्मचारियों को दण्डित करना, न्याय प्रक्रिया को गतिशील रखना, न्यायमन्त्री का प्रमुख कार्य होता था ।[३] जिससे राष्ट्रवासियों की आस्था व विश्वास न्यायव्यवस्था में बराबर बनी रह सके । तथा न्याय कार्य में जुटे कर्मचारीस्वच्छन्द व उद्दण्ड तथा प्रमादो न बन जायें । न्यायमन्त्री, नृप एवम न्यायधीशों के मध्य की प्रमुख कड़ी होता था । यह राजा के प्रति सीधा उत्तरदायी होता था । नृप को न्याय की परिधि में न्यायमंत्री से की गई मन्त्रणानुरुप चलना पड़ता था । न्यायमंत्री को नृप तथा न्यायधीश उपेक्षा नहीं कर सकते थे ।[४]

शास्त्रज्ञ, वीर, लब्धलक्ष, कुलीन, पवित्र, धैर्यशील, विनयशील, श्रद्धावान्, मनोविकार व हट से विरक्त व्यक्ति की परीक्षा लेकर न्यायमंत्री नियुक्त क्रिया जाता था ।[५] न्यामंत्री की परीक्षा के सम्बन्ध में अर्थ. १.१० में उपधा शक्ति को लेकर विशद विवेचन समाविष्ट है । न्यायधीशों की नियुक्ति-वियुक्ति-पदोन्नति-

---

१ बोधा. १.१.१३

२ अर्थ. ४.४; मनु. ७.५४; गामणीचण्डकजातक २५७; यजु. ८.४५; धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्तत्पश्येदतन्द्रिसः । नगरेनगरेवास्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥ महा.शा.पर्व ८७.१० ; (देखभाल कोई प्रमादरहित धर्मरहित धर्मज्ञमन्त्री करे, अथवा ऐसा अधिकारों का होना चाहिये जो सभी कार्यों का चिन्तन व निरीक्षण करे ।)

३ अर्थ. ४.४; मनु. ७८१.६०, १२०

४ अर्थ. १.१५; याज्ञ. १.३१२; मुन. ७.५७; ५९; अग्नि. २४१; यजु. ६.४५

५ मोलान्छास्त्वविदः शूरांल्पब्धलक्षान्कुलोद्भावन् । सचिवान्सप्त चाष्टो वा व्रकुपीत परीक्षितान् ॥ — मनु. ७.५४; समन्त्रिणः प्रकुवर्तिप्राज्ञान्मौलान्स्थिरान्शुचीन् ॥ — याज्ञ. १.३१२; अर्थ.शा. १.९; महा.शा.पर्व ११८.२-३; ८०.२५-२६; वा.रामा.बालका. ७.७-१४; अयो.का. [illegible]०.१५; अग्नि. २३९, २२०; महा. सभा पर्व ५.४३; मत्स्यपुराण २१५८३-८४, गाम[illegible]चण्ड जातक - २५७

पदावनति-पुरस्कार या दण्ड आदि की व्यवस्था का सम्पादन न्यायध्यक्ष की विवेकशीलता पर ही आधारित था।

न्यायधीशों के चरित्र व कार्य तथा व्यवहार को परखने हेतु न्यायमंत्री की सहायतार्थ गुप्तचरों को व्यवस्था की गई थी। न्यायाधीशों की गतिविधियों पर दृष्टि रखने हेतु गुप्तचरों को सतर्क रखा जाता था। इस प्रकार के गुप्तचरों में संचारी-गुप्तचर (सर्वत्र घूमनेवाले) प्रमुख होते थे। तीन गुप्तचरों के कथन परस्पर मिलन जानपे पर बात को सत्य मान लेने का विधान था।[१]

विद्वान् क्षत्रीय, वैश्य तथा अनेक शास्त्रों के ज्ञाता ब्राह्मण को जो दण्डनीति का विशेषज्ञ होता था, उनको ही नृप, न्यायमंत्री के पद पर नियुक्त किया करता था।[२]

(३) उच्च न्यायधीश:

न्यायप्रणाली की शृंखला में उच्च न्यायाधीश का नृप के बाद दूसरा महत्वपूर्ण स्थान होता था। प्रशास्ता, प्राड्विवाक, धर्माध्यक्ष देशाध्यक्ष, विनिश्चय महामात्र सभासद आदि पर्यायवाची नामों से उच्च न्यायधीश (मुख्य न्यायाधीश) को जाना जाता था।[३] इसके नियंत्रण में व्यावहारिक तथा प्रदेष्ठा नामक न्यायधीश होते थे जो प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति व अधिकार से युक्त तथा हिंसा व फोजदारी के अभियोगों पर निर्णय देते थे। व्यावहारिक (धर्मस्थीय न्यायधीश), प्रदेष्ठा (दंडपाल) के द्वारा निर्णीत अभियोग की अपील सुनना, उच्च न्यायधीश के अधिकारक्षेत्र में होती थी। विधिक, नैतिक, व्यावहारिक सभी प्रकार के निर्देशों को मुख्य न्यायधीश अपने से नीचे के न्यायधीशों को अग्रसारित करता था। प्रत्येक प्रकार के न्यायालय उच्च न्यायाधीश के अधिकारक्षेत्र से प्रभावित थे। यह न्यायमंत्री एवं नृप से सीधा सम्बन्धित होता था। व्यवहारिक व प्रदेष्ठा न्यायधीश

---

१ तेषां वृत्ति परिणयेतकश्चिदराष्ट्रेषुतच्चरः। महा.श.पर्व ८७.१२ (निरीक्षक को कोई गुप्तचर राष्ट्र में घूमता रहे और सभासद् आदि के कार्य एवं मनोभाव को जानकर उसके पास सम्पूर्ण वृत्तान्तभेजतारहे)। मार्कण्डेय पृ. २८.२४; रामा.अयो.क्रा. १००.३६ कुशला व्यवहारेषु साहृदेषु परीक्षिताः। प्राप्तकालं यथा दण्डं धारयेयुः सुतेष्वपि॥ - वा.रामा.बा.का. - १०.७; अर्थ. १.१२; महा.मनु. - ७.१२२ - तेषांवृत्तं परिणोत्सम्भ्यग्राष्टेषतच्चरैः -- १२२ मनु. अ. ६ त्रयोणमेक वाक्य संप्रत्यय १.१२ ऋग्वेद ४.४.३-५ शा.पर्व ८७.११

२ विद्वांसः क्षत्रियावैश्याब्राह्मणाश्च बहुश्रुताः। दण्डनीतौ तु निष्पन्नामन्त्रिणः पृथिवीपते॥ महा. पर्व ६९.१४।

३ महा.सभा पर्व ५.३८; शा.पर्व - ६९.५२; रामा.अयो.कां. - १००.३६; अग्निपु. २२७; अर्थ. ५.३; माक.पु. २४.२२; मनु. ७.१४१; याज्ञ. २.३; अट्टकथा, याज्ञ. १.३५५; वि.स्मृ.राजधनाध्याय - १

की आचारवली इसी के द्वारा भरी जाती थी। न्यायधीशों की पदोन्नति, पदावनति के साथ न्यायधीशों की आचारवलियों का अवलोकन एवं इससे सम्बन्धित आपत्तियों को सुनना उच्च न्यायाधीश का अपना अधिकार रहा था। ज्येष्ठतासूची की घोषणा, वरिष्ठताक्रम की स्थापना भी उच्च न्यायधीश द्वारा होती थी।

तीन से लेकर नौ सहायक न्यायधीशों की नियुक्ति उच्च न्यायधीश के सहयोगार्थ होती थी। इसे न्यायसभा या न्यायसमिति कहते थे।[१] न्यायसभा अभियोग पर विचार करने के पश्चात अपराधी को दण्डित भी कर सकती थी और दण्डमुक्त भी। न्यायसभा के सम्पूर्ण सदस्य, उच्च न्यायधीश के साथ बैठ कर विवादित या अपीलीय विषयों पर विचार कर निर्णय करते थे। निर्णय का आधार बहुमत या सर्वसहमति होती थी।[२]

(३) -अ- व्यवहारिक : धर्मस्थ न्यायालय का न्यायाधीश :

सम्पत्ति विवाद अथवा हिंसा आदि के अभियोगों की अपील व्यवहारिक न्यायाधीश सुनता था। इसके अधिकार क्षेत्र में निम्नप्रकार के न्यायाधीश होते थे।[३]

न्यायालय का न्यायाधीश

क - सहस्त्रग्रामणी -	एक हजार ग्रामों के मध्य स्थापित न्यायालय का न्यायाधीश
ख - शतग्रामणी -	एक सौ " " " " " " " " "
ग - विशग्रामणी -	बीस ग्रामों " " " " " " "
घ- दसग्रामणी -	दस ग्रामों " " " ' " " " " "
ड - ग्रामणी या सूत -	एक ग्राम " " " " " " " " "

---

१ कण्डिनजा तक, अग्निपु. २५३; अर्थ. ३.१ ४.१; याज्ञ.आचाराध्याय ३५५ - सत्यसंधेन शचिनासुसहायेन धीमता. १; महा.शा.पर्व ६९.२८; मनु. - ८.११ - विप्राः वेदविदस्त्रयः १; गौ.ध.सू. २.३.४९; पारा.स्मृ. ८.१९-२०; ८.१५ — चत्वारो वा त्रयोवापिवेदवन्तोग्निहोत्रिण १ ब्राह्मणानांसमर्था ये परिषत्साविधीयते। १९ पारा.स्मृ. ८.१९; पंचत्रयो वा धर्मज्ञा परिषत्साप्रकीर्तिता। पारा. स्मृ. ८.२०-२२.

२ गौ.ध.सू. २.३.४९

३ बृहद.उप. ४.३.३७; रामा.अयो.का. १००.३६; अट्ठकण, महापरिनिवान सुत, ग्रामस्याधिपति कुर्यादश ग्रामपति तथा। विशतीशं शतेशं चख सहस्पतिमेव च सहस्त्र्पतिमेव च ॥ मनु. ७.११५; वि.स्मृ.राजधर्माः अध्याय-१, सभा. पर्व-३.३८; शा.पर्व ६९.३२; शत. ब्रा. ५.३.१; ५.४.४; अर्थ. ३.१०; ऋग्वेद १०.६२.११

उक्त न्यायधीशों को दण्डधिकारी भी कहते थे।[१] परन्तु अर्थशास्त्र ३.१ के अनुसार व्यवहारिक के नियन्त्रण में संग्रह, द्रोणमुख, एवं स्थानीय क्रमश दस ग्रामों, चार सौ ग्रामों और आठ सौ ग्रामों के मध्य स्थापित न्यायधीश की व्यवस्था रहती थी।[२]

ग्रामणी से लेकर सहस्त्र ग्रामणी तक के न्यायधीश संबंधित क्षेत्र के विवादों-का निपटारा करते थे। अपने अधिकार क्षेत्र में वे पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र होते थे।[३] दोषों का परिहार कर न्याय की स्थापना का दायित्व ग्रामणी न्यायधीश पर होता था। ग्रामणी न्यायधीश के साथ पांच पंचों की न्याय समिति होती थी।[४]

(३) - ब - प्रदेष्ठा :

कण्टक शोधन न्यायालय का उच्च न्यायाधीश प्रदेष्ठा कहलाता था। साहस पाल एवं दण्डपाल आदि प्रवेष्ठा न्यायधीश के सम्बोधनसूचक या पर्यायवाची शब्द थे। वाक्पारूष्य, दण्डपारुष्य, साहसं एवम् स्त्रीसंग्रह जैसे विवादों का निर्णय प्रदेष्ठा करता था इसके नियन्त्रण में निम्न प्रदेष्ठा न्यायधीश होते थे।[५]

(अ) संग्रहण प्रदेष्ठा	-	दस ग्रामों के मध्य स्थापित कण्टक शोधन न्यायलय का न्यायधीश
(ब) द्रौणमुख प्रदेष्ठा	-	चार सौ " " " " " "
(स) स्थानीय प्रदेष्ठा	-	आठ सौ " " " " " "

तीनों प्रकार के न्यायधीश स्वतन्त्र होते थे। परन्तु प्रदेष्ठा का नियन्त्रण बना रहता था। प्रदेष्ठा न्यायधीश, व्यहारिक न्यायाधीश, के नियन्त्रण में शोधनार्थ अभियोगों पर निर्णय देता था। प्रदेष्ठा न्यायाधीश धर्मस्थीय न्यायलय के प्रति उत्तरदायी होता था। परन्तु स्मृतियों में पृथक् से प्रदेष्ठा-न्यायालय-गठन समाविष्ठ नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि व्यवहारिक ही सब प्रकार के विवादों को अपने कनिष्ठन्यायाधीशों की सहायता से निर्णीत करता था।

---

१ वृहद. उप. ४.३.३७ शा. पर्व ग्रामस्याधिपतिः कार्योदशग्राम्यास्तथापरः। द्विगुणाया शत स्यैव सहस्रस्य च कारयेत॥ ३८७ अ.

२ अर्थ. ३.१ धर्मस्थास्त्रययोऽमात्याजनपद सन्धिसंग्रहण द्रोणमुख सथानीयेषु व्यवहारि कानर्थान् कुर्युः।

३ वि.स्मृ.राजधर्माः अध्यायः।

४ महा.सभा पर्व ५८१, अर्थ. १२.१-१५; पारा. ८.१९-२०

५ अर्थ. ४.१; रामा.अयो. १००.३६; अर्थ. १.१२; महा.शा.पर्व. ६९.५२; सभा पर्व — ५.३८; शतपथब्रा. ५.३.२

(४) सैनिक न्यायधीश

बौद्ध जातक कथाओं में सैनिक न्यायाधीशों की व्यवस्था है। सेनापति जहां सेनां का प्रधान नायक होता था वहां दूसरी और उच्च सैनिक न्यायधीश के रूप में सैनिक विवादों का निस्तारण भी करता था।[१] विद्रोही स्थिति को शान्त करने हेतु, नृप, सेनापति को ही सैनिक संबंधी न्यायिक अधिकार प्रदान करता था। नृपतन्त्र शासनप्रणाली में इस प्रकार की व्यवस्था थी।

परन्तु स्मृतिकारों ने इस व्यवस्था को हीन व त्याज्य समझकर इसकी पूर्ण उपेक्षा की थी। उन्होंने इस दूषित व्यवस्था को अग्राह्य समझा था। अतएव स्मृतिकालीन विधि एवं शारस्त्रीय ग्रन्थों में सैनिक न्यायाधीश की व्यवस्था की उपेक्षा की गई है। कठोर दण्ड के पक्षधर कौटिल्य ने भी सैनिक न्यायाधीश की अपने अर्थाशास्त्र में सर्वदा उपेक्षा बरती है। तलवार की नोक पर आधरित यह न्याय तथ्यों से दूर ले जाने वाला अपच न्याय माना जाता था। दूसरा कारण यह भी है कि ऋग्वेद से लेकर स्मृतिकाल तक की वैदिक रचनाओं का आधार सत्य, स्नेह, उदारता व धर्म तथा 'ऋत' रहा था। भय व उद्दण्डता नहीं। फलतः सैनिक न्यायधीश व सैनिक न्यायालय के बीज भारत की धार्मिक विधिक उर्वरक भूमि में अंकुरित व फलित न हो सके थे।

न्यायाधीश विवरण : रेखाचित्र

(अ) १. नृप : सर्वोच्च न्यायधीश
२. न्यायमन्त्री या न्यायाध्यक्ष

३. उच्च न्यायाधीश (प्रशास्ता, प्राड़विवाक, देशाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष)

३अ
व्यवहारिक
न्यायधीश
(धर्मस्थीय न्यायालय का अध्यक्ष)
प्रकार

क	ख	ग	घ	ड
सहस्त्रग्रामणी न्यायालय	शतग्रामणी न्याया.	विंशग्रामणी न्याया	दशग्रामणी न्याया.	ग्रामणी या सूत न्यायाधीश

१ यम्मजातक २२०, महानारद कश्यप जातक - ५४४

३ब
प्रदेष्ठा न्यायधीश-दण्डपाल,साहसापाल
(कण्टवशोधन न्यायालय का अध्यक्ष)
प्रकार

अ	ब	स
संग्रहण प्रदेष्ठा न्यायाधीश	द्रोणमुख प्रदेष्ठा न्यायधीश	स्थानीय प्रदेष्ठा न्यायधीश

(ब) ४. सैनिक न्यायाधीश

(स) ५. स्त्री न्यायाधीश (महारानी सर्वोच्च न्यायाध्यक्षा के रूप में प्रतिष्ठित)

उच्च न्यायधीशा (न्यायाध्यक्षा)

१- शतग्राम न्यायाधीशा	२- दसग्राम न्यायधीशा	३- ग्रामाधीशा
या	या	अथवा
शतग्रामाध्यक्ष	दसग्रामाध्यक्षा	ग्रामाध्यक्षा

(५) स्त्री न्यायाधीश

स्मृतिकाल में स्त्रीय-विवादों के निर्णयार्थ पृथक् से स्त्री न्यायाधीशों की नियुक्तियां की जाती थीं। इनका प्रथक् से स्वतन्त्र अस्तित्व होता था। स्त्री न्यायाध्यक्षा के पद पर योग्य एवं विधि की जानकार रानी या नारी को नियुक्त किया जाता था। इनमें न्यायाधीशों के समान ही गुणों व शैक्षिक योग्यता को वरीयता प्रदान की जाती थी।[१]

१. महारानी :— स्त्री न्यायधीशों में महारानी सर्वोच्च न्यायधीश होती थी। उसकी सहायतार्थ पृथक् से न्याय-परिषद का गठन भी होता था। स्त्री न्यायधीश में महारानी का निर्णय अन्तिम होता था। सर्वोच्च न्यायाध्यक्षा के रूप में महारानी की स्थिति, एवं अधिकार क्षेत्र, सर्वोच्च न्यायाधीश नृप के ही समान होते थे।[२]

२. उच्च-न्यायाधीश :- स्त्री न्यायाधीशों की शृंखला में उच्च न्यायाध्यक्षा का स्थान महारानी के बाद दूसरा होता था। इस पद पर रानी या किसी अन्य योग्य नारी को नियुक्ति महारानी द्वारा को जाती थी। पुरुष-न्यायालय के उच्च न्यायाधीश के समान ही इसे भी अधिकार व शक्ति प्राप्त थीं। इसके नियन्त्रण में :-

---

१ वि.स्मृ. राजधर्माध्यायः; यजुर्वेद — १०.२६

२ शतपथ ब्राह्. ५.३.२; यजु. १०.२६-२७; विष्णुस्मृ.राजधर्माध्यायः १; अयोध्याकाण्ड रामा.१००.३६; महा.शा.पर्व — १६.५२; सभा पर्व — ५.३८; मत्स्यपुराण — २१५.४२ यजुर्वेद १०.२६-२७

		ग्रामों के मध्य स्थापित नारी न्यायालय की न्यायधीश
(अ) शतग्रामों की न्यायाध्यक्षा		सौ ग्रामों के मध्य स्थापित.
(ब) दसग्रामाध्यक्ष	-	दस " " "
(स) ग्रामाध्यक्षा	-	एक " " "

ये उकृ न्यायध्यक्षा न्याय-सम्पादन करती थी । इसे स्त्रयाध्यक्ष या कलत्राध्यक्ष या अन्तपुराध्यक्ष भी कहा जाता था । विष्णुस्मृति में[१] इसे देशाध्यक्ष कहा गया है । योग्य नारी के अभाव में उन नपुंसकों को जो विधिज्ञ व शास्त्रश्र होते थे तथा जिनमें न्यायाधीश के गुणों का समायोजन होता था या जिन्हें महारानी स्त्री न्यायालय के न्यायाधीश पद के योग्य समझती थी उन नपुंसकों को भी रखा न्यायाधीश के पद पर नियुक्त करती थी ।[२]

परन्तु बुद्ध काल में स्त्री न्यायालयों का प्रबल विरोध दिखाई देने लगा । स्त्रियों को न्यायपद देने वाले नृप व राज्य को निन्दनीय, माना जाने लगा था ।[३]

न्यायाधीशों की नियुक्ति

अपेक्षित गुणों से युक्त (पूर्वोक्त) व्यक्ति या व्यक्तियों की पूर्ण व भली प्रकार परीक्षा लेकर नृप न्यायाधीश व सभ्य अथवा न्यायाधीशों व सभ्यों को नियुक्त करता था । न्यायाधीश की नियुक्ति विधि शास्त्र के विद्वानों की मन्त्रण व संस्तुति पर की जाती थी ।[४] प्रौढ़ावस्था के विवेकशील व्यक्ति को न्यायासन पर नियुक्त करने का विधान था ।[५] देशाचारों से अनभिज्ञ, नास्तिक, क्रोधी, लोभी,

---

१ आश्वमेधिकपर्व - २२.२०; शल्यपर्व २९.७२-९४; यजु. १०.२७; तत्रग्रामाध्यक्षानपिकुर्यात् दशाध्यक्षान्, शताध्यक्षान्, देशाध्यक्षान् । विष्णु.स्मृ.राजधर्माध्यायः ।

२ षण्ढान् स्त्रीषु । वि.स्मृ.,राजधर्माध्याय ।

३ धिरत्यु तं जनपदं यत्थिथी परिनायिकाः - कण्डिठन् जातक - १३ (जिस जनपद का स्त्रियां संचालन करती हैं उस जनपद को धिक्कार है ।)

४ ऋग्वेद ७.४.३ - अस्य देवस्य संसघनी के यं पर्तासः श्येतं जगृभे । (विद्वानों को चाहिये कि अच्छे प्रकार परीक्षा कर सभासदों और अध्यक्षों को नियत करें ।); ऋग्. ४.४.३; अथर्व. ४.३०.७; ८.३.१, ५, ६, २०-२२; अर्थशा- १.७; मनु. ७.१४१; २.२„ ३०; महा.उ.पर्व - १९.२८; शा.पर्व — ९१.४९; वा.रामा.बा.कांड — ७.१०; अयो.का. — १००.३६; आ प.ध.सू. २.२६.४

५ ऋग्वेद ८.६७.२१ |; ७.४.३; महा.शा.पर्व ८५.९; आ प. २.११.२९

घमण्डी व दरिद्र एवं व्यसनी व्यक्ति को कदापि न्यायाधीश पद पर नियुक्त नहीं किया जाता था।[१]

प्रमुख वा सहायक न्यायाधीश के पद पर विद्वान् ब्राह्मण की नियुक्ति होती थी। ब्राह्मण के अभाव में धर्मज्ञ व शास्त्रज्ञ क्षत्रिय, तत् पश्चात वैश्य को वरीयता दी जाती थी। किन्तु, शूद्र को न्यायाधीश पद पर भूल कर भी नियुक्ति देने का विधान नहीं था। मनु ने तो शूद्र की अपेक्षा अविद्वान ब्राह्मणं को न्यायधीश के उपयुक्त मान कर नियुक्त करने की अनुमति प्रदान की थी। उनका विश्वास था कि शूद्र न्यायाधीश राज्य का अकल्याण कर सकता है।[२] कात्यायन ने ब्राह्मण व क्षत्रियों को न्याय पद के योग्य माना था। उन्होनें वैश्य व शूद्र को न्याय पद पर नियुक्त करना निषिद्ध ठहराया था।[३]

संक्षेप में स्पष्ट है कि अपेक्षित गुणों से युक्त प्रोढ़ावस्था के ऐसे व्यक्ति को जो व्यसनों एवं दुर्गुणों से विरत होता था, शास्त्रों व विद्ववानों की अनुमति के पश्चात् न्यायाधीश पद पर नियुक्त किया जाता था। क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रीय, एवं वैश्य को न्याय पद पर आसीन करने में वरीयता मिलती थी। स्त्री न्यायाधीशों की नियुक्ति महारानी करती थी। योग्य रानियों व स्त्रियों के अभाव में नपुंसकों को स्त्री न्यायालयों की न्यायाधीश चुना जाता था। चुनने से पूर्व गुणों के आधार पर परीक्षा ली जाती थी।[४] महारानी उच्च न्यायधीश — (स्त्री न्यायालय) — से न्यायाधीश नियुक्त करने से पूर्व मन्त्रणा करती थी।

पुरुष न्यायधीशों की नियुक्ति नृप द्वारा, एवं स्त्री न्यायाधीशों की नियुक्ति महारानी द्वारा की जाती थी।

---

१ मनु. ७.४७, ४८, ४९, ५३; क्रोधलोभविवर्जितः याज्ञ. व्य.अ. - १

२ मनु. ८.९ : तदा नियुज्जयाद्विद्वांसंब्राह्मणकार्यदर्शने।; याज्ञ. २.३; सभ्ये; सहनियुक्तव्योब्राह्मणः सर्वधर्मवित् । मनु. ८.२०; जातिमात्रोपजीवीवा कामंस्यादब्राह्मणब्रुव। धर्मप्रवक्तानृपतेन तु शुद्रः कथंवन॥ नारद ३.४; आ प.ध.सू. २.२६.४; महा.उ.प. १९.२८; शा.प. ८५.९, ११; ९१.४९; मनु. ८.२१; मनु. ८.२१; मत्स्यपु. ९३.२४; गौ.ध.सू. २.४.२६ : राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित्॥; मत्स्य. ९३.२४ : समःशत्रौचमित्रे च धर्मशास्त्रेविशारदः। विप्रमुख्यः कुलीनश्च धर्माधिकारी भवेत्॥; मनु. ७.४१; वि.स्मृ.रा.ध.अ. - व्यवहारदर्शने ब्राह्मणं वा नियुजयात्।

३ ब्राह्मणो यत्र न स्यात्तु क्षत्रीयं तत्र योजयेत्। वैश्यं वा धर्मशास्त्रज्ञ शूद्रं यत्र यत्नेन वर्जयेत्॥ कात्या. (उद्.याज्ञ.स्मृ.२.३ - मिताकराव्याख्या) यत्रविप्रो न विद्वानस्यात् क्षत्रियं तत्र योजयेत्। वैश्यं वा धर्म्मशास्त्रं शूद्रं यत्रे न वर्जयेत्॥ कात्या. मतसंग्रह -२०

४ वि.स्मृ.राजधर्माध्याय - १

नियुक्ति पश्चात् न्यायधीशों पर प्रतिबन्ध

न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के पश्चात् न्यायाधीश को निम्नलिखित प्रतिबन्धों से प्रभावित होता पड़ता था।

सदैव राष्ट्र कल्याण व सर्वजनहिताय के मार्ग चलना[१], अपराधी को अपराधानुरूप दण्डित करना आवश्यक था, जिससे विघ्नबाधायें समाप्त हो सके,[२] पक्षपात से विरत रह कर, सत्य पूर्वक न्याय करना अपराधी को निःसंकोच दण्डितकरना एवं निरपराधी को सम्मानित व पुरस्कृत करना अनिवार्य था।[३] जिससे अनृत दोहन हो सके और सत्य को विकासोन्मुख होने का अवसरमिल सके। स्व तथा पर, प्रिय एवं अप्रिय के भाव से विरत होकर सम्यक् दृष्टिकोण रखते हुए,[४] असत्य-कटुता, अनृत, प्रजा-शोषण आदि दुष्कृत्यों को त्यागना पड़ता था।[५] अपने पद की गरिमा रखते हुए पदच्युत न होना,[६] पितृतुल्य व्यवहार करना,[७] समयानुसार विनम्र तथा कठोर बने रहने का निर्देश न्यायाधीश को दिया जाता था; क्योंकि सदैव की कोमलता एवं निष्ठुरता दोनों न्याय पद पर दुष्प्रभाव ड़ाल सकती[८] थी, न्याय पूर्वक परम्पराओं, नियमों, विधिशास्त्रों के आदेशों का पालन करते हुए विधिपरिधि में न्यायाधीश रहने के लिए प्रतिबन्धित था।[९] सभी प्रकार के व्यसनों,[१०] निन्दा-स्तुति से पृथक् रहते हुए अनुशासित रहने के लिए न्यायधीश बाध्य थे।

न्यायधीश का पद गरिमा पूर्ण होने के कारण उसकी प्रतिष्ठाकोआस्था व विश्वास का केन्द्रबिन्दु बनाये रखने के सतत प्रयास किये जाते थे। प्रजा का विश्वास न्यायपद्धति में विश्वस्त रूप से बना रहे, न्यायधीश पर आक्षेप-विक्षेप न

---

१ ऋग्. ७.६४.३; यजु. १३.३७

२ ऋग्. ८.३५.१२; ४२.५; १.१६८; १.३६.१५; अथर्व. १३.१.३; ७८४.३; ३.६.२-८; महा.शा.पर्व ११८.२२; वनपर्व २०७८६

३ यजु. १०.२९; १२.१७, ६३, २०.५२; महा.शा.पर्व ६.४७; ९१.४९

४ यजु. २०.१०; महा.वन. २०७.२९; मत्स्य. ९३.२४ - समःशात्रोचमित्रैच। भक्तिश्चैषां न कर्तव्याव्यवहारे प्रदशिते॥ (न्याय में स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिए); अर्थ. ३.१.३; याज्ञ. २.३; ४.९; कात्या. - ७० वसिष्ठ. १६.३-५; नारद - १.३४, ६७; वि.ध.सू. ५.१८०

५ यजु. २३. २२- २४, २६, २८

६ अर्थ. ६८७.२

७ अथर्व. २.१३.१; पितापुत्रान् इव।

८ तस्मान्नात्युतसृजेत् तेजो न च नित्यंमुदुभंवेत् ।कालेकाले तू संप्राप्ते मृदुस्तीक्ष्णोऽपि वा भवेत्॥ वनपर्व २८.२३, २४

९ वनपर्व २०७.९०; तेसकुणजातक; मनु. ७.११३ - राष्ट्रस्यसंग्रहेनित्यं विधान मिदमाचरेत्॥ कात्या. मतसंग्रह - १५

१० मत्स्य. ९८.२५ - व्यंसंनांनि च सर्वाणिभूपतिः परिवर्जत्। तेसकुणजातक ५२।; मनु. ७.४७-४९, ३३

होवे, इस हेतु प्रत्येक न्यायधीश को अभियोग के परिणाम, दशा तथा शास्त्रीय आधारानुरूप सत्य बोलना पड़ता था। क्योंकि विपरीत बोलना अनृत व पाप समझा जाता था।[१] न्यायाधीश व्यवहार से विमुख भी नहीं हो सकते थे।[२]

विभिन्न प्रकार के प्रतिबन्धों का पालन, अनुकरण, रक्षण, प्रत्येक न्यायधीश तथा न्यायप्रक्रिया में संलग्न व्यक्ति के लिए अपेक्षित, तथा सेवा की अनिवार्यशर्त व अनुबन्ध माना जाता था। प्रतिबन्धों की उपेक्षा पर न्यायधीश की पदावनति, सेवानिवृति तक हो सकती थी। प्रतिबन्धों का पालन भली प्रकार सतर्कता से हो रहा है अथवा नहीं, इसकी जांच न्यायमंत्री, गुप्तचर विभाग की सहायता से करता रहता था।[३] प्रतिबन्धों का विधान न्यायाधीश व न्यायव्यवस्था को चुस्त, सुदृढ़, एवम् सतर्क रखने में सहायक होता था।

न्यायाधीशों का वेतन

न्यायधीशों के वेतन उनके पदानुसार नकद रूप में दिया जाता था। ग्रामणो न्यायपति को वेतन के रूप में जीवनोपयोगी समस्त सामग्री, जैसे — अन्न, काष्ठ, भोजन, पेयपदार्थ अन्य सामग्री, मिलती थी। दश ग्रामणी को एक कुल भूमि (जो १२ बैलों से जोती जाती हो) विश ग्रामणी को पांच कुलभूमि, शतग्रामणी को एक सम्पन्न ग्राम की कुल आय (कर से होने वाली आय) सहस्र ग्रामणी को एक सम्पन्न नगर की सम्पूर्ण कर की आय वेतन के रूप में मिलती थी।[४]

धर्मस्थीय न्यायालय के न्यायधीश ::व्यवहारिक" को बारह हजार पण तथा कण्टक शोधन न्यायालय के न्यायाधीश प्रदेष्ठा को आठ हजार पण वेतन वार्षिक मिलता था। उच्च न्यायाधीश (प्रशास्ता, प्राड्विवाक, धर्माध्यक्ष) को चौबीस हजार पण वार्षिक राज्यकोष से नकद वेतन मिलता था। स्त्री न्यायालय की उच्च न्यायाधीश को भी चोबीस हजार पण वार्षिक वेतन ही मिलता था। न्यायमंत्री तथा

---

१ मनु. ८.१३

२ मार्कण्डेय पुराण २४.२२

३ मनु. ७.८१

४ यानिराज प्रदेयानि प्रत्यहं ग्रामवासिभिः। अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्यवाप्नुयात्॥ मनु. ७.११८; दशीकुलं तु युन्जीत विंशीपंचकुलानिच। ग्रामंग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः परम्॥ मनु. ७.११९ यानिग्राम्याणि भोज्यानिग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्। दशपस्तेनभर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः॥ महा.शा.पर्व ८७.६; ग्रामंग्रामंशताध्यक्षो भोक्तुमहतिसत्कृतः। महान्तं भरतश्रेष्ठसुस्फीतं जनसंकुलम्॥ महा.शा.पर्व ८७.७; तत्र ह्यनेक पायत्तं राज्ञो भवति भारत। शासनगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः॥ शा.पर्व. ८७८; अर्थशा. ५.३

सर्वोच्चस्त्री न्यायालय की न्यायाध्यक्षा के रूप में महारानी को अड़तालीस हजार पण वेतन देय होता था।[१]

प्रदेष्ठा के सहायकों, संग्रहण, द्रोणमुख एवं स्थानीय न्यायाधीशों को मनु. ७.११८, ११९ के अनुसार क्रमशः एक कुलभूमि, चार ग्रामों की राजकीय आय, ब आठ ग्रामों की राजकीय आय वेतन रूप में मिलती रही थी। इसी प्रकार स्त्री न्यायालय की ग्रामाध्यक्षा दश ग्रामाध्यक्षा, व शतग्रामाध्यक्षा को भी क्रमशः जीवन उपयोगी सामग्री, एक कुल भूमि, एक सम्पन्न ग्राम की सम्पूर्ण राजकीय आय वेतन रूप में मिलती थी। धन के अभाव मे उपजाऊ भूमि भी अधिकारियों को वेतन रूप में दी जाती थी, परन्तु अधिकारीगण इस भूमि को विक्रय नहीं कर सकते थे और न दान दे सकते थे।[२]

न्यायाधिकारियों का वेतन व भूमि सम्बन्धी सम्पूर्ण आय कर मुक्त रखती थी।[३] स्थाई व अस्थाई न्यायिक कर्मचारियों को उनकी विद्वत्ता, दक्षता, कार्यपद्धती एवं कार्यश्रेष्ठता के अनुसार उनके भत्ते व वेतन में वृद्धि होती थी। पुरस्कार भी मिलता था।[४]

न्यायधीशों के अतिरिक्त न्याय-कार्य में सहयोगी कर्मचारियों को निम्नांकित प्रकार से वेतन दिया जाता था।[५]

कर्मचारी पद		वेतन प्रतिवर्ष
१. लेखक	:	पांच-सौ पण
२. सेवक (परिचारक) चौकीदार आदि)	:	साठ-पण
३. गुप्तचर	:	पांच-सौ पण
४. गुप्तचर के सहयोगी	:	दो-सौपचास पण

१ मन्त्रि ... राजमहिष्यो ष्टचत्वारिंशतहस्राः ॥ अर्थ.शा. ५.३; प्रशास्त - चतुर्विंशतिसाहस्राः ॥ अर्थाशा. ५.३; पौरव्यावहारिकः ... द्वादशसाहस्राः । ... प्रदेष्ठाश्च अष्टसा हस्राः ॥ अर्थ. ५.३

२ अर्थशा. २.१

३ अर्थशा. २.१

४ एतेन भृतानामभृतानां च विद्याकर्मभ्यां भक्तवेतनविशेष च दद्यात्। — अर्थशा. ५.३। कच्चितपुरुषकारेण पुरुषः कर्मशोभयन्। लभतेमानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ — महा.सभा पर्वः ५.५३

५ अर्थ. ५.३ : लेखकादिवर्गाः पंचशताः। परिचारकः ... पालकं ... षष्ठीवेतनाः ॥

न्यायाधीशों एवं अन्य कर्मचारियों के वेतन विवरण से स्पष्ट होता है कि स्मृतिकाल में न्यायधीशों, एवं अन्य न्यायिक कर्मचारियों को पर्याप्त धनराशि वेतन में दी जाती थी। जिससे वे पथभ्रष्ट न हो सकें। आर्थिक प्रलोभन से दूर रहकर न्यायिक कर्तव्यों का पालन कर सकें तथा लोभवश धन की थैलियों पर न्याय का विक्रय न कर सकें।

वेतन-विवरण : रेखाचित्र

१. न्यायमन्त्री या राजमहिषी : ४८ हजार पण वार्षिक

२. उच्च न्यायाधीश : २४ हजार पण वार्षिक

व्यावहारिक १२ हजार पण प्रतिवर्ष				प्रदेष्ठा ८ हजार पण प्रतिवर्ष
सहस्त्र ग्रामणी एक नगर की राजकीय आय	शत ग्रामणी एक ग्राम की राजकीय आय	विंश ग्रामणी पांच कुलभूमि	दशाग्रामणी एककुलभूमि	ग्रामणी जीवनोपयोगी सामग्री

स्थनीय प्रवेष्ठा	द्रोणमुख प्रवेष्ठा	संग्रहण प्रवेष्ठा
आठग्रामों को राजकीय आय	चारग्रामों की राजकीय आय	एक कुलभूमि

३. स्त्रीन्यायाधीश

अ - महारानी ४८ हजार पण प्रतिवर्ष

ब - उच्च न्यायाध्यक्षा २४ हजार पण प्रतिवर्ष.

स- शतग्रामाध्यक्षा	द- दशग्रामाध्यक्षा	ध- ग्रामाध्यक्षा जीवनोपयोगी सामग्री

शतग्रामाध्यक्षा को वेतन के रुप में एक सम्पन्न ग्राम की सम्पूर्ण राजकीय आय, दशग्रामाध्यक्षा एक कुल भूमि ग्रामाध्यक्षा जीवनोयोगी सामग्री प्रदान की जाती थी।

कार्यरत न्यायिक कर्मचारी के मृत्युगामी हो जाने पर, मृतक के पुत्र व पत्नी को जीवन-निर्वाह निमित्त धन, सहायता अथवा नौकरी, देने की भी व्यवस्था थी। कर्मचारी की रुणावस्था, सन्तानोत्पत्ति, विवाह एवं अन्त्येष्टि-क्रिया पर भी राजकीय सहायता मिलती रहती थी। आर्थिक कष्टों का सम्पूर्ण निवारण राज्य की ओर से किया जाता रहा था। सेवा-निवृत्ति पर कर्मचारी को पेंशन के रूप में अनुग्रह-धन

देने का विधान था। जिससे उस के जीवन का शेष भाग आर्थिक उत्पीड़न से दूर रह कर सुखी रह सके।[1] इस प्रकार की विभिन्न व्यवस्थाओं के पीछे न्यायिक व्यवस्था में लगे सम्पूर्ण कर्मचारियों के सर्वांग जीवन की शुभ एवं मंगलमय कामना की जाती थी। उनके सर्वहितों को ध्यान में रख कर उन्हें निर्भय तथा आर्थिक स्थिति से सम्पन्न बनाया जाता था। जिससे वे विपन्नता के ग्रास न हो सकें। तथा निर्मल न्यायव्यवस्था की स्थापना में सहायक हो सकें।

न्यायधीश का कार्यक्षेत्र

न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के पश्चात् उसका कार्य-क्षेत्र निर्धारित था। कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत वह अपने दायित्वों का सम्पादनकरता था। न्यायाधीश न्यायव्यवस्था के प्रति पूर्ण रूपेण उत्तरदायी रहते थे।[2] यथाशक्ति शत्रुसंहार, अपराधशोधन, दुष्ट और हिंसकों से न्याय द्वारा प्रजारक्षण करना उनका विशिष्ट कर्तव्य था।[3] अपराधियों को दण्डितकर न्यायव्यवस्था को चलाने हेतु न्यायधीश प्रयत्नरत रहता था।[4] भली प्रकार अभियोग को सुनकर, गरुड समान पैनीदृष्टि रखते हुए नीर-क्षीर-विवेकी की मर्यादा की स्थापना न्यायाधीशों द्वारा की जाती थी।[5]

चंचलता से पृथक् रह कर पद की मर्यादा को स्थिर रखते हुए विधिशास्त्रियों की सलाह मान कर पितृसम सर्वाहिताय की कामना करते हुए येनकेनपराकेण शत्रु-विनाश, न्यायधीश की कार्यप्रणाली का मुख्य अंग था।[6] धर्मभ्रष्ट्र जनों को स्वधर्म मार्ग पर स्थापित करने के प्रयत्न किए जाते थे।[7]

साम-दाम-दण्ड-भेद उपायों को आधार मान कर, गुप्तचरों के अन्वेषण व परिषद-न्यायविदों को सलाह पर न्यायसिद्धि के प्रयत्न किए जाते थे।[8] समुचित रुप मे जन सुरक्षा व हित हेतु अपराधी को दण्डित करना, विधि के अनुसार

---

१ कर्मसु मृतानां पुत्रदा राभक्तवेतन लभेरत्। बालवृद्धव्याधिताश्चेपामनुग्राह्याः। प्रेतव्याधितसूतिककृतयेषु चैषामर्थमानकर्मं कुर्याव॥ अर्थ. ५.३;। महा.सभापर्व. — कच्चित्दारामनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम्। व्यसनं चाभ्युपेतानां विभर्षि भरतर्षभ॥ ५.५५ सभापर्व

२ ऋग्वेद १.२३.३; अर्थ. १.१५; तेसकुणजातक ५२१

३ ऋग्वेद १.१६८, ३३.१२; ३६.१५-१८; यजु. ७.२८

४ अर्थ. ८.३.१९; महा.शा.पर्व ८८.१८-२०

५ अर्थ. १६.२.५

६ अर्थ. ६.८७.१, २, ३; ३.६.२-८; पितापुत्रान् इव॥ अर्थववेद २.१३; तेसकुण जातक - ५२१

७ चलतश्चैतान्स्वधर्मेस्थापयेत। गौ.ध.सू. २.२.१०

८ राजामुपायश्चारश्य बुद्धिमन्त्र पराक्रमः। निग्रह प्रग्रहोचैव दाक्ष्य न कार्यसाधकम्॥ महा.वनपर्व १०५.४१; युक्तदण्डो न निद्रण्डोधर्मकार्यानुशासनः। चारनेत्रः प्रजावेक्षीधर्मार्थकुशलः सदा॥ शा.पर्व ११८.२२

प्रामाणिक अपराधी को दण्डित करने, कारागार में डालने का आदेश देना न्यायधीश का कार्य था।[1] विवाद के मुलउद्गम तक पहुंचने का प्रयास भी किया जाता था।[2] अधर्म, अपयश से बचने के लिए अकृत्यों व अपराधों को रोकने हेतु न्यायाधीश सतत प्रयत्नशील रहते थे।[3] पक्षपात, राग-द्वेष, भय-लोभ से रहित होकर विद्वान् न्यायविदों से सहयोग लेकर निर्णय करना, परम्पराओं का पालन करना, धर्मशास्त्र के नियमों के अनुरूप चलना न्यायधीशों के लिए अनिवार्य रहा था।[4]

न्यायधीश का अधिकार-क्षेत्र

न्याय पद की गरिमा एवं न्यायाधीश पद को महत्त्वशाली बनाने के लिए स्मृतिकारों ने न्यायविदों को कुछ साधारण और असाधारण अधिकार प्रदान किये थे। इन अधिकारों से सभासदों की प्रतिष्ठा उभरती थी।[5]

निष्पक्ष न्याय देना, निर्भीकता पूर्वक न्यायिक स्तर पर नृप को मन्त्रणा देना, तथा नृप की त्रुटियों को नृप के सम्मुख उद्घाटित कर देना, अनृत मार्ग से नृप व प्रजा को विरत करना, मर्यादाओं का तिरस्कार करने वालों व अपराधियों को दण्डित करना, तिरस्कृत करना तथा ग्राम व देश से निष्कासित कर देने का विशेषधिकार प्राप्त थी।[6] राष्ट्र कल्याणी नियमों का सृजन तथा अनुचित उद्देश्यहीन नियमों व परम्पराओं का परिचलन बन्द करने की शक्ति न्यायाधीश को प्राप्त थी। नियमों के अभाव में परम्पराओं के अनुरूप न्याय करने का विशेषधिकार भी न्यायाधीश को प्राप्त था।[7]

विभिन्न उपायों द्वारा अपराधियों का पता लगाना, तथा उन्हें अपराध के आधार पर शास्त्रानुसार दण्डित करना, कारागार में बन्द रखना, तथा अपराध सिद्ध न होने पर मुक्त व सम्मानित करने की शक्ति प्राप्त थी।[8]

---

१ महा.शा.पर्व ८५.२५; अग्नि पृ. २५३; अर्थ.३.५.५; तेसकुणजतक - ५२१

२ कुक्कुरजातक - २२

३ पादोऽधर्मस्याकर्तारं पादः साक्षिणंपृच्छति। पादःसभासदःसर्वान्पादोराजन्म्पृच्छति॥ मनु.अ.८.१८; (अधर्म के चार भाग होते हो प्रथम भाग को अधर्मो, द्वितीय भाग को साक्षी, तृतीय भाग को न्यायविद, चतुर्थ भाग को राजा स्वंय भोगता है) मनु. ८.१२, १५

४ मनु. ८.३; नारद १.३७; याज्ञ. २.१;

५ ऋग्. ७.६४.३; १८.६; महा.शा.पव ६९.३०

६ अग्नि. २४.१.१६-१८; बृह.उद्.स्मृ.चं. - २, पृ. २२५; अर्थ. ३.१०; मनु. ८.३, याज्ञ. २.१, नारद १.३७; का.उद्.स्मृ.चं.२, पृ. २१; अथर्व. ८.३.१८; ८.४.२५; महा.शा.पर्व ६९.३०; ८८.१८

७ नारद २.६; पितामह उद.स्मृ.चं. - २, पृ. २६; तेसकुण्जा. ५२१; ऋग्. ८.२६.१४

८ महा.शा.पर्व ८४.५१; ८५.२३ आगमानुगमं कृत्वा बन्धीयान्मोक्षयतिवा॥८५.२५; शा. पर्व ' तेसकुणजातक ५२१ - शा.पर्व ८५.२५

स्मृतियों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक उच्च न्यायाधीश अपने से कनिष्ठ न्यायाधीशों द्वारा निर्णीत अभियोगों को अपीलें सुनने, न्यायिक कार्यो का निरीक्षण करने, नियमानुकूल आदेश देने, कनिष्ठ न्यायालयों के न्यायधीशों के विरुद्ध अभियोग सुनने, उनके कार्य-कलापों पर ध्यान देने तथा उनकी सेवा पुस्तिका व चरित्रावली में प्रविष्टयां करने की सक्षमता रखता था। कनिष्ठ न्यायाधीशों की नियुक्ति, पदोन्नति, पदावनति के क्षेत्र में ज्येष्ठ न्यायाधीशों की संस्तुतियों का अपना विशिष्ट महत्तव होता था।

अवरोधादेश देना या न देना, प्रतिभू स्वीकार या अस्वीकारकर देना, अपील सुनने के आवेदनपत्र पर स्वीकृति देना या न देना, जैसी अपरिमेय शक्ति स्मृतिकालीन न्यायाधीश को प्राप्त थी। अपने द्वारा दिए गए निर्णय पर पुनः विचार कर, उसमें संशोधन करने या न करने में वह पूर्णतः स्वतन्त्र होता था। विशुद्ध न्याय स्थापना के परिसर में वह पूर्णतः स्वतन्त्र था।

पदोन्नति

स्मृतिकालीन न्यायविदों को उनको कर्त्तव्यनिष्ठा, निष्पक्ष भावना, पाप और अपराध शोधन की क्षमता, व्यवहार कुशलता व दक्षता से सम्पन्न, लोभ, पाप रहित, श्रेष्ठ लोकाचार व परमपराओं के पालनकर्ता तथा परीक्षा में खरे उतरे न्यायविद की पदोन्नति की जाती थी। समय समय पर विभिन्न प्रकार के पुरस्कारों से पुरस्कृत भी किया जाता था।[१]

नीर-क्षीर-विवेकी, उचित दण्ड देने वाले न्यायविद् को पाप से[२] मुक्त मानकर सम्मान दिया जाता था। उनके वेतन और भत्ते में वृद्धि होती थी।

पदोन्नति व पुरस्कार का मुख्योद्देश्य न्यायविदों की पवित्रता व कार्यदक्षता एवं नीर-क्षीर-भावना को स्थिर व सुरक्षित रखकर शक्ति प्रदान की जाती थी। न्यायविद् सदैव सम्मानपूर्वक आर्थिक व राजनैतिक-दबाव से मुक्त रह सके न्यायावस्था सुचारु व सुदृढ़ रूप में गतिमान होती रहे ऐसा स्मृतिकालीन विधिज्ञों का दृष्टिकोण रहा था। पवित्रभाव से न्यायसम्पादन कर्ता न्यायाधीश को सम्मानित, अभिनन्दित व पुरस्कृत किया जाता था।

पदावनति

न्यायाधीशों को धर्म, अर्थ काम, भय से अवसरों पर प्रलोभन दे कर परीक्षा ली जाती थी जिससे न्याय-कार्य में लगे सभ्य एवं अन्य कर्मचारियों की सत्यता, निर्भयता, र्निलोभता, कर्तव्य-परायणता, निश्पक्षता, एवं नीर-क्षीर भावना तथा

---

१ साधून्समानयेद्राजा ... याज्ञ. १.३३६; यजुर्वेद ९.२; अग्निपुराण अ. २२७; अर्थशा. ५.३; सभापर्थ ५.५३ - लभतै मानमधिकं भूपोवा भक्त वेतनम्।; कात्या. मतसंग्रह ३२

२ सम्यक् प्रण्यतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते। युक्तस्य वा नास्त्य धर्मो धर्म एव हि शाश्वतः। महा.शा.पर्व ८५.२३; अर्थ.शा. ५.३

न्यायिक विवेकता व दक्षता प्रमाणित होती रहे ।गुप्तचरों द्वारा प्रेषित सूचना के आधार पर पतित या अयोग्य न्यायधीश की पदावनति कर दी जाती थी वेतनवृद्धियां एवम् भत्तो में से कटौती करने का विधान था। दायित्व का निर्वाह न करने वाले न्यायाधीश को न्यायिक सेवा से पदच्युत कर, आर्थिक, शारीरिक आदि देशनिष्कासन तक सम्पत्ति हरण के दण्ड दिये जाते थे।[१]

न्यायधीश की अयोग्यता, पक्षपातपूर्ण भावना अपयश की हेतु होती थी।[२] उत्कोच लेने वाले तथा अन्यायपूर्ण निर्णय देने वाले सभ्य को सम्पत्ति-हरण व देश-निष्कासन का दण्ड दिया जाता था।[३] न्यायाधीश द्वारा स्मृति एवं लोकाचार के विरुद्ध मित्रता-लोभ-भयवश निर्णय देने, तथा निर्णय के कारण पराजित पक्ष पर जो दण्ड लगता था, उसका दुगना दण्ड न्यायाधीश परदेय होता था। याज्ञवल्क्य ने तीस गुने दंड का विधान किया था। आवेदक-प्रतिवेदक को आतंकित करने, अपशब्द कहने, अप्रामाणिक व आधारहीन बातें पूछकर तथ्यों को अनेदेखी करने, निर्णय देने में व्यर्थ का विलम्ब करने, बलात्कार करने, अपराधी को अनुचित प्रकार से जेल से मुक्त कराने पर न्यायधीश को अनेकशः दंडित किया जाता था।[४]

कर्त्तव्यव्युत न्यायाधीश को दण्डित करने के पीछे यह मूलभावना कार्य करती थी कि यदि न्यायधीश, अपराधी को क्षमा करेगा, तो अपराध और अपमान

---

१ ऋग्वेद १.४२.२; महा.शा.पर्व ८५.२४; ८८.२०; अग्नि पृ. २२७; का. मतसंग्रह - २९ से ३१; स्नेहादज्ञानतो वापि मोहाद्वालोभतोपिऽवा। तत्रस्भ्योऽन्याक्षवादोदण्ड्योऽसभ्यः स्मृतो हि सः॥ कात्या. मतसंग्रह - २९; अर्थशा. १.१०; ३.१०; ४.४; ५.३; मनु. ७.१२२.२९; अर्थशा. १.१०; ३.१०; ५.३; मनु. ७.१२२; स ताननुषरि क्रामेत्सार्वानेव सदा स्वयम्। तेषां वृत्तं परिण्येत्सभ्यग्राष्टेष तच्चैः॥ मनु.अ. ७.१२२ (असमय ग्राम निरीक्षण करता रहे, तथा चरा द्वारा सबके मन की बात जाने)। ये कायिकेभ्योऽथमेवगृहणीयुः पापचेतम्। तेषां सर्वस्वमादायराजा कुर्यात्प्रवासनम्॥ मनु. ७.१२४ (मन में पाप रखने वाले कर्मचारियों — जो प्रजा से धन लेते हैं — को राजा सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन कर उनको राज्य से निकाल देवे।); याज्ञ. २.३०५ अनिणीति तु यद्यर्थसंभाषितरहोर्थिना। प्राड़विवाकोय दण्ड्यःस्यात् सभ्याश्चेव न संशय॥ का. मतसंग्रह - ३१ धम्मद्धजा तक २२०; गामणीचण्डजातक; २५७ नहोनिधिजातक ५२८; खुण्डहालजातक - ५४२, याज्ञ. १.३३.१ उत्कोचजीविनोद्रव्य हीनान्कृत्वाविवासमेत ३९९ अ. .याज्ञ.

२ अधर्मतः प्रवृत्तं नोपेक्षेरन् सभासदः। उपेक्षाणाःसनृपा नरकं यान्त्यधोमुखाः॥ - कात्या. मतसंग्रह - २५; मनु. ८.३३६; याज्ञ. २.३०७ अग्निपुराण २५३

३ याज्ञ. २.४; नारद - १.६७; वि.ध.सू. ५.४८०; अग्निपुराण २२७

४ अर्थ. ४.९; अग्नि. २५३; याज्ञ. २.४; २.३०७; मनु. ८.३३६ — कार्षापणं भवेद्दण्ड्योयत्रान्यः प्राकृतो जनः। तत्रराजा भेद्दण्ड्यः सहस्त्रमितिधारणा॥ मनु. ८.३३६; महा.वन पर्व २८.९ अवज्ञाहितंभृत्या भजन्ते बहुदोयताम्॥ वनप. २८.७८; ।कात्या.मतसंग्रह कार्य्यस्यनिर्णयं सम्यग् ज्ञात्वा सभ्यस्ततो वदेत्। अन्यथानेव कृत्यं वक्ता द्विगुणदण्ड भाक्॥ ३०

दोनों को वृद्धि शीघ्रता से होगी। फलतः असत्य व विपरीत न्याय देने वाले न्यायाधीश को कारागार में ड़ाल दिया जाता था। अथवा नगर या न्यायालय के मुख्य द्वार पर बांधकर ड़ाल दिया जाता था। उसका खाद्यान्न बन्द कर दिया जाता था।[१] इस प्रकार की भयंकर दुगर्ति से न्याय कार्य में जुटा सम्पूर्ण कर्मचारी सावधान व सर्तक रखकर, अनृत व अपराध के शमनार्थ, सावधानपूर्वक विधि अनुसार कार्य करता था। ऐसा भी विश्वास किया जाता था कि अन्याय से न्यायाधीश को नरक (दुःख) भोगता पड़ता है। जो न्यायाधीश पवित्र आचरण युक्त व्यक्ति को कारागार का दण्ड देता था, उस न्यायधीश पर प्रथम साहस का दण्ड लगता था। अत्याधिक् दण्ड या मृत्युदंड देने पर उत्तम साहस के दण्ड से न्यायधीश दण्डित होता था।[२] अर्थशास्त्र में अधोवर्णित कारणों पर सभ्यों को निम्नप्रकार से दण्डित किया जाता रहा था।

(१) यदि सभ्य न्यायालय में उपस्थित अभियुक्त को डराता, धमाकाता तथा न्यायालय से निकलवाता या उत्कोच्र लेता था तो, उस सभ्य पर प्रथम साहस का दण्ड, विवादकर्ता पक्ष पर सभ्य द्वारा कठोर शब्दों का प्रयोग करने पर, सभ्य पर मध्य-साहस का दंड[३] विचार के समय पूछने योग्य प्रश्नों के न पूछने पर अनावश्यक बातों के प्रति, प्रश्न पूछ कर भी उससे सम्बन्धित उत्तरप्राप्त किए बिना अभियुक्त को मुक्त करने पर, साक्षी को कथन (ब्यान) लिखवा देने पर उसे भूली बात याद दिलाने पर, अपूर्ण वाक्यांश को पूर्ण करने या आदि का अंश स्वयं बोल देने के कारण सभ्य पर मध्य-साहस इस का दण्ड,[४] उपयोगी साक्षी से कुछ न पूछने पर, अनुपयोगी साक्षी से प्रश्न पूछने पर, साक्षी के बिना ही निर्णयकर देने पर, साक्षी को छल कर असत्य प्रमाणित करने पर, व्यर्थ में समय बिताते हुए विचारक साक्षी को थकाकर हटा देने पर, उचित एवं क्रम प्राप्त वाक्यों को भी त्यक्त क्रम बताने पर साक्षियों को बौद्धिक सहायता प्रदान करने पर, पहले ही विचार कर के निर्णीत विषय पर पुनः विचार करने-लगने की दशा में, सभ्यों पर प्रथम साहस का दण्ड लगता था। यदि न्यायाधीश स्वयं पुनः पुनः उक्त अपराधों को करता

---

१ महा.उ.पर्व - ३५.३१ : नगरेप्रतिरुद्धः सन् बहिद्धरि बुभुक्षितः। अभित्रान् भूयसः परश्येद यः साक्ष्यमनृतंवदेत्॥ - ३२

२ अर्थ. ४८,९

३ धर्मस्थाचेद्विदमानंपुरुषं तर्जयति, भत्सर्यत्यपसारयति, अभिग्रस्तेवा, पूर्वमस्मैसा हसदण्ड कुर्यात्। वावपारुष्येद्विगुणम्॥ — अर्थ. ४.९

४ पृच्छयं न पृच्छति, अपृच्छयं पृच्छति, पृष्ट्वा विसृजति, शिक्षयति स्मारयति, पूर्व ददातिवेत्ति, मध्ययस्मे सा हसदण्ड कुर्यात्॥ अर्थ. ४.९

था तो उस पर दुगना दण्ड लगता था, साथ-साथ उसे पदच्युत भी कर दिया जाता था।[१]

(२) यदि न्यायाधीश अभियोग में निर्धारित दण्ड से न्यून या अधिक दण्ड अपराधी का देता था, तो ऐसे न्यायाधीश पर निर्धारित दण्ड का आठगुना दण्ड, निर्दोष व्यक्तियों को शारीरिक दंड देने वाले न्यायाधीश को शारीरिक दण्ड दिया जाता था। यदि न्यायाधीश वा अन्य न्यायाधिकारी द्वारा न्यायसंगत प्राप्यधन को विनिष्ट किया जाता था या अनुचित धन संग्रह किया जाता था, तो ऐसे न्यायाधीशों पर नाशित या संग्रहित धन का आठ गुना अर्थदण्ड लगता था।[२]

(३) चोर, परस्त्रीगमनकर्ता, जैसे अभियुक्त को बन्धमुक्त करानेवाले सभ्य या न्यायाधिकारी का बांया हाथ दोनों पैर काट दिये जाते थे। यां नौसौ-पण दण्ड दिया जाता था।[३] अदंडनीय व्यक्ति को दण्ड देने वाले न्यायाधीश पर दिये गये दंड का तिगुना दण्ड लगता था।[४]

व्यसन से मृत्यु श्रेष्ठ है[५] क्योंकि व्यसनी अपमानित व निन्दनीय होता है, जबकि मृत्यु से मानव कीर्ति का हनन नहीं होता। अतएव काम-क्रोध-लोभ[६] न्यायाधीश की पदावन्ति की मूल समक्षे जाते थे। इन अवगुणों से विभिन्न व्यवसन जन्म लेते हैं, जैसे —

१. काम द्वारा जनित व्यसन — मृगया, पांसा खेलना, दिन में सोना, परिवाद (दूसरे का दोष प्रगट करना), स्त्री की सेवा करना, मद्य पीना, नाचना, गाना-बजाना, व्यर्थ-भ्रमण।

---

१ देयं देशं न पृच्छति। अदेयं देशं पृच्छति। कार्यम् देशेनातिवाह्यति। छलेना तिहरति। कालहरणेनश्रान्तमपवा ह्यति। मार्गापन्नं वाक्यमुत्क्रमयति, मतिसा हाय्यंसाक्षिभ्यो ददाति। तारितानुशिष्टंकार्यपुनरपिग्रहणति। उत्तममस्यैसा हसदण्डं कुर्यात्। पुनरपाधे द्विगुणं स्थानाद्वयवरोपणं च। अर्थ. ४.९

२ अर्थ. ४.९

३ अर्थ. ४.१०

४ अर्थ. ४.१३ - अदण्ड्यदण्डेन दण्डस्त्रिंशद् गुणो भ्यासि॥ - १

५ मनु. ७.५३; तेसकुण जातक ५२१

६ मृगया क्षोऽदिवास्वपनः परिवादः स्त्रियोमदः। तोर्यत्रिमं वृथाढया च कामजोदशको गुणः॥ मनु. ७.४७; तेसकुण्जा. ५२।; कामतसंग्रह - २९

२. क्रोध द्वारा जनित दोष — बिना जाने दोष कहना, साहस अपराध का अवलम्ब लेना, छल से मारना, ईर्ष्या, गुणों में दोष ढूंढ़ना, कटु भाषण, देने योग्य वस्तु न देना, दण्ड से ताड़ना।[१]

३. लोभ — उत्कोच लेना, उपहार लेना, खाद्य एवं पेय पदार्थ स्वीकार करना। सहभोजों में सम्मिलित होना आदि।[२]

इन दुर्गुणों में लिप्त रहने के कारण न्यायाधीश, न्यायपद की गरिमा से गिर जाता था। फलतः उसे पदच्युत होना पड़ता था।[३]

विधि, लोकाचारों, एवं तथ्यों के प्रति अनदेखी कर निर्णय देने वाले न्यायाधीश पर एक हजार पण का दण्ड देय होता था।[४] साथ-साथ विपरीत निर्णय देने वाले सहयोगी न्यायाधीशों को, पराजित पक्ष पर लगे दण्ड से दुगुना दण्ड पृथक्-पृथक् भुगतना पड़ता था।[५] इस व्यवस्था से न्यायाधीश अकुंशित रहकर शंकारहित निर्मल न्याय की स्थापना कर सके थे।

---

१ पैशुन्यं सा हसं द्रोजं ईर्ष्यासूर्यार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणो ष्टकः॥ मनु. ७.४८

२ मनु. ७.४९; महो बोधिजा. ५२८; खण्ड हालजा. ५४२; गामणी. जा २५७ धम्मजातक २२०

३ धम्मजातक २२०

४ मनु. ९.२३४ - अमात्याः प्राड़विवाको वा यत्कुर्युः कार्यमन्यथा। तत्स्वयं नृपति कुर्यात्तान्हस्र च दण्डयेत्॥

५ रागाल्लोभाद्भयाद्वाऽ पिस्मृत्यपेतादिकारिणः। सभ्याः पृथ्वपृथग्दण्डया विवादाद्द्विगुणंदमम्॥ याज्ञ. २.४ दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वाव्यवहारान्नृपेण तु। सभ्याः सजयिनो दण्डाविवादाद्द्विगुणंदमम्॥ या. २.३०५

न्यायालय, विधि, संविधान

(क) न्यायालय

धर्मासन : धर्मस्थान : धर्माधिकरण :

परिभाषा :

न्यायायिक प्रक्रिया के सम्पादनार्थ, राजप्रबन्ध द्वारा निश्चितस्थान को न्यायालय या धर्मासन अथवा धर्मस्थान कहा जाता था। जिस निश्चित स्थान पर विवादों का निर्णय, विधि अनुसार, व्यवस्थित रूप में सम्पादित होता था, उस स्थान को स्मृतियुग में न्यायालय की संज्ञा दी जाती थी।[१] कात्यायन ने न्यायालय के लिये धर्माधिकरण शब्द का प्रयोग करते हुये स्पष्ट किया है कि जहां धर्म व शास्त्र का विवेचन विवादों के शोधन हेतु किया जाये उसे न्यायालय कहते हैं।[२] मनु के अनुसार अर्थ और अनर्थ के प्रमाणानुसार, धर्म तथा अधर्म का विवेचन करते हुए, वर्णानुसार, कार्य अकार्य का विश्लेषण जिस स्थान पर भी किया जाता था, उसे न्यायालय कहते थे।[३] शुक्रानुसार न्यायविद् जिस स्थान पर बैठ कर धर्म व शास्त्रों के अनुसार, विवादों का निपटारा करें, वह न्यायालय माना जाता था।[४] वसिष्ठ तथा नारद ने नृप द्वारा नियुक्त सभ्यों से युक्त स्थान को धर्मासन (न्यायालय) की संज्ञा दी है।[५] इस प्रकार स्पष्ट है कि न्यायालय नृप द्वारा निश्चित ऐसा स्थानहोता था, जिस में राज्य प्रबन्ध द्वारा नियुक्त सभ्य(न्यायाधीश) विधि-धर्म-शास्त्रानुसार, व्यवहारों का निर्णय, न्यायायिक प्रक्रियाके आधार पर करते रहे थे।

---

१ धर्मासनमधिष्ठाय सविताङ्गसमाहितः।प्रणम्यलोकपालेभ्य :कार्यदर्शनमाचरेत्॥ मनु८.२३; नारद - २.३४;। ऋग्वेद १.१२४.७

२ धर्मशास्त्रानुसारेण अर्थशास्त्रविवेचनम्। यत्राधिक्रियतेस्थाने धर्म्माधिकरण हि तत्॥ कात्यायन - सूत्र ३३

३ अर्थानर्थावुभौ बुदध्वा धर्माधर्मो च केवलौ। वर्णक्रमेंण सर्वाणिपश्येत्कार्याणि कर्मिणाम्॥ मनु. ८.२४

४ यत्रस्थानेआवेदितव्य तत्त्वनिष्कर्षः धर्मशास्त्रविचारेण निर्णेतृभिःक्रियते इति धर्मस्थानम्। सरस्व. विलास पृ.३,उद्.शक्रकथन।

५ वसिष्ठ १६.३-५; नारद - ३.५

न्यायालय की आवश्यकता

प्रजा की सुरक्षा हो सके, उसे भरपूर न्याय मिल सके, राज्यद्वारा निर्मित नियमों का निर्बाध गति से, राज्य के नागरिक पालनकर सकें, कोई भी नियमों, परम्पराओं, विधि-विधानों, आचरणों व धार्मिक मर्यादाओं का अतिक्रमण न कर सकें - इस प्रकार कि भावना ने न्यायालय की आवश्यकता को विकसित किया ।[१] प्रत्येक प्रकार के उपद्रव, पाप, अपराध का शोधन न्यायालय के द्वारा ही सम्भव था । सुगम व उत्तम मार्ग का इंगित न्यायालय ही कर सकता था ।[२] सम्पूर्ण नागरिक स्व-स्व कार्यों का सम्पादन, सद्नियमों की परिधि में करते रहें, इस प्रकार की भावना तथा दु;ख, दुष्टता, अकृत्यों की समाप्ति हेतु, न्यायालय स्थापना को महत्व दिया जाता था ।[३] वास्तविक कृत्यों का बोध न्यायालय ही करा सकते थे ।[४]

दुष्टों को दण्डित करना तथा सत्यवादियों को पुरस्कृत करने का कार्य न्यायालय के माध्यम से ही हो सकता था

विधिविधानों व शास्त्रों के विश्लेषण तथा विधि के सत् प्रयोग व दण्ड के उपयोग ने न्यायालय की मूल सार्थकता को उदभाषित किया था । जिससे दुष्ट एवं श्रेष्ठ पुरुषों पर अपनी दुष्टता का दबाव न ड़ाल सके या प्रभावित न कर सके तथा अपराधविकसित न हो सके ।[५] सभी निर्भय व निष्पाप जीवन व्यतीत करें, सम्पूर्ण राष्ट्र उत्तम बने, अधिकार प्राप्त वस्तु पर, वास्तविक व्यक्ति का अधिकार बना रहे, कोई भी दूसरे की वस्तु का अनैतिक व अनधिकृत रूप में उपयोग उपभोग न कर सके ।[६]

फलतःअकृतयों, अपराधों के उत्तपीडन् से मुक्त रहने के कारण स्मृतियुग में न्यायालयों की स्थापना की गई थी । न्याय व्यवस्था को समान रीति व सम्पूर्ण देश में विकसित करने हेतु न्यायालयों की स्थापन को अपेक्षित समझा गया था ।[७]

---

१ ऋग्वेद ८.२२.१६, १८; २५.१६; २६.२;; १.७२.७; २.३.७ ; यजु.३५.१९; महा.शा.पर्व १०१.२; याज्ञ. १.१३९

२ ऋग्.८.६७.२१;.३; १.४२.७ - सुगा न; सुपथ कृणु (हमें सुगम व उत्तम मार्ग से ले चलो) ; अर्थ.२.५ ; याज्ञ.१.४०

३ ऋग्.१.१०१.३;१०२.२;११८.३,कुटवाणिज जातक कथा ।

४ यजु.९.२६; गामणीचण्ड जातक. याज्ञ.१.३६

५ अथर्व.५.६.२; २.४; मनु.८.४१

६ अथर्व. १२.१.३४:१.१-८; ३.३.२; महा. आश्वमेधिक पर्व ४६.३५; मनु. ८.४५

७ अथर्व. १२.३.१

न्यायालय का स्थान

स्मृति युग में न्यायालयों की स्थापना के पीछे नागरिकों को पूर्ण न्यायायिक संरक्षण प्रदान करने का लक्ष्य व्यापत था। फलतःन्यायालयों की स्थापना ऐसे महत्वपूर्ण स्थानों पर की जाती थी, जिस से राज्य का प्रत्येक व्यक्ति सुगमतापूर्वक, कम से कम समय में न्याय का संरक्षण प्राप्त कर सके। राज्य के सुदूर अंचलों में स्थित ग्रामों से लेकर, नगर, महानगर एवं केन्द्र (राज्य की राजधानी) तथा राजप्रसार्दोतक में न्यायालयों का निर्माण व गठन किया जाता था एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम, एक हजार ग्रामों, नगर एवं केन्द्र (राजधानी) के मध्य, पूर्ण विचार कर न्यायालय स्थापित किया जाता था।[1]

केन्द्रीय न्यायालय, राजधानी में राजप्रसाद के पूर्व में होता था। अन्य न्यायालय भी अपने क्षेत्र के केन्द्र में होते थे। न्यायालय की मुख दिशा के सम्बन्ध में स्मृतिकार एक मत नही थे। बृहस्पति का मत है कि न्यायालय का मुख पूर्व दिशा को होना चाहिए, परन्तु आपस्तम्ब के अनुसार न्यायालय (सभाभवन) का मुख दक्षिण दिशा को होना चाहिए। न्यायालय एक ओर से दूसरी ओर, अन्दर से बाहर तक स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। सभा भवन का निर्माण उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा को होना चाहिए।[2]

न्यायालय (सभाभवन) विभिन्न प्रकार के पुष्पों, चित्रों, देव मूर्तियों से अलंकृत होते थे। उनमें धूप, सुगन्ध, अग्नि और जल की व्यवस्था होती थी। सभा भवन के मध्य में उच्च न्यायाधीश का आसन सर्वोच्च होता था। बैठने के लिए काष्ठ या बैंत के आसनों (कुर्सियों) को प्रयोग में लाया जाता था।[3] न्यायालय में नृप पूर्वाभिमुख बैठता था। सभ्य उत्तराभिमुख, गणक पश्चिमाभिमुख एवं लेखक के दक्षिणाभिमुख बैठने की परम्परा थी। न्यायालय के मुख्यत: दश अंग होते थे, १.नृप, २. मुख्य न्यायाधीश, ३. सभ्य, ४. स्मृति, ५. गणक, ६. लेखक, ७. सोना, ८. अग्नि, ९. जल, १०. साध्यपाल (साध्यपाल) अभियुक्त या साक्षियों को प्रस्तुत-

---

१ अथर्ववेद ४८.४; महा.शा.पर्व - ८७.२, १०; अर्थशा. २.५; ३.१; जनपदसन्धिसंग्रहणद्रोणमुख स्थानीयेषु व्यवहारिकानर्थान कुर्युः॥ अर्थशा. ४.१; मनु. ७.११४-११५; याज्ञ. २.१; वि.स्मृ.राजधर्मा.

२ शंख एवं बृह.उद. स्मृ.च.पृ-१९ भाग २ ; १६.२; दक्षिणेनपुरं सभा दक्षिणोग्द्वारा यथोभयं सन्दृश्येत् बहिरन्तरं चेति॥ आपस्तम्ब ध.,पटल-१० ; प्रश्न-२। वसिष्ठ ६.२

३ माल्याधूपासनोपेता बीजरत्नसमन्विताम्। प्रतिमा लेख्यदेवेश्चयुक्तामग्नयम्बुना तथा। बृह. उद.स्मृ. सं. भाग-२, पृ-१९ सर्वैष्वेवाऽजस्त्र अग्नयस्स्युः॥ आप.ध.सू. पटल-१०, प्रश्न २.६। सभाया मध्येधिदेवनमुद्धत्याऽवोक्ष्याऽक्षान्निवपेद्युग्मानवैभीतकान् यथा र्थान। आप.ध.सू. प्रश्न-२, पटल-१०.१२; वसिष्ट १६.२

कर्ता । इन अंगों का मानवीकरण करते हुए, नृप को, सिर, न्यायाधीश को मुख,सभ्यों को बाहु, स्मृति को हाथ, गणक और लेखक को जंघायें, स्वर्ण व अग्नि को नेत्र, जल को हृदय, तथा साध्यपाल को पैर की कोटि में माना जाता था । इसी क्रम से यह न्यायालय नें कर्मचारी आसन ग्रहण करते थे । नृप का कृत्य दण्ड देना, न्यायाधीश का नियम-संबन्धी घोषणा करना, सभ्यों का अभियोग निरीक्षण, स्मृति या धर्मशास्त्र का दण्ड विधि-स्पष्टीकरण, स्वर्ण व अग्नि-शपथ ग्रहण, जल, प्यास बुझाने हेतु एवं गणक रुपया,या विषय संबन्धी गणना करना, लिपिक का कृत्य लिखना, साध्यपाल का वादी-प्रतिवादी तथा साक्षीगण को बुलाना होता था ।[१] न्यायालय में न्यायिक कार्य का प्रातःकाल सम्पादन होता था ।[२] कृष्ण पक्ष तथा शुक्ल पक्ष को अष्टमी तथा चतुर्दशी के साथ अमावस्या व पूर्णिमा के दिन न्यायालय बन्द रहता था । इस प्रकार एक मास में छः दिन अवकाश रहने के कारण, न्यायालय में न्याय कार्य नहीं होता था ।[३] इन अवकाशों के अतिरिक्प विभिन्न अवसरों पर, जैसे - राजकीय उत्सव, महत्वपूर्ण पर्वों आदि पर भी न्यायालय बन्द रहते थे ।

न्यायालय का उद्भव व विकास सभा (न्यायसभा) के रूपं में था । यह सभा समिति के रूप में (जो उच्च न्यायालय का प्रमुख अंग थी) परिणत हो गई । यह विकास क्रम बढता गया और न्यायालय की उपादेयता को मन्त्रीमण्ल का प्रमुख विषय स्वीकार किया गया ।[४] इस प्रकार ग्राम से ले कर केन्द्र तक न्यायालयों की स्थापना की कडियां जुडती चली गई । फलतः एक सुदृढ न्यायालय रूपी शृंखला का निर्माण हो सका जिसमें अकृत्य कर्ता को बांध कर अंकुशित व नियन्त्रित किया जा सका था ।

न्यायालय के प्रकार

स्मृतियुगीन भारत में न्यायालयों का गठन विभिन्न प्रकार से हुआ था । नृप राज्य का लघुतम अंग ग्राम होता था । ग्राम में भी ग्राम हितार्थ ग्राम न्यायालय होता था । ग्रामपति, ग्रामपंच, ग्रामणी - इस न्यायालय के सहयोगी न्यायकर्ता होते थे ।[५] ग्राम न्यायालय के आगे दशग्राम न्यायालय (दस ग्रामों के मध्य में), विंशग्राम

---

१ बृह. उद्. व्य. प्रकाश पृष्ठ-३१ ; हारोत-उद्. राज. रतनाकर पृ.२० ; बृह. १.५-८

२ मनु.७.१४५ ; याज्ञ. १.३२७ ; का. ६१-६२ ; ।अर्थशास्त्र १.१९ ; द्वितीयेपौरज़ना पदानां कार्याणि पश्येत् ।

३ बृह. २.१७-१९

४ सोदेक्रामत् सा सभायां न्यऽक्रामत ॥ अर्थ. ८.१०८ ; (वह उत्क्रान्त हुई और सभा में परिणत हो गई) ; सोदेक्रामत् सा समितौ न्यऽक्रामत ॥ अर्थ. का.८.१०.१२; (वह उत्क्रान्त हुई और मन्त्रीमण्डल में परिणत हो गई) । सोदे क्रामत सामन्त्रेण न्यऽक्रामत १२ अर्थ. का. ८ सू. १०

५ अर्थ. ८.१०८-१२ ; १२.३.१ ; याज्ञ. १.३६० ; यजु. ३०.६

न्यायालय (बीस ग्रामों के मध्य में), शतग्राम न्यायालय (सौ ग्रामों के मध्य में), सहस्त्र ग्राम न्यायालय (एक हजार ग्रामों के मध्य में) की व्यवस्था की गई थी ।[१] इसी प्रकार प्रत्येक नगर में पृथक - पृथक न्यायालय (नगर न्यायालय) होता था ।[२] इस के पश्चात् प्रत्येक नगर में न्यायालय स्थापित किया गया था जिसका अध्यक्ष, सभाध्यक्ष या न्यायाधीश होता था ।[३] सबसे ऊपर नृप न्यायालय था जिसमें न्यायसभा न्याय-कार्य देखती थी ।[४]

परन्तु अर्थशास्त्र के अनुसार ग्रामों में, पंचायते ही न्याय के कार्य को देखती थी । दस ग्रामों के मध्य संग्रहण न्यायालय होता था । उसके आगे द्रोणमुख न्यायालय (चार सौ ग्रामों के मध्य स्थित न्यायालय) तथा स्थानीय न्यायालय (आठ सौ ग्रामों के मध्य न्यायालय) की स्थापना की गई थी । सम्पूर्ण न्यायालयों का विभाजन धर्मेस्थीयन्यायालय तथा कण्टक षोधन न्यायालय के रूप में किया गया था । इन दोनों के ऊपर उच्चतम न्यायालय के रूप में न्यायकार्य व विधि का सम्पादन होता था ।[५]

पुरुष और स्त्रियों के पृथक - पृथक न्यायालय होते थे । स्त्रीन्यायालयों का गठन व विकास पुरुष न्यायालयों के ही समान होता था । सम्पूर्ण स्त्रीन्यायालय, महारानी के उच्च न्यायालय की अधिकार सीमा से प्रतिवन्धित पोते थे ।[६] सैनिक न्यायालयों की व्यवस्था भी की जाती थी । परन्तु ये सैनिक न्यायावय नृप के सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार में ही न्यायकार्य देखते थे ।[७]

कुछ विशिष्ट वर्गीय न्यायालयों की व्यवस्था भी स्मृतियुग में की गई थी । इस प्रकार के न्यायालयों में गण, पूग,श्रेणी व कुल न्यायालय मुख्य होते थे ।[८] गण से तात्पर्य मठों में निवासकर्ता, पूग, एक प्रकार की विचारधारा के जनों का समुह, श्रेणी - एक प्रकार के व्यापार कर्ताओं का समुह, कुल = एक परिवार का समूह से होता था । ये न्यायालय साधारण विवादों को सुलझाने हेतु

---

१ शा.पर्व. ८७.३ ; लि.स्मृ. रा.ध. ; मनु. ७.११५-११६ ;

२ नगरे नगरे वा स्या देकः सर्वार्थचिन्कः ; महा. शा.पर्व ८७.१०

३ मनु. ८.३४

४ महा. शा. पर्व ८७.११ ; याज्ञ. २.१, १.३१० ; वृह. १.३०

५ अर्थ. ८.१०८-१२, ३.१, ४.१, ३.९ ; धमस्थास्त्रयो मात्या जनपदसन्धिसंग्रहणद्रोणमुखस्था नीयेषु व्यवहारिकानर्थानर्थानकुर्युः ॥ ३.१

६ यजु. १३ .१६-१७ ; शतपथब्राह. ५.३.२ ; रामा.अयो.का. १००.३६ ; वि.स्मृ.रा.ध. ६ यजु. १०.२६-२७

७ यजु. ८.३४ ; महानारदकश्यपजातक कथा ५.४४ ; वि.स्मृ.रा.ध.; शुक्र ४य.५.२४ ;

८ याज्ञ. २.३० ; नारद १७, १.१७ ; कुलानिश्रेणयश्चेवगणश्चाधिकृतो नृपः । प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तीत्तरोत्तरम् ॥ मेधातिथिः मनु. ८.२ ; बृ. ३.१०, १.२८ ; अर्थ.शा.

अधिकृत थे। ये दशग्रमन्यायालय या नगरन्यायालय के अधिकार में न्यायकार्य देखते थे।

बृहस्पति ने न्यायालयों का विभाजन मुखयत; निम्न प्रकार से किया था।

१. प्रतिष्ठिता	...	ग्राम एवं नगर का न्यायालय
२. अप्रतिष्ठता	...	विभिन्न स्थानों पर घूमनेवाले न्या.
३. मुद्रिता	...	राजमुद्रा तथा अध्यक्ष से युक्त न्यायालय
४. शासिता	...	नृप का न्यायालय।[1]

न्यायालय

१. न्यायालय स्मृतियुग।

नृप का सर्वोच्च न्यायालय

अ- पुरुष न्यायालय	ब- स्त्रीन्यायालयस- सैनिक न्यायालय
१. उच्च न्यायालय (पुरुष)	१. स्त्री उच्चन्यायालय (महारानी)
२. सहस्त्रग्राम न्यायालय	२. सहस्त्रग्राम न्यायालय
३. शतग्राम न्यायालय	३. शतग्राम न्यायालय
४. विंशग्राम न्यायालय	४. विंशग्राम न्यायालय
५. दशग्राम न्यायालय	५. दशग्राम न्यायालय
६. ग्राम; गण, पूग,श्रेणी कुल के न्यायालय	६. ग्राम न्यायालय

प्रत्येक न्यायालय अपने पीछे के न्यायालय से ज्येष्ठ होता था। सैनिक न्यायालयों का गठन भी सैनिक ज्येष्ठता के आधार पर ही होता था।

२. न्यायालय (अर्थशास्त्र व स्मृति का समिश्रित स्वरूप)

नृप का सर्वोच्च न्यायालय

उच्च न्यायालय

धर्मस्थीय न्यायालय	कंटकशोधन न्यायालय	१. गण न्यायालय
अ. स्थानीय न्या. (८०० ग्रामों के मध्यस्थापित)	अ. स्थानीय न्यायालय	२. पूग न्या
		३. श्रेणी न्या

---

१ प्रतिष्ठिऽप्रतिष्ठिता मुद्रिताशा सिता तथा। चतुर्विद्यासभाप्रोक्तासभ्याश्चेवतथा विधा॥ बृह. १.२३ ; प्रतिष्ठिता पुरेग्रामे चलानामप्रतिष्ठिता। मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता॥ बृह. १.३

ब. द्रोणमुख न्या. (४०० ग्रामों के मध्य स्थापित) क्ष. द्रोणमुख न्यायाल. ४. कुल न्या

स. संग्रहण न्या. (एक ग्राम या नगर के मध्य स्थापित) सं. संग्रहण न्यायालय ५.अन्य न्या.

प्रत्येक न्यायालय अपने से बाद के न्यायालय से ज्येष्ठ होता था।

न्यायालय के कार्य

नियमों व परम्पराओं के आधार पर अपराधों व पापों का शोधन कर निर्णय देना न्यायालय का मुख्य कार्य था। किसी भी प्रकार का अपराधी अथवा अकृत्य कर्ता समाज को क्षति न पहुचा सके, इस हेतु अपराधी को न्यायालय दण्डित कर सकता था।[1] न्यायविधि के द्वारा समाज रक्षा का दायित्व न्यायालय को निबाहना पड़ता था।[2] अपराधियों को दण्डित करना ही न्यायालय का उद्धेश्य नहीं था अपितु, निर्दोष व्यक्तियों को सम्मानित भी किया जाता था।[3] प्रत्येक अभियोग पर विद्वत्ता पूर्वक विचार करना, निरीक्षण करना, तथापरिस्थितियों का अवलोकन भी करना परमावश्यक होता था।[4]

नृप न्यायालय द्वारा सम्पूर्ण न्यायालयों के निर्णय एवं व्यवहार सम्बन्धी कार्यकलापों का निरीक्षण किया जाता था, जिससे न्यायालय स्वार्थो के कारण अकृत्यों से बचा रह सके।[5] नृप के बाद निरीक्षण का कार्य धर्मज्ञ मन्त्री या उच्च न्यायालय करता था।[6]

निरीक्षणाधिकारी, नृप या अन्य विधिज्ञ, तीन सहायकों के साथ न्यायालय में बैठुकर अथवा खड़ा होकर,न्यायालय के कार्यकवापों का निरीक्षण किया करता था।[7]

---

१ ऋग्वेद १.२६.१४ ; अथर्व.५.६.३ ; यजु: १३.१६-१७ ; अर्थशा. २.५,४.१ ; महा.शा.पर्व १०१.२

२ ऋग्. १.४१.१ ; यजु. ८.३४ ; याज्ञ. २.१

३ यजु.१२.६३ ; अतर्व. ५.६.३

४ यजु. १९.४५

५ प्रत्यक्षाश्चपरोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ। वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यंचेवान्वेक्षँणम्॥ नहा.शा.पर्व. ५९.६८ ; एषुस्थानेषु भूयिष्ठं विवाथंचरतां नृणाम। धर्मशाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यं विनिर्णयम्॥ मनु. ८.८

६ यदास्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यदर्शनम्। तदानियुज्जयाद्विद्वासं ब्राह्मणं कार्यं दर्शने॥ मनु.८.९ ; महा.शा.पर्व. ८७.९०

७ सो-स्य कार्याणि संपश्येत्सभ्येरेवत्रिभिवृत्तिः। सभा मेवप्रविश्या ग्रया मासीनः स्थित एव वा॥ मनु. ८.१०

राष्ट्र व समाज के हित में उपयोगी नियमों का निर्माण कर, संहिताओं के रूप में नियमों को लिपिबद्ध करना, विधि व विधानों की रक्षा निष्पक्ष रूप से करना, धर्म व शास्त्र की मर्यादा को स्थापित करना, व्यक्तिगत जीवन से लेकर सामुहिक जीवन तक की रक्षा के दायित्व की स्थापना करना, अपने से छोटे न्यायालयों को आदेश देना व उनकी अपीलें सुनना, न्यायालयों के मुख्य कार्य थे। विधि की परिभाषा तथा उसका विश्लेषण, सम्पादन भी न्यायालयों द्वारा ही होता था।

वर्गीय न्यायालय स्वतन्त्र रूप में न्यायिक कार्यों का अवलोकन करते थे। व्यापारी, कृषक, कलाकार, ऋण लेने वाले, नर्तक, एवम् उपासना के विभिन्न सम्प्रदायों के अपने-अपने नियमों के अनुरूप न्याय करते थे। तपस्वियों, योगियों एवं मायाविदों के पृथक स्वतन्त्र न्यायालय होते थे।[१]

(ख) : विधि

परिभाषा :

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम आदि प्रमाणों का बोध कराने वाले तत्वों को विधि कहते थे।[२] जनसमुदाय की रक्षा, सुरक्षा के निमित्त बने नियम उपनियम को विधि कहलाते थे तथा जिन लिखित नियमों के द्वारा अपराधियों को दण्डित कर, सत्कर्तव्य का बोधकराया जाता था, उन्हें ही विधि कहा जाता था। आचार-विचार को सुव्यवस्थित करने तथा सामाजिक रचना को व्यवस्थित तथा सुदृढ़ करने वाले लिखित उपाय, विधि को कोटि के ही अंग थे।

वे लिखित साधन, जिनके द्वारा मानव कर्त्तव्य-च्युति से पृथक रह कर सुपथगामी बन सके, अकृत्य कर्ता दण्ड प्राप्त कर सके, विधि कहलाते थे।

मानव जीवन की पूर्णता एवं अपूर्णता के परिमाजमनार्थ राज्य द्वारा निर्धारित या उद्घोषित नियम विधि होते थे। मानव जीवन को कलुषितता से विरत रखने हेतु नृप एवं धर्मज्ञों द्वारा निर्धारित मार्ग विधि कहलाता था।[३]

लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुखमय बनाने वाले नियमों को विधि की मान्यता दी जाती थी।

---

१ कीनाशाः कारकाः शिल्पिकुसीदिश्रेणीनर्तकाः। लिगिंनस्तस्कराः कुर्युः स्वेन धर्मेणनिर्णयम्॥ तपस्विनां तु कार्याणि, त्रैविद्यैरेव का रयेत्। मायायोगविद्यां चैव न स्वयं कोपकारणात्॥ बृह. १.२५; मनु. ८.६२

२ प्रत्यक्षेणानुमानेन तथैपम्या गमैरपि। परीक्ष्यास्ते महाराजस्वेपरेचैवनित्यशः॥ महा.शा.पर्व ५६.४

३ मनु. ७.२ २ ; महा.शा. पर्व १५.३४ ; याज्ञ. १.३६१ ; अर्थ.३.१

विधि की आवश्यकता :

मानव समाज स्वयं में जड़-पदार्थ नहीं है जो सदैव पत्थर की तरह एक ही स्थिति में पड़ा रहे । अतएव वह अतीत काल से गतिशील एवं विकासोन्मुखी रहा है । परन्तु, जब मानव का विकास सर्वहिताय से पृथक् होकर स्वहिताय की ओर अग्रसर हुआ तो, मानवजीवन में अनीति-दुराचार-अकृत्य प्रविष्ट होने लगे । मानव में अहं और शोषण की प्रवृत्तिने मात्स्यन्याय को जन्म दिया । फलत: जन-साधारण धर्म, कर्तव्य, वर्ण, आश्रम एवं दायित्व से च्युत होने लगा । जिसके कारण, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांसकृतिक ढांचा चरमरा उठा । जन कल्याण के संरक्षण व विकास हेतु विधि की आवश्यकता को स्वीकार किया गया ।[१] विधि द्वारा प्रमाणों के आधार पर सत्य का अनवेषण किया जाने लगा तथा विवादों की सत्यता एवं तथ्यपरकता को विधि द्वारा ही प्रकाश में लाया जा सकता था ।

स्वभाव से पवित्रता का अभाव मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, क्यों कि उसमें गर्हितता समाविष्ट रहती है । केवल विधि द्वारा मानव को उचित मार्ग का पथिक बनाया जा सकता है ।[२] ऐसा स्मृतिकारों का दृढ़विश्वास था । किसी का किसी से अनिष्ट न हो,[३] फिर भी जो निर्दोष व्यक्तियों को व्यथित करने की प्रवृत्ति से अभिप्रेत है, उन्हें नियमों के द्वारा ही दण्डित कर शान्त या नष्ट किया जा सकता है ।[४] सम्पूर्ण उपद्रवों के शमनार्थ तथा मानव समुदाय को सुशील बनाने हेतु स्मृतिकारों ने विधि को अपेक्षित समझा था ।[५]सभी अज्ञान से हट कर कर्तव्य-बोध के प्रकाश में खड़े हो सकें, इस आकांक्षा से विधि को विकसित किया गया था ।[६]

सम्पूर्ण राष्ट्र व्यवस्थित व अनुशासित रह सके, व्यक्तिगत एवं सामुहिक जीवन भी अनुशासन से प्रेरित रहे, कहीं भी विसंगति एवं कुरूपता दृष्टिगत न होवे,

---

१ गौतम. ८.१, मनु. १८१-८२; नारद १.१; महा.शा पर्व ५९.१३; शा. पर्व २३१.२३-२४; अर्थशा. १.३.२; ४.९; विधुरजातक ५४५; यजु. ८.४५; अथर्व. १२.१.१;; १२.१.५६; छा.उप. ५.१०.७; आ.ध.सू. १.१.१

२ मनु. ८.१८.१४५९ याज्ञ. १.३६१; महा.शा.पर्व. १५.३४

३ ऋग्. ८.१८.१४, १९.३५, ३.३४.९, ४.७, ७.७-८, ९.३, ३०.१२, ५४.१७-१८, ५९.२ ; यजु. १.२६ ; साम. पूर्वाचिक् १.१.३, १.२.२ ; अथर्व. १६.१.२ । महा.शा.पर्व. ५७.४ - विरोध्यांश्च विरोध्य ॥

४ ऋग्. ८.३५.१; ६७.२१; अथर्व. ५.११.४; शा.पर्व १५.२२ याज्ञ. १.१३९

५ ऋग्८.६७.१५; अर्थ ६.५१.३

६ ऋग् १८.६, १८८, २४८, ३१.११, ३३.१२-१३, ३९८, ४२.७-९७२.७, ९८.२-३ ; यजु. २८.१४; साम. पूर्वाचिक १.११. दशति मन्त्र ९; अथर्व. ७८४.२

हिंसा व कुटिलता जैसी दुष्प्रवृत्तियां विकसित न हो सके, सभी मानव धर्म, नीति, सत्व के अनुगामी बने रहें, यथाशक्ति शत्रुविनाश सुलभता से हो सके, राष्ट्रवासी निडर बने रहें, सभी कर्तव्य के प्रति सजग रहते रहें प्रत्येक प्रकार के सुखों की उपलब्धि सुगमता पूर्वक हो सके, सभी असत्य भाव से पृथक रहें, आदि अपेक्षाओं ने विधि रचना को प्रभावित किया था।[१]

राज्य विघ्नरहित रह सके, सुगमता व सुलभ पूर्वक सभी को न्याय मिल सके, परस्पर द्वेष व विरोध से सभी बच सकें, सम्पूर्ण जन समाज एक-दूसरे का पूरक बना रहे, चलते-फिरते-उठते-बैठते, दायें-बायें, कोई किसी को दुःख व क्षति न पहुंचा सकें - इसके प्रति व्यवस्था की स्थापना के निमित्त स्मृतिकारों ने विधि की स्थापना की थी।[२] भारतीय जन आचरण-अनुशासन एवं उत्कर्ष के धरातल पर रह सकें, प्रत्येक का लौकिक-पारलौकिक जीवन सुखमय व आनन्दमय हो सके, इसलिए साधारण-असाधारण विधि की रचना की गई थी। इसी विधि के आधार पर मानव के जीवन को पूर्णरूपेण परखने की भावनाओं को बल व शक्ति मिली थी।[३]

'जिओ और जीने दो' के आधार पर, दुराचार, आचारहीनता एवं अपराधों के निवारण हेतु विधि-निर्माण की आवश्यकता को स्मृतियुगीन व्यवस्थाकारों ने एकमत से स्वीकार किया था।

विधि के स्रोत

स्मृतिकालीन विधि के विकास का मूल उदगम् तथा प्रेरणास्रोत वेद, उपनिषद्, सूत्र आदि धार्मिक ग्रन्थ तथा वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ रहे हैं। स्मृतिकालीन व्यवस्थाकारों ने इन धार्मिक, शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में समाविष्ट व्यवस्था से प्रभावित होकरसमाज को व्यवस्थित एवं पवित्रता मे अनुरंजित करने के उद्देश्य से विभिन्न विधि के नियमों की रचना की थी। जिससे वैदिक तथा सूत्र एवं महाकाव्यकालीन समृद्ध संस्कृति तथा प्रौढ़ व आदर्श न्यायव्यवस्था स्मृतियुगीन चित्रपट्टिका पर साकार हो सके।

१. वेद: भारतीय विधि-परम्परा का उदगम् व विकास वेदों से हुआ है।[४] वेदों को भारतीय विधि में मूल प्रमाण स्वीकार किया गया है[५] वेदों में विधि व

---

१ यजु. २७.४; ३४.४७; अथर्व. १२.१.३४; ११४.१

२ अथर्व. १२.१.२८

३ गौ.ध.सू. ३.२.१; महा.शा.पर्व ४५.९; अग्निपु. १५५.३-६; मार्क.पु. २७, सदाचारवर्णनम्।

४ धर्मज्ञसमयप्रमाणम्। वेदाश्च। (आप. १.१.३ तथा २.२.२९)

५ ऋग्. १.६८.२, १०५.१२, १४२.७, १३६.२, १६४.११, २.२८.४, ४.२३८-१०, १०.१९०.१, २, ३; १.२, १.९०, ५.१२.२; शतपथब्रा. ५.३.३.९; ५.४.५.५; बृह.उप. १.५.२३

न्याय के प्रशासक मित्र-वरुण स्वीकार किये गये हैं।[१] ऋत विधि को दैविक-शक्ति से उच्च व श्रेष्ठ माना गया है।[२] सृष्टि का निर्माण संचालन, निर्देशन, सब ऋत (विधि) के द्वारा ही होता है। ऋत के स्वर, बधिर भी सुन लेता है (ऋग्वेद ४.२३.८९)। इसी ऋत से प्रभावित होकर स्मृतिकारों ने विधि की रचना की थी। जिससे लौकिक-परलौकिक दोनों जीवन श्रेष्ठ व महान तथा आनेवाली पीढ़ी के लिये अनुकरणीय बन सकें।[३]

ऋत् परिशुद्ध शक्ति है। उससे सामाजिक एवं प्राकृतिक शक्तियां नियमबद्ध हैं।[४] ऋत में नदी, वायु, सूर्यदेवमण्डल, जड़-चेतन, सम्पूर्ण जगत् मानवीय कल्याण के निमित्त योग देते हैं। वेद ज्ञानभण्डार होने के साथ साथ स्वतः प्रमाण हैं। उन्हें अपौरुषेय स्वीकार किय गया है। अतएव वेदों का ऋत अपने में स्वतः प्रमाण, विधिस्रोत, तथा सर्वोच्चशक्ति माना जाता है। इसीलिए सम्पूर्ण नियमों की संरचना का आधार वेद ही रहे हैं।[५]

प्रकृति के अटल सिद्धान्तों की अनुकरणीय प्रेरण भी स्मृतिकालीन ऋषियों को वेदों से ही प्राप्त हुई थी। सूर्य इन्द्र द्वारा उत्पन्न की गई व निर्दिष्ट की गई दिशाओं का उल्लंघन नहीं करता, अपितु प्रतिदिन निर्धारित दिशा से जाता है। वरूण के द्वारा प्रतिपादित नियमों का उल्लंघन भी निषिद्ध था। सम्पूर्ण देवगण इन्द्र के नियमों से अनुशासित रहकर वैभव को प्राप्त कर सके कि प्रेरणा ने स्मृतियुग में विधि के महत्व को प्रतिपादित किया था।[६]

वेदों में पाप, अपराध, एवं विभिन्न अकृत्यों से विरत रह कर सत्पथ का अनुकरण एवं अनुशासित तथा द्वेषदोषरहित निष्पाप जीवन व्यतीत करने की बात बार-बार कही गई है। मानव को सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, व्यवहारिक, राजनैतिक, आदि क्षेत्रों में उच्चतम रूप प्रदान करने का मार्ग, वेदरूपी ज्ञान-प्रकाश

---

१ ऋग्. १.१५१.३, ४, ६, ८; १.१५२.१, ३

२ ऋग्. १.१६४.१, ३०, ३१; १.१४१.९

३ लोकेप्रेत्य वा विहितो धर्मः। वसि.संहिता १.१-२

४ ऋतस्य ही वर्तनयः सुजातमिषो वाजाप्रदिवःसचन्ते। ऋग्. १०.५.४

५ तस्य व व्यवहारों वेदों धर्मशास्त्राण्यङान्यवेदाः पुराणम्॥ गौ. ९.१९-२५

६ दिशः सूर्यो न मिनाति प्रदिष्ठा दिवे दिवे हर्यश्व प्रसूताः॥ ऋग्. ३.३०.१२; वरुणस्य व्रतानि अदब्धानि॥ ऋग्. ३.५४.१८; यत्र देवाभवथ विश्व इन्द्रे॥ ऋग्. ३.५४.७; न वां देवा अमृता आ मिनान्ति व्रतानि मित्रावरूणा, धूवाणि। ऋग्. ५.६९.४; अथर्व. ७.१९.१; ६.११६.१; व्रतंसमानं॥ अथर्व. ६.६४.२; अथर्व. ३.३०.१-५; ३.१०.१

स्तम्भ से अविरल मिला है । वेदों में विभिन्न प्रकार की विधियों-न्यायविधि-के नियमों का व्यवस्थित वातावरण उपलब्ध है । यही कारण है कि मनोविकारों के परिमार्जन का जैसा मार्ग वेदों में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है ।[१] जीवन की सम्पूर्णता की प्रेरणा वेदों से ही मिलती है । यही कारण रहा है कि स्मृतियुगीन विधिशास्त्री विधि रचना में वेदों के प्रति अनुरक्त व आस्थावान् रहे हैं । इन विधिशास्त्रियों का अथक लक्ष्य ही स्मृतियुग में वैदिक युगीन विधि का अनुकरण करना रहा था ।

वेदों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि जीवन के सर्व पक्षों को लोकमंगल की कामना से रंगीन करने के विभिन्न प्रशस्त मार्गो के जो पथ स्मृतिकारों ने प्रदान किय उन में विधि का स्थान महत्वपूर्ण रहा था । विधि शब्द को यदि पर्यायवाची शब्दों के साथ परखें तो इसकी गुरुता स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है ।

विधि = नियम, साधन, विष्णु उपाय, भाग्य आदि शब्द विधि के पर्यायवाची शब्द के रूप में विधि की उच्चता को प्रदर्शित करते रहे हैं ।

२. उपनिषद : सूत्र, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण एवं अन्य धार्मिक तथा शास्त्रीय व ऐतिहासिक ग्रन्थों में विभिन्नस्थलों पर मानवजीवन के एकाकी एवं राष्ट्रीय पक्ष का सुन्दर विवेचन हुआ है । जीवन को भौतिक आधार पर सुखमय बनाने हेतु नाना प्रकार के विधि के विधानों की समायोजना शास्त्रकारों एवं विचारकों ने की थी । लौकिक एवं परलौकिक दोनों ही प्रकार के सुखों की उपलब्धि के निमित्त विभिन्न उपायों का संकलन व निर्धारण अनुकरणीय समझा जाता रहा था । अनेक प्रकार के यज्ञों के सम्पादनार्थ स्वीकृत उपाय, भूल व पाप तथा अपराध के शोधना थे सूत्रों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित विभिन्न प्रायश्चित विधान की योजना भी स्मृतिकालीन व्यवहारिक विधि की प्रेरणा श्रोत रही थी ।

अहर्निशः सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त के बाद तक के समय का क्रमिक विभाजन, दिनचर्या, आदि की व्यवस्था का संकेत जो प्रारम्भ में मानव के व्यक्तिगत जीवन हेतु अपेक्षित व उपयोगी समझा और समझाया गया, आगे चलकर विधि का स्रोत सिद्ध हुआ ।

व्यक्तिगत जीवन श्रेष्ठ होगा तो श्रेष्ठ मानवों से बना समाज भी श्रेष्ठ होगा, यह विचार कर उपनिषदों व सूत्रों में करणीय व अकरणीय कार्यो की तालिका प्रस्तुत

---

१ यजु. २५.२१, २८.४५, ३०८, २२; ३४.४७, ५८; अथर्व. ५.२.४, ११.३.११.१-११; १२.३.१-५२; १३.१.५६-५९; ३.१-२५; ७८४.२; १२.१.२८, ४८.४, ३.२९.१; २.६.१; ३.३०.१-७; साम. १, ७, ११.१०.१-५, ९, १० न म ' दासो नार्यो ' महित्वा व्रतं मीमाय य दहंधरिष्ये । अथर्व. ५.११.३ अथर्व. ११.१.१-११ १२.३, १-५१ तक ।

की गई है ।[१] यही तालिका विधि की जननी रही है । इन नियमों ने स्मृतिकालीन विधि योजना को जीवन व प्राण एवं गति अर्पित की थी ।

समाज को व्यवस्थित एवं अनुशासित करने हेतु इस बात को प्रमाणिक माना गया था कि एक व्यक्ति, दूसरे व्यक्ति को अपशब्द न कहेगा, किसी का अपमान नहीं करेगा, मित्रद्रोही न होगा, अधमपुरुषों की सेवा में नहीं रहेगा, सदाचारहीन एवं दम्भयुक्त व्यवहार व आचरण नहीं करेगा, रुखी तथा रोषभरी वाणी का त्याग करेगा ।[२] लोकविरोधी कार्यकलापों का त्याग कर लोक सम्मत व्यवहार करेगा ।[३] इस प्रकार के आचरण ही भविष्य में चलकर स्मृतिकालीन विधिश्रोत बन[४] सके ।

समाज-विरोधियों की विरोध करने की भावना[५] एवं जीवनोपयोगी सामान्य नियमों के आर्कषण ने स्मृतिकालीन विधि-निर्माण भाव को अंकुरित किया था ।[६] महाभारत, अनुशासनपर्व के अध्याय तेरह के छटे श्लोक के अनुसार — मन, वाणी, शरीर से किसी भी प्रकार का अशुभकर्म करना पाप है, इस प्रबल भाव ने स्मृतिकालीन विधिशास्त्रकारों को विधि निर्माण हेतु बराबर प्रभावित किया ।

विभिन्न प्रकार के न्यायिक उपाख्यान[७] विधि-निर्माण को अपेक्षित व उपययोगी समझते रहे थे ।

३. स्मृतियां : स्मृतियुगीन विधि के लिये स्मृतियां विधिस्रोत रही हैं । मनुष्य एवं याज्ञावल्कय द्वारा रचित मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृतिउत्तरवर्ती स्मृतिकारों के लिये, स्रोत के रूप में सिद्ध, व सार्थक रही थी । कुछ स्मृतियों का निर्माण सूत्रकारों द्वारा भी हुआ था । उदाहरणतः गौतमस्मृति,हारीस्मृति, शंखलिखितस्मृति, आदि । इन स्मृतियों ने भी उत्तरवर्ति विधि को प्रभावित व प्रेरित किया था । स्मृतियों को

---

१ छा.उप.२.१५, १४.२; १५.२.१६, १७-२०.२; बृह.उप. ४.४.पृ. १०३३ आप.ध.सू. १.२.१९-३१; २३.६, १०.१६-२५ · गौ.ध.सू. ३.२.१, १.५.४२, १.६.१-२२; २८.१-३८

२ नाक्रोशीस्यान्नावमानी परस्य, मित्रद्रोही नातेनीचोपसेवी । न वा चाभिमानी न च हीनवृत्तो, रक्षावार्च रुषतों वर्जयति ॥ महा. उपर्व-३६-६

३ महा.उ.पर्व. ४५.९; ५१.५४

४ महा.शा.पर्व १५.५२

५ विरोध्यांश्च विरोध्य ॥ महा.शा.पर्व ५७.४

६ महा.शा.पर्व ६०.१-५४ (वर्णधर्म संबंधी नियम-१); ६१.१-२१ (आश्रम के नियम ।); ६२.१-११ (ब्राह्मणधर्म के नियम); ६३.१-३० (वर्णा श्रमधर्म के नियम); ६४.१-३०(राजधर्म के नियम); ७८.१-४४; ८१.१-३०; १०८.१-३३; १९३.१-३३; १९९.१-४४ (सामा. आचार); अनु पर्व १०४.६-१५६; १०५.२-२० (सामान्यआचारनियम); अग्निपु. १५५.१-३ (आचारविचार नियम); वि.पुराण तृतीयांश ११.१-१२५ (सदाचार के विभिन्न नियम); १२.१-४५ (वही); विधुरजातक ५४५

७ गृहीतश्चैवपृष्ठश्चकालेदृष्टःसकारणः । कच्चिन्नमुच्यते चोरी धनलोभन्नरर्वभः ॥ रामा.अयो.कां. १००.५७

वेदज्ञों का स्मरण मानकर, धर्मशास्त्र के अर्थ में प्रयोग हेतु मान्यता मिली थी।[१] विभिन्न प्रकार की देशीय, कुलीन एवं जातिगत परम्पराओं को स्मृतियों ने मान्यता दे कर उन्हे जीवन के व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया था।[२] इन परम्पराओं ने विधि-निर्माण में विधिशास्त्रियों को प्रभावित किया। फलतः स्मृतियुग में विधि के कल्याणकारी व राष्ट्रहितकारी भव्य रूप का चित्रण सम्भव हो सका।

स्मृतिकारों ने मानव जीवन के सम्पूर्ण पक्ष का विश्लेषण कर, विभिन्न नियमों की कड़ियों का निर्माण किया था। एक भयंकर अपराधी भी जिन अपराधों की कल्पना नहीं कर सकता, ऐसे अनेक विभिन्न दोषों व अपराधों के परिमार्जनार्थ स्मृतिकारों ने नियमों का निर्माण किया था। स्मृतिकार सधे हुए अनुभवी विधिज्ञ थे। फलतः उनकी विधि संबंधी चेतना अनेक नियमों के निर्माण में सफल व सक्षम रही थी। विधि निर्माण की सभी सम्भावनायें स्मृतियों में समाविष्ट हैं। पूर्ववर्ती स्मृति इतरवर्ती स्मृति के लिए विधि निर्माण में प्रेरक व सहायक रही थीं। लौकिक ही नहीं, पारलौकिक कष्टों के निवारणार्थ कल्पनातीत व्यवस्था की रचना स्मृतियों की ही देन रही है।

४. सदाचार: उन शिष्ट आचार तथा व्यवहारों को, जो किसी विशेष क्षेत्र में दीर्घकाल से प्रचलित रहे हों, तथा वेद एवं स्मृति से विरूद्ध न हों, ऐसे शिष्ट आचारों को सदाचार कहते थे। श्रेष्ठ व्यक्ति शिष्ट सजग व प्रगतिशील प्रतिनिधि होता है।[३] उसका व्यवहार सदाचार कहलाता है; क्योंकि उसके व्यवहार से समाज संगठित व समृद्ध होता है। यही सदाचार समाज और राज्य से मान्य होने पर स्मृति कालीन विधि का स्रोत बन सका।[४] फलतः वैदिक परम्परा और सदाचार का, संहिता-बद्ध स्वरूप, स्मृतियों के रूप में असंख्य एवं विमल उत्स के समान फूट पड़ा था।

सदाचार में क्षेत्रीयता, अस्थिरता, तथा व्यक्तिगत विचारों का प्रभाव मूल रूप में सन्निहित रहता है। इसलिए देश, जाति, परिवार, में प्रचलित सदाचारों की स्मृतिकारों ने मान्यता प्रदान की थी।[५] परन्तु सदाचार की तुलना में स्मृति का स्थान

---

१ आ प. २.२९.१३; १.१.१२; बौधायन १.१.३; वसिष्ठ १.४; गौतम १.१; १.२; याज्ञ. १.७; मनु. २.६, १०, १२; तैत्तिध्० आ. १.२; श्रुतिस्तुवेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वैस्मृतिः॥ मनु. २.१०; पूर्वमीमांसा ६.८.२३; १२.४.४२; वेदान्तसूत्र २.३.४७; ३.१.१४; ४.२.१४

२ मनु. ८.४६; याज्ञ. १.१३९, १४०

३ बौ.ध.सू. १.१.५.६, मनु. २.६१.६; याज्ञ. २.४०; १.७; वसि. १.४-५

४ मनु. १.१०८; २.१८; महा.अनु.पर्व १४१.६५; शा.पर्व २५९.३; याज्ञ. १.७; वि.पुराण. ३.११.३;। हारीत.उद्.परा.व्य. १, भाग-१, पृ. १४४ साध्वः क्षीणदोषास्युः सच्छन्दः साधवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते॥

५ आप. २.६.१५.१ पर हरदत्त का मत; २.११.२९.१४; गौ. ११.२०; मनु. ८.४५; वशि. १.१७; मनु. १.११८; ८.४१; याज्ञ. १.३६१; अर्थ. ३.५, ७

उच्च था ।[१] ऐसा भी देखने को मिलता है कि स्मृतियों द्वारा समर्थित नियोग प्रथा मान्यता न पा सकी थी ।[२] वेद द्वारा स्वीकृत व्यवहार स्मृतियों में धर्म के नाम से स्वीकृत किया गया ।[३] परन्तु लोक विरुद्ध धर्म व आचार का स्मृतिकारों ने खुले मस्तिष्क से बहिष्कार कर, उसे अमान्य ठहराया था ।[४] नास्तिकों को समाज के सम्बन्ध से पूर्णतः दूर रख कर, उनके आचारों की उपेक्षा की गई थी ।[५] क्योंकि सदाचारों के पीछे सर्वधर्म संरक्षण का प्रयास बल पकड़े हुए था । शिष्ट आचार स्मृतिकालीन विधि के स्रोत तो बन सके, किन्तु सार्वभौमता को प्राप्त करने में असफल ही रहे थे ।[६]

स्थानीय आचार राज्य निर्णय का आधार होते थे ।[७] राज्य सदाचार को नियन्त्रित नहीं कर सकता था । क्योंकि सदाचार में जनस्वातन्त्रय एवं राष्ट्रीय नैतिकता का समन्वय स्थापित होता था । सदाचार की इस प्रबल स्वतन्त्रता व शक्ति ने स्मृतिकालीन सबल विधि को जन्म दिया था । यह विधि-योजना ही आगे चलकर लोक-कल्याणकारी व्यवहार पद्धति का मूल आधार सिद्ध हुई । इसी कारण स्मृतियों में सदाचार की प्रशंसा, स्मृतिकारों ने मुक्तकंठ से की है ।[८] सदाचार से च्यूत व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं होता था । आचारहीन पिता तक को त्याग दिया जाता था ।[९] उसका बराबर तिरस्कार भी किया जाता था फिर दूसरों की आचरणहीनता तो सदैव ही निन्दा का हेतु बनती रहती थी ।

५. परम्परा : दीर्घकाल तक प्रचलित सदाचार, परम्परा या प्रथा की संज्ञा से अभिहित होती थी । इन परम्पराओं का प्रचलन कुल ग्राम, क्षेत्र, समाज, देश में व्याप्त था । कर्तव्यों का निधारण परम्परा को ध्यान में रख कर किया जाता था ।[१०]

---

१ याज्ञ. १.५७; २.११७; मनु. २.१०

२ गौ. १८.४-१४; याज्ञ. १.६८-६९; वशि. १७.५६-५७; मनु. ४.१७६ पर मेधातिथि

३ मनु. १.१०७, १०८

४ मनु. ४.१७६, याज्ञ. १.१५६

५ मनु. ९.२२५; ४.३०; याज्ञ. २.७०

६ नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते ॥ महा.शा.पर्व २६१.१७

७ मनु. ८.३

८ मनु. ४.१५५-१५८; २, ६; १.११८; ८.१४१-व- १४६; वसिष्ठ ६.६-८ १.४, ५, १७; महा. अनु.पर्व १०४.६-९; वनपर्व - ३१३.११७; वि.स्मृ. ७१.९०-९२; वि.पु. ३.२११; मार्कण्डेय - ३४; आप.ध.सू. १.७.२०.८; याज्ञ. १.७, ३६१; गौतम ११.२०; अर्थ. ३.७

९ गौ.ध.सू. ३.२.१

१० आश्व.गृ.सू. ११७.१-२; आप.ऋगृ.सू. २.१५; आप.ध.सू. १.७.२०.८; २.११.२९.१४; पारस्कर २.१७; मानव गृ.सू. १.४.६; बोधायनध.सू० - शेषक्रियायां लोकोनुद्धव्यः ॥ १.५.१३; ऋग्. १.१०५.५; उ. पर्व ५१.५४; अथर्व. ६.११६.१; ३८.६; गौ.ध.सू. ११.२

मनु ने परम्पराको अभिष्ट मानते हुए उसमें लोक कल्याण के दर्शन किये हैं। उनका कथन है, कि व्यक्ति को श्रेष्ठ व सज्जन पुरुषों, पिता एवं पितामहों के मार्ग का अनुकरण करना चाहिये।[१]

परिवर्तनशीलता एवं प्रगतिशीलता की अपेक्षा को अनुभूत करते हुए परम्परा तथा रीति में परिवर्तन को समय-समय पर मान्यता मिलती रही थी। रीतियों को प्रमाणिक तथा अनुलंघ्य माना जाता था। इन का पालन अनिवार्य था। नियमों के अभाव में परम्पराओं को आधार मान कर विधि स्वीकार करते थे।[२]

परम्पराओं की मान्यता का क्षेत्र अपने में व्यापक था। विजयी राजा, विहित देश की परम्पराओं को अनुलध्य मानकर उनकी रक्षा करता था।[३] विधिरचना में ध्यान रखा जाता था कि, नियम, परम्पराओं के विपरीत न बन सकें, जिससे परम्पराआकें के अतिक्रमण का संकट उत्पन्न न हो जाये।[४] परन्तु वेदविरद्ध, जनकल्याण-विरुद्ध परंपराओं को मान्यता की परिधि से बाहर रखकर उसे पूर्ण रूपेण नियन्त्रित किया जाता था।[५]

वेद तथा स्मृति सम्मत रीति की स्थापना बलपूर्वक की जाती थी। धन, सम्पत्ति विभाजन में भी परम्परा की उपेक्षा नहीं हो सकती थी[६]। पुरातन परम्पराओं को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर, नियमों का संगठन किया जाता था।[७] ग्राम व नगर के निवासियों के मध्य उत्पन्न विवाद को परम्परा के द्वारा ही निर्णीत किया जाता।[८] यदि रीति तथा श्रुति में विरोध होता था तो रीति की उपेक्षा कर श्रुति को प्रामाणिक माना जाता था।[९]

---

१ येनास्यपितरोयाता येनयातापितामहाः॥ मनु. ४.१७०; २.।८; तेन यायात्सतां मार्ग तेन गच्छन्नरिष्यति॥ महा.वन धर्मस्यतत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था। महा.वन पर्व ३१३.२१७; याज्ञ. १.१५४; २.१९२; अथर्व ६.५५.१

२ गौतम ११.२०, २१, २२ - 'देशराजतिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाप्रमाणम्।; याज्ञ. १.९; अथर्व. ६.५५.१; आप.ध.सू. २.२९.२९;२.६.१५.१; देशधर्मजातिधर्मकुल धर्मरन्श्रुंतयभावादव्रवीन्मनुः॥ वसिष्ठ १.१७; १९.७; बौ.ध.सू. १.१.१९-२६; मनु. ८.४६

३ मनु. ७.२०३; याज्ञ. १.३४३

४ मनु. ८.४१, ४६; अथर्व ६.११२.१,३; छा. उप. १८.७

५ मनु. २.६; यजु. ५०.७८; अथर्व. १०.१.३१

६ याज्ञ. २.१८६; अर्थ. ३.७

७ बृह.उद्.स्मृ.सं. १.१०; आ.ध.सू. २.१०.२७.३

८ बृह.उद्.स्मृ.चं. २, पृ. २६; मनु. ८.३

९ आप.ध.सू. १.१.६; २.९.२३८,९; गौतमध.सू. १.१.५

सुपरंपरा को पवित्रधर्म मानकर सप्रयास उसका पालन[१] अनिवार्य था। साथ ही जातिगत आचारों की वेधानिकता पर बल[२] दिया जाता था। परम्पराओं का त्याग करने वालों को दण्डनीय माना जाता था।[३]

स्पष्ट होता है कि ऐसी परम्परा जो, दीर्घकाल से प्रचलितहो, वेद विरुद्ध न हो, विशिष्ट जनों के द्वारा प्रामाणिक हो, वह ही अनुमोदित व मान्य होने के फलस्वरूप विधिस्रोत बनती थीं।[४]

६. तर्क तथा विद्धानों के मतः तर्क से प्रयोजन विवेकशील चिन्तन से था। अनेकाशः ऐसे अवसरउपस्थित होते रहे थे जब वेद, स्मृति, तथा परम्परा में परस्पर विरोध उत्पन्न हो जाता था। इन जटिल परिस्थितियों में कर्तव्य का निर्धारण करना दुष्कर हो जाता था। ऐसी विषमताओं को सुलभ करने, विरोध को समाप्त कर समन्वय स्थापित करने हेतु अनेक विद्धान मीमांसा करते थे। अपने-अपने तर्को के आधार पर सर्व-उपयोगी सिद्धानतों का समर्थन कर श्रुति, स्मृति और रीति के विरोध को समाप्त कर, अपना मत भी प्रस्तुत करते थे। प्रत्येक प्रकार की कठिनाई को सुलभ करने हेतु तर्क का अवलम्ब मान्य था।[५] यद्यपि श्रुति-स्मृति तथा रीति में विरोध होने पर प्रत्येक के पूर्वका कथन प्रामाणिक होता था।[६] वेद की प्रामाणिकता सर्वोच्च थी।[७] परन्तु श्रुति-स्मृति रीति के विरोध को समाप्त करने हेतु विकल्प का अवलम्ब भी बराबर लिया जाता था। क्योंकि परिस्थिति, स्थान व काल के कारण परिवर्तन अपेक्षित हो जाता था।[८] उदाहरणार्थ ब्रह्महत्या को महापराध माना जाता था। परन्तु आत्मरक्षार्थ ब्रह्महत्या करना अपराध नहीं था।[९]

---

१ आचारः परमोधर्मः श्रुत्यकृतः स्मार्त रावच। तस्मादस्मिन्सदा युक्तो मियंस्यादात्मवान् द्विजः॥ मनु. १.१०८; महा.अनु.पर्व १४५.६९; शा.पर्व २५९.३; लोकविरूद्धं नाचरेत॥ बार्हस्पत्यसूत्र ५.१६

२ गौतम ११.२०; वसिष्ठ १.१७; मनु. १.११८; अर्थ. ३.७

३ याज्ञ. १३६१, १.१३९, १४०; उ.पर्व ४५.९

४ ऋग्. १.६१.२८

५ मनु. ७.१०५-१०६; ४.१७६; मेधातिथि; याज्ञ. १.४५६ (विश्वरूप)।

६ मनु. २.१६; वसिष्ठ १.४-५; याज्ञ. १.७

७ मनु. २.१३; याज्ञ. १.४०; आप.ध.सू. १.१.४८; २.९.२३८,९

८ गौतम १.५, मनु. २.१४, याज्ञ. २.२१

९ मनु. ८.३५०, ३८१

इसी प्रकार स्मृतिकारों के मतानुसार ब्राह्मण, शुद्रा पत्नी रख सकते थे ।[१] कुछ के मतानुकुल ऐसा नहीं था ।[२]

टीकाकारों को[३] बाध्यहोकर, विरोध समाप्त करने हेतु नये नियमों का प्रतिपादन करना पड़ा था । इस प्रकार तर्क तथा विद्धानों के मत स्मृतिकालीन विधि के स्रोत बन सके थे । तर्क के अभाव में वस्तुस्थिति के फल तथा धर्महानि की पूर्ण सम्भावना रहती थी । ऐसी परिस्थितियां भी उद्‌भूत हो जाती थीं जब शास्त्रीय नियम संकीर्ण या अप्रगतिशील होने से प्रभावहीन बन जाते थे । उस दशा में तर्क व विद्धानों के मत के अतिरिक्त अन्य मार्ग हो भी क्या सकता था । प्रगतिशील समाज के साथ संगति बैठाने के लिये तर्क ही एकमात्र स्मृतिकालीन विधि का स्रोत व आधार रहा था ।

धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में विरोध होने पर, अर्थशास्त्र के कथन को अमान्य माना जाता था । तथा धर्मशास्त्र को प्रमाणिक व अनुलंध्य मानकर अपना लिया जाता था ।[४] ऐसे स्थलों पर तर्क का अवलम्ब स्वीकार्य व ग्राह्य नही होता था । परन्तु जब दो कथन समान रूप में प्रामाणिक होते थे, तो किसे ग्रहण किया जाय ? यह संकट उत्पन्न होने पर तर्क का अवलम्ब लिया जाता था ।[५]

विधि के प्रकार

विचारक संगठित होकर एकमत से व्यक्ति तथा समाज एवं राष्ट्रहित में नियमों का निर्माण् करते थे । प्रारम्भ में निर्मित नियमों का पालन करने से सब ही आनन्दित हो उठे[६] । इस आनन्द से प्रभावित होकर विभिन्न प्रकार के नियमों का निर्माण व गठन हुआ ।[७] विधि स्मृति मूलतः दो धाराओ मे विभक्त होकर विकसित हुई थी ।

---

१ बौ.ध.सू. १.८.२; मनु. ३.१३; विष्णु. २३४.१.४; वसिष्ठ १.२५

२ याज्ञ. १.५६

३ धर्मशास्त्रविरोध तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः । व्यवहारो हि बलवारन्धर्मस्तेनाव हीयते ॥ नारद - १.४०; युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥ बृह.उद्.स्मृ.चं.२, पृ.२४

४ नारद १.३; आप.ध.सू. १.९.२४.२३; याज्ञ. २.२१; का.सू. २०

५ गोभिल स्मृ. ३.१४८, १४९; वसिष्ठ ११.५७

६ अथर्व. ७.१९.१; ६.११६.१; ऋग्. ८.२५.१७; ८.२६.१४; आप.ध.सू. १.१.१

७ ऋग्. २.५.४; साम. पूर्वचिक्, १.७.१०; अथर्व. ५.११.३; ४.३.३०

१. लिखित विधि

विधि का लिखित स्वरूप ही लिखित विधि कहलाता था। सम्पूर्ण वैदिक, इतरवैदिक, एवं धार्मिक तथा शास्त्रीय व दार्शनिक साहित्य, व व्यवस्था से प्रभावित होकर, स्मृतिकारों ने, समाज को सुव्यवस्थित करने हेतु स्मृतियों के माध्यम से विधि को लिखित रूप में प्रस्तुत किया था। विभिन्न प्रकार की आचार संहिताएं, कृत्य-अकृत्यों की तालिका, प्रायश्चित-विवरण, आश्रम एवं वर्णव्यवस्था, दैनिक, विधि आदि अपने-अपने क्षेत्र में लिखित विधि के मानदण्ड बन सके थे। मानव समाज व लोक-कल्याण की भावना को ध्यान में रखकर ही स्मृतिकारों ने परिस्थिति के अनुकूल विभिन्न नियमों का सृजन किया था। समाज की आवश्यकता व प्रगति के अनुरूप यह लिखित विधि विकसित होती चली थी। समय-समय पर निर्गत नृपादेशों एवं न्यायधीशों द्वारा प्रस्तुत न्यायिक पूर्वोक्तियां एवं विधिवेताओं द्वारा सुझाये गये सुझाव के अनुसार लिखित विधि प्रबल व प्रभावी बनती गई थी।[1]

विधि-विधानों को दीर्घकाल तक स्थिर व सुव्यवस्थित रखने हेतु विधि को लिखित रूप मे ही स्मृतिकारों ने श्रेयकर समझा था। भ्रमवंश विधि विशृंखल्ति न हो जाय, असंतियों से बची रहीं, इच्छानुरूप विधि में कोई हेरफेर, तोड़मरोड१ या विकृति उत्पन्न न कर सकें, इन्हीं कारणों से स्मृतिकारों ने विधि के लिखित स्वरूपप को मान्यता प्रदान की एवं व्यावहारिकता के धरातल पर विधि के लिखित रूप को साकारकिया था।

वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग (व्याकरण, छन्दादि), स्मृति पुराण, सूत्र, देश जाति-कुल-की परम्पराओं, कृषकों, व्यापारियों , महाजनों (ऋण देनेवालों, अन्य शिल्पियों को रूढ़ियों, तर्क, तथा विद्धानों की सम्मतियों को आधार मानकर लिखित नियमों का निर्माण होता था।[2] विधि निर्माण परम्परा किसी भी प्रकार उक्त वस्तु स्थिति का अतिक्रमण नहीं कर सकती थी। परन्तु असंगतिपूर्णतथ्य (जैसे गायों के मध्य भेड़, बकरी का रचना), विधि के रूप में मान्य नहीं था।[3] सद्संगति व पापरहित

---

१ मनु. ७.१३ पर मेधातिथि।

२ तस्य च व्यवहारोवेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्। कर्षकवणिक् पशुपालकुसीदि कारवः स्वेस्वे वर्गे। ... न्यायाधिगमें तर्कोभ्युपायः। ...विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धभ्यः प्रत्यवह त्यनिष्ठां गमयेत् तथा ह्यस्य निः श्रेयसं भवति॥ गौ. ९.१९-२५; यजु. १२.९०

३ आप.ध.सू. २.१४.१३

जीवन की स्थापना ही विधि निर्माण की मूल समझ कर विधि को लिखित रूप में श्रेष्ठ माना गया था ।

२. अलिखित विधि

प्रचलित सद्-परम्परायें, सामाजिक या व्यावसायिक मान्यतायें तथा संविदायें (समझौते) सामाजिक तथा न्यायिक क्षेत्र में मान्य रही थी । परन्तु उनका लिखित स्वरूप नहीं था । अपितु समाज में वे समाज की आस्था तथा विश्वास के आधार पर चलती रहीं थीं । इस अलिखित विधि की परिधि में परम्परा का विशेष महत्व रहा था । जहां लिखित विधि पर राज्य शासन की मुहर लगी होती थी, वहीं पर दूसरी और परम्परा लोकमान्य थी । परम्परा की अवहेलना करने वाले को निष्कासित कर दिया जाता था, दंडित किया जाता था । परम्परा को मर्यादा की कोटि में रखकर उसका आदर किया जाता था ।श्रेष्ठ परम्परा का अनादर तथा अतिक्रमण शासन द्वारा अमान्य रहा था ।[1]

परम्परा को चरित्र की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता था । रूढ़ी व परम्परा के आधार पर निर्णय दिये जाते थे ।[2] प्रचलित पुरातन लोक मंगलकारी रूढ़ियें को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा जता था ।[3] कात्यायान ने ग्राम-नगर निवासियों के मध्य उत्पन्न विवाद को परम्परागतरुढ़ी के आधार पर निर्णीत करना ही समुचित मानते थे । परम्परायें परम धर्म के रूप में सप्रयासफलित होती थीं ।[4] कपटी पुरुष के साथ कपट करने की व्यवस्था को रूढ़ी रूप में प्राचीन काल से मान लिया गया था ।[5]

विधि का यह स्वरूप शीत उत्स के समान अविरल रूप में प्रस्फुटित होता हुआ, लिखित विधि के लिए सहायक और पूरक रहा था । जनमानस की

---

१ धर्मज्ञसमयः प्रमाणम् ॥ आप. १.१.२ (धर्मज्ञाताओं के समय ही इन आचारो के लिये प्रमाण है); बृह.उद.स्मृ.चं, पृ. २२५; आप.ध.सू. १.७.२०.८; गौतम ११.२०; नारद २.६; अर्थ. ३.१; व्यास उद.स्मृ.चं. २.११; बौ.ध.सू. १.५.१३; आश्वलामन गृ.सू.१.७.१, २; पा.गृ.सू. २.१७; मपनव गृ.सू. १.४.६; मनु. ४.१७८; २.१५८; वसि. ६.६; महा.अनु.पर्व १०४.६९; याज्ञ. २.।९२; १.१४३; यस्मिन्देशेपूरेग्रामेत्रैविद्येनगरेऽपिवा । यो यत्रविहितो धर्मस्तं धर्म न विचारयेत् ॥ देवल स्मृ.चं. १.१०, पृष्ठ पर ।

२ बृह. उद्. अ.व्य.निर्पृ. १३९; कात्या.उद्.स्मृ.चं.२, पृ. १०; महा.शा.पर्व २६१.११; मनु. ८.३; याज्ञ. २.१; नारद १.३७; वसिष्ठ १.१७; अर्थ. २.७; ३.७

३ देशजातिकुलानां च में धर्मास्तत्प्रवर्तिताः । तथैव ते पालनीयाः प्रक्षुभ्यन्त्यन्यथा प्रजाः ॥ बृह.उद्.स्मृ.चं. १.१०; आप.धा.सू. २.१०.२७.३

४ आचारःपरमो धर्मः श्रुत्यक्तः स्मार्त एव च । तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यंस्यादात्मवान् द्विजः मनु. १.१०८; शाश्वतवृद्धपरम्परया नेदानीन्तनैः प्रवर्तितः ॥ मनु. पर मेधातिथि १.१०७; वेदोक्तः परमोधर्मः स्मृतिशास्त्रगतो परः । शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयोधर्माः सनातनाः ॥ महा.अनु.पर्व १४१.६५; सदाचारः स्मृतिवेदस्त्रविधं धर्मलक्षणम् ॥ शा.पर्व-२५९.३

५ ऋग्वेद १.१.१७

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कठिनाइयों का समाधान लोकरीतियों के धरातल पर स्मृतिकाल में होता था।

विधि का धार्मिक व नैतिक स्वरूप

स्मृतिकालीन विधि का निर्माण धार्मिक व नैतिकता की उर्वरक भूमि में हुआ था। वेद से लेकर स्मृति से पूर्व रचित सम्पूर्ण भारतीय दर्शन व साहित्य धार्मिक वातावरण से प्रभावित है। भारतीय संस्कृति में धर्म का अस्तित्व मानव जीवन का मूल आधार माना जाता रहा है। फलतः स्मृतिकाल का सम्बन्ध धार्मिक भावना में एकाकार हो सका।

शास्त्रों के नियम देवीय होने के कारण नृप से भी ऊपर होते थे। धर्म का पालन सब के लिए अनिवार्य था। कोई भी इससे विरत नहीं हो सकता था। धर्म ही सत्य था। अतएव धर्म से बढ़ कर किसी का अस्तित्व नहीं था।[१] अतएव असत्य का सुनना, दुष्कर्म देखना, झूठी प्रार्थना करना या प्रशंसा करना, निषिद्ध होने के कारण अनैतिक माने जाते थे।[२] इनसे विरत रहने के निमित्त विद्या-विनय-सत्संग-पुरुषार्थ आदि धार्मिक नियमों का सृजन किया गया था।[३] सत्य व्यवहार के नियमों का गठन होता था।[४]। विद्वानों को कष्ट देने से मानव भ्रष्ट हो जाता है, ऐसा विश्वास किया जाता था।[५] गाय-घोड़ा अदि लाभकर पशुओं का वध भी निषिद्ध कृत्य था।[६] क्रोध न करना, सुमति से कार्य करना, उत्तम नीति का अनुकरण करना, नमन करने वालों का सत्कार करना, पापियों से दूर रहना आदि धार्मिक भावना के ही अंग रहे थे।[७] परस्पर तिरस्कार करना अमान्य था। ज्ञान व कर्म की भावना से दुष्टता का विनाश करना धार्मिक कृत्य रहा था, द्वेषी से द्वेष करना भी अधर्म नहीं था।[८] जीवन को सदाचारी बनाने हेतु विभिन्न प्रकार की नैतिक व धार्मिक विधि को निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया था।

गुरु आदेश का पालन, गुरु का विरोध न करना, गुरु के पास नीची शैय्या पर बैठना व शयन करना, चटपटा, मधु व मांस न खाना, दिन में शयन न करना, सुगन्धित द्रव्यों का सेवन न करना, मैथुन का वर्जन करना, सौन्दर्यप्रसाधनों से विरत

---

१ बृह.उप. १.४.११-१४

२ यजु. २५.२१; छा.उप. ३.१७.४

३ यजु. २८.४५; ३०.१४

४ यजु. ३४.५८

५ अथर्व. ५.११९.१

६ अथर्व. १०.१.२९

७ अथर्व. ७.२०.३,४; ६.९३.२

८ अथर्व. १०.५.१५

रहना, बालों का जटा बांध कर रखना, क्रोध न करना, दूसरे के अभ्युदय पर न जलना, मादक वस्तुओं का त्याग, ब्राह्मण को व्यापार न करना, क्रोध-हर्ष-रोष-लोभ-मोह-दम्भ-द्रोह-ईर्ष्या-स्वार्थहीनता-भावावेगों व क्रूरता का त्याग करना, परदोष से विमुख रहना, सत्यभाषण करना, भोजन में संयम रखना, दान-न लेना, इन्द्रिय शमन, सरलता, विनम्रता, कोमलता का अनुसरण आदि करनासार्वजनिक जीवन के नैतिक व धार्मिक कर्म थे ।[१] इन नियमों पर ही भारतीय संस्कृति व संगठन तथा आचरण शीलता का भव्य प्रासाद खड़ा हो सका था । इस धार्मिक विधि ने ही भारतीय न्यायपद्धति को जीवनप्राण और गति प्रदान की थी ।

जीवन को सामान्य रूप में सुखी बनाने हेतु नैतिक विधि को महत्वपूर्ण माना जाता था ।[२]

विधि की मान्यता

साधारण नागरिक से लेकर नृप तक विधि की परिधि में सीमित रह कर कार्यों का सम्पादन तथा अपने अधिकारों का उपयोग करते थे । कोई कितना भी प्रबल व शक्तिमान रहा हो, परन्तु विधि का अतिक्रमण नहीं कर सकता था । नृप भी शास्त्रानुकूल कार्य करने को बाध्य रहा था ।[३] नियमों को दैवीय माना जाता था । फलतः कोई भी अपने को विधि अनुकरण से बचा नहीं सकता था ।[४] विधि को धर्म मान कर उसका सम्मान करना, स्मृति युग में अनिवार्य समझा जाता था ।

नृप उचित आचरणों की रक्षार्थ तथा अनुचित कृत्यों के शमनार्थ जिन नियमों का निर्माण करता था, उन नियमों का उल्लंघन या अतिक्रमण नहीं किया जा सकता था ।[५] विधि के क्षेत्र में नृप या न्यायाधीश को विधि के अनुसार चलने

---

१ आप.ध.सू. १.२.१९-२४; १७.२१; २०.१०; २३.६; अथर्व. १३.२१.५६ वि.पुराणं ११.१-१२५; १२.१-४५; अग्नि. १५५.१-३१; मार्कण्डेय पृ.अ.२७ सदाचार वर्णन

२ आप.ध.सू. १.३०.१६-२५; २.९.६; गौ.ध.सू. ३.२.१; १५.१-४२, ६.१-२२, ७.१-२६, ९.१-७४; २.१.१-६९, ७.१-४९, ८.१-३८; महा.शा.पर्व ६०.१-५४, ६१.१-२१, ६२.१-११, ६३.१-३०, १९३.१-३३, २९९.१-४५; अनु.पर्व १०४.६१५६; १०५.२-२०; अथर्व. ११.।९-३६, ११.१.१, ५, ११, १४, २२, ३०; १२.३.१, ५, ९, १७, १८, ३१, ४३, ४७, ४९, ५२, ५३

३ मनु. ७.१९, २८, ३०; याज्ञ. १.३५४, ३५६; महा.शा.पर्व ८५.२; मार्क. २७.२९, ३०; अथर्व. ११.१.१-८; ऋग्. २.५.४

४ बृह.उप. १.४.११, १३; ऋग्. १.२६.१४; अथर्व. ३.१०.१

५ न मे दासो नार्यो महित्वाव्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये ॥ अर्थ. ५.११.३; (जिसको मैं धारण करता हूं मेरे विषय को न तो दास न आर्य महत्व के साथ तोड़ सकता है) ।; मनु. ७.१३; अर्थ. २.।०; ऋग्. २.३८.९

की अनिवार्यता का अंकुश भी स्मृतिकारों ने लगा दिया था।[१] विधि का उल्लंघन वर्जित होने के कारण अपराध माना जाता था।[२] फलतः प्रत्येक दशा में विधि-विरोध निषिद्ध रहा था।

अथर्ववेद ३.२९.१ में प्रयुक्त यम शब्द (नियम से चलने वाला) से स्पष्ट होता है कि साधारण-असाधारण, प्रजा तथा सभासद एवं नृप विधि नियन्त्रण से प्रभावित थे। नियम योजना सबके लिये समान होती थी।[३]

विधि संशोधन

समाज को परिवर्तनशीलता के अनुरुप विधि भी स्वाभाविक रूप में परिवर्तित होती चली गई। उत्तरधिकारी, विवाह, समाज के आर्थिक और सामाजिक एवं राजनैतिक आवश्यकताओं के कारण विधि में आवश्यकतानुसार परिष्कार हुआ था। समय-समय परसमाज की स्थापना विधि संशोधन के आधार पर हो सकी थी। सुदृढ़ आधार का अभाव, परिवर्तनशीलता का प्रेरक रहा था। सामाजिक परिवर्तन की आधारशीला पर विधिस्वरूप परिवर्तित व संशोधित होता चला था। एक समय के नियम दूसरे समय में भिन्न हो जाने या राजनैतिक क्रान्तियों के उद्‌भूत हो जाने पर विधि बदलती रही थी। विभिन्न स्मृतियों का अनुशीलन करने से स्पष्ट हो जाता है कि एक युग की नैतिकता, दूसरे युग की अनैतिकता समझी जाने लगी थी। आज भी अनेक प्राचीन परम्परायें वर्जित व निषिद्ध हो गई है। विधि संशोधन के फलस्वरूप स्मृतियुग में सभ्य समाजकी स्थापना हो सकी थी।[४]

विधि परिणाम

लाभः— विधि पालन से लोकमंगल की भावना साकार होती थी। विधि अंकुश के कारण शत्रु शक्तिहीन हो जाते थे। विधिआधार पर दुष्ट दण्ड पा सकते थे।[५] अदीनता, भव्यता एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति नियमानुकरण से हो सकती थी।[६] नियमों के कारण कष्टमय जीवन, हिंसकों के उपद्रव तथा दुष्टता से छुटकारा हो सका था।[७] सभी जन प्रेमपूर्वक रह सकते थे। पुत्र पिता के अनुकूल, पत्नी पति

---

१ मनु. ८.३; याज्ञ. २.१; नारद १.३७; का.उ.स्मृ.चं.२, पृ. २१

२ श्रुतेनमा वि शीधषि। अथर्व. १.१.४; (ज्ञान अर्थात् नियम का विरोध निषिद्ध था। वाचस्पतिः निमच्छतु॥ अथर्व.१.१.३, (वाणी का पति नियम से चले); अथर्व. ११.२.२०

३ व्रत समानं॥ अथर्व ६.६४.२

४ महा.शा.पर्व ५९; मनु. १.८१; नारद १.१, २

५ अथर्व १३.१.५९;१३.३.१-१५

६ अथर्व. ७.४.१

७ अथर्व. ७.२३.१

अनुकूल कर्म व आचरण करते थे। सभी परस्पर प्रेम, स्नेह व एकता के सूत्र में सर्वहिताय की भावना की कामना के अनुरूप बन्धे थे।[१]

अनुशासन के प्रति अनुराग तथा अकृत्यों के प्रति उपेक्षा की उत्पत्ति नियम अनुकरण से ही हो सकी थी। स्मृति-युगीन भव्य, विधि योजना का विकास नियमानुकरण की देन रहा है।

हानिः— अप्रिय और अनिष्ट कर्ता के साथ अप्रिय व अनिष्ट कृत्य करने की अनुमति ने परस्पर विघटन व विनाश को विकसित कर मानव को अशान्त किया था।[२] शूद्र व दुष्टकर्मकर्ता को वेदाध्ययन[३] से वंचितकर जहां एक ओर धर्म की कठोरता का प्रतिपादन हुआ, वहीं इन नियमों ने समाज के भविष्य को अनिष्टकारी बना दिया था। मानव को गतिशीलता से वंचित कर कूपमंडूक बनाया था। यदि शूद्र व दुष्ट को वेदाध्ययन कराया जाता तो सम्भव था वे शिष्ट व आचरणयुक्त बन सकते, उनके आचार-विचारों में परिवर्तन होता, तथा वे एक सुनागरिक की भांतिजीवन यापन करने में सफल हो सकते। फलतः नियमों की कठोरता ने मानव को मानव से दूर कर विघटन की रेखा खींच दी थी। प्रायश्चित विधान ने गुप्त अपराधों को विकसित किया था।

(ग) संविधान

परिभाषा

विधि का क्रमबद्ध संकलित स्वरूप संविधान कहलाता था। देशाचार, लोकाचार की लिखित क्रमयोजना संविधान की संज्ञा से अभिहित होती थी। जीवन को ऐहिक व पारलौकिक, व्यक्तिगत व सामुहिक क्षेत्र में, समाज व प्रशासन में, सुखमय बनाने वाले नियमों का संकलन संविधान के रूप में मान्यता प्राप्त था। विभिन्न नियमों व उपनियमों का क्रमबद्धसंकलन विधिशास्त्र या संविधान हो होता था। पाप, अपराध, अकृत्य, अनाचार, विघटन को नियन्त्रित करने वाले नियमों का संग्रह विधिशास्त्र (संविधान) था।

संविधान की आवश्यकता

विभिन्न प्रकार के नियमों के संकलनार्थ संविधान की आवश्यकता होती थी। समय-समय पर सृजित, संशोधित नियमों-उपनियमों को संविधान परम्परा

---

१ अथर्व. ३.३०.१-७

२ अथर्व. १२.१.३४

३ आप.ध.सू. १.१.१

के द्वारा सुरक्षित रखा जाता था। सत्य धर्म के लोककल्याण कारी नियमों को वृद्धित करने हेतु संविधान का अवलंब स्मृतिकालीन विधि शास्त्रियों ने लिया था।[१]

सम्पूर्ण विधि साधनों को संविधान की माला में पिरोकर अनिवार्यरूप में व्यवस्थित रखा जाता था।[२] देश, ग्राम, जाति, कुल एवं संघ का धर्म, दायभाग, व्यवहार, चरित्र स्वरूप, देश-राजनीति के सभी वादों को लिखने हेतु संविधान को अनिवार्य एवं उपयोगी माना गया[३] था।

संविधान का स्वरूप

संविधान का स्वरूप लिखित होता था। वर्णाश्रम व्यवस्था, पाप अपराध वर्गीकरण, प्रायश्चित विधान, दण्ड का परिमाण व प्रकार, न्यायविधि, दायभाग, उत्तराधिकार विधि, सामान्य उपयोगी नियमों का संकलन पृथक-पृथक् क्रमबद्ध होता था। स्मृतियुगीन विभिन्न स्मृतियों, तत्कालीन संविधान के पुष्ट प्रमाण व उदाहरण हैं।

विभिन्न युगों में लिखी गई ये स्मृतियां कुछ गद्य में कुछ पद्य में व कुछ गद्य-पद्य दोनों में मिलती है। स्मृतिकारों ने व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त की स्थिति का वैज्ञानिक विश्लेषण व विभाजन अपनी स्मृतियों में किया है। धर्म का प्रतिपादन जीवन के आधार के रूप में कर, मानव के व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, क्षेत्रीय व देशीय जीवन को परिष्कृत करने हेतु विभिन्न व्यवस्थामें नियोजित की गई। आश्रम-व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, खाद्य-अखाद्य, कृत्य-अकृत्य, स्त्रीधर्म-पुरुषधर्म, राजधर्म, न्यायव्यवस्था, विभिन्न प्रकार के अभियोग, दण्डविधान, प्रायश्चित विवरण, कर्मो के शुभ-अशुभ फल, अन्य सामान्य नियमों को विस्तार के साथ स्मृतिकारों ने अपनी स्मृतियों में समायोजित किया है। संविधान के रूप में स्मृतियों में गौतमस्मृति, बौधायनस्मृति, आपस्तम्बस्मृति एवं मनुस्मृति अपने में अति प्राचीन है। ईसा से कई-सौ वर्ष पूर्व इनका रचना-काल रहा है। याज्ञवल्क्य-स्मृति, नारदस्मृति, पराशरस्मृति का निर्माण ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास हुआ था। शेष स्मृतियां प्रथम शताब्दी के बाद से लेकर चार-सौ ईस्वी तक तथा कुछ एक हजार ईसवीं तक लिखि गई हैं।

स्मृतिकारों ने अपनी स्मृतियां के प्रथम अध्यायों में ऐसे नियम, उपनियम, संस्कारों को प्रतिपादित किया है जिससे आपराधिक प्रवृत्ति जन्म ही न ले सके। मानव को मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र व शुद्ध करने के निमित्त धार्मिक धरातल पर चलने के लिये अनुबंधित किया। जाने अनजाने में हुए अपराधों को भली प्रकार

---

१ अथर्व २.६.१; १२.३.१

२ बृह.द.उप. ४.४

३ देशग्राम जातिकुलसंघातानाम् धर्मव्यवहारचरित्रसंस्थानं॥ अर्थशा. २७

मानवजीवन का सम्पूर्ण शोधन स्मृतिकारों ने करने हेतु विशाल व भव्य रूप में स्मृतिरूपी संविधान को निर्मित कर मानव कल्याण निमित्त आवश्यक समझकर संविधान रूप में राज शासन को अर्पित किया था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्मृतियों अपने में तत्कालीन संविधान रही हैं। इनके ही द्वारा मानव जीवन के विभिन्न पदों को नियन्त्रित व अनुशासित किया गया था।

कुछ स्मृतियों केवल आचार-विचार, प्रायश्चित आदि की ही व्यवस्था कर मौन हो गई हैं। उन्होंने राजधर्म को छुआ तक नहीं है। इसका कारण भी यही रहा है कि यदि मानव आचार-विचार से सशक्त व पवित्र होगा, तो अपराध करेगा नहीं। निष्पाप जीवन अपने में पवित्र व देवाताओं का जीवन होता है। फलतः इन स्मृतिकारों ने आचार-विचार पर अपनी बौद्धिक शक्ति केन्द्रित की थीं। जिससे स्मृतिकालीन मानव मन से शुद्ध व पवित्र हो कर पाप रहित बनने में सफल व सक्षम हो सका था।

आलोच्य काल के महत्वपूर्ण संवैधानिक ग्रंथों का विवरण

स्मृति काल में रची गई स्मृतियां अपने युग में प्रामाणिक संविधान रही हैं। संविधान के रूप में प्रमुख स्मृतियों की स्थिति निम्नरूप में अवलोकनीय है

१. मनुस्मृति

मनुस्मृति का स्थान स्मृतियों में शीर्ष स्थान पर रहा है। यह सर्वप्राचीन स्मृति होने के कारण विशेष सम्मान व महत्व प्राप्त करती रही है। इसके रचयिता मनु हैं। मनु. का अस्तित्व व उनकी प्रामाणिकता वैदिककाल से सिद्ध है। ऋग्वेद में मनु का उल्लेख अनेक बार हुआ है।[१] मनु को मानव जाति का पिता कहा गया है।[२] ऋग्वेद के आठवें मण्डल के २७ से ३१ तक के सूक्तों के रचयिता वैवस्वतमनु ही है।[३] इसके अतिरिक्त अनेक धार्मिक व ऐतिहासिक ग्रन्थों में मनु का उल्लेख हुआ है।[४] इसी कारण मनु द्वारा विचरित मनुस्मृति को मानव सभ्यता की सर्वप्रथम विधि पुस्तक माना जाता है।

---

१ ऋग्. १.११४.२; १८०४.२; २.३३.१३; १०.६३.७

२ ऋग्. १८०.१६; १.।१४.२; २.२२.१३

३ ऋग्. मण्डल ८, सूक्त २७ से ३१ तक के सम्पूर्ण मन्त्र।

४ महा.शा.पर्व २१.१२; ५७.४३; ५८८०-८५; मनु. १.३२-३३; ५८

मानव पिता मनु ने अपने मानव समाज को मर्यादित, नियमित रखने हेतु जिन नियमों को बनाया, वे नियम मनुस्मृति के रूप में ख्याति प्राप्त कर सके। वर्तमान कालीन मनुस्मृति का मूलाधार आदि मनु ही हैं। मनु के नियमों ने आदिकाल से मानव जाति का मार्गदर्शन किया, कर रहे हैं और करते रहेंगे।

वर्तमान मनुस्मृति बारह अध्यायों में विभक्त है। कुल २६९४ (दो हजार छः सौ चोरानव्वे) श्लोकों ने स्मृति के कलेवर का निर्माण किया है। यह धाराप्रवाह शैली एवं परिमार्जित भाषा में लिखी हुई है। सातवें व आठवें अध्याय में राज्यशासन, दण्डविधान, साक्षी का वर्णन विस्तार के साथ दिया है।

मनुस्मृति को प्रामाणिक व आधार मानकर नूतन समयोपयोगी नियमों की रचना इतरवर्ती स्मृतिकारों ने की है।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति

मनुस्मृति के पश्चात् याज्ञवल्क्य स्मृति का विशिष्ट स्थान है। इसका रचनाकाल प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी तक माना जाता है। महर्षि याज्ञवल्क्य, जो अपने में धर्मशास्त्री, विचारक, वेदज्ञ, विधिशास्त्री आदि के साथ अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे इस स्मृति के रचयिता रहे हैं। विभिन्न प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में इसकी प्रामाणिकता सन्निहित है।[१]

याज्ञवल्क्य स्मृति के तीन अध्याय है — आचाराध्याय, व्यवहाराध्याय एवं प्रायश्चित्ताध्याय। व्यवहाराध्याय राजधर्म से पूर्ण है। अपराधों का विवरण, दण्डविधि, न्यायविधि, साक्ष्यविधि का समायोजन इसमें विद्यमान है। यह स्मृति सुसंगठित व संक्षिप्त है। इसमें १००९ (एक-हजार नौ) श्लोक विद्यमान हैं।

याज्ञवल्क्य मौलिक विचारक एवं विधिवेत्ता थे। उन्होने अपनी स्मृति में बीस धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया है। परन्तु पूर्ववर्ती आचार्यों का पुष्टपेषण नहीं किया है। अपितु देश, एवम् परिस्थितियों की परिवर्तित मान्यताओं के अनुसार उपयोगी व नूतन मान्यताओं की स्थापना की है।

३. गौतम स्मृति

गौतम स्मृति के रचयिता महर्षि गौतम रहे हैं। यह अपने में संक्षिप्त व मौलिक स्मृति है। इनमें छोटे-छोटे १३ अध्याय हैं। इसके ८ वें अध्याय में राजधर्म वर्णन है। स्मृति संस्कृत गद्य में लिखी है।

---

१ महा शा.पर्व ३.१२; बृह.उप. २.४.८-५; ३.१.१-२; याज्ञ. ३.११०

४. बौधायन स्मृति

बौधायन स्मृति महर्षि बौधायन की कृति है । गद्य में लिखी गई है । इसकी शैली सूत्रप्रधान है । विवाहप्रकार, पुत्रप्रकार, प्रायश्चितविधि के अन्य वर्णाश्रम व्यवस्था के नियम इसमें विद्यमान हैं ।

५. आपस्तम्ब स्मृति

आमस्तम्ब स्मृति, आपस्तम्ब ऋषि द्वारा लिखी गई है । इसमें १० अध्याय तथा १८७ श्लोक हैं । यह संस्कृत में पद्यरचना है । इसमें भी वर्णाश्रम नियम एवं प्रायश्चित्त पर विस्तार से लिखा गया है ।

६. नारद स्मृति

यह स्मृति, स्मृतिकालीन विधि की परिधि में महत्वपूर्ण संवैधानिक रचना है । यह अट्ठारह प्रकरणों में विभक्त है । प्रथम तीन अध्याय न्याय संबंधी प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं । बाद के अध्यायों में तत्कालीन प्रचलित व्यवहरों का निरूपण हुआ है । यह स्मृति मनुस्मृति का अनुशरण है । सम्भवतः याज्ञवल्क्य के बाद की रचना है ।

७. पराशर स्मृति

पराशर द्वारा लिखित यह स्मृति जीवन एवं राष्ट्रोपयोगी सामान्य नियमों का लेखाजोखा है । युद्ध संबंधी विषयों पर स्मृतिकार ने विशद रूप में लिखा है । कृषि कार्य की ओर स्मृतिकार का विशेष झुकाव रहा है । वर्तमान युग के अत्यधिक निकट यह स्मृति है । इसमें ३२४ श्लोक हैं । छः प्रकरणों में विभक्त यह पद्य रचना है ।

८. अत्रिस्मृति

धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था के निमित्त लिखी गई यह स्मृति आकार में लघु व संक्षिप्त है । पद्यबद्ध रचना है । ३८६ श्लोक हैं । चार प्रकरणों में विभक्त है । सामान्य आचार-विचार, पश्चात्ताप दानपुण्य उपयोगिता पर विस्तार से लिखा है ।

९. विष्णुस्मृति

पद्य व गद्य मिश्रित यह स्मृति है । इसमें ३५ शीर्षकों का उल्लेख हुआ है । सामान्य जीवन से लेकर न्याय पर विस्तार पूर्वक लिखा गया है । राजधर्म,

शिष्टाचार एवं नरकों का मनोवैज्ञानिक विवरण इस स्मृति में उपलब्ध है। मानव-विकास व न्याय के धरातल पर यह महत्वपूर्ण रचना है।

१०. व्यास स्मृति

यह स्मृति अति संक्षिप्त है। इसमें चार अध्याय व १९४ श्लोक हैं। यह पद्यबद्ध रचना है। सोलह संस्कार, विवाह, गृहस्य धर्म आदि की व्यवस्था इसमें सन्निहित है।

११. वसिष्ठ स्मृति

ग्यारह शीर्षकों में विभक्त यह पद्यबद्ध रचना है। इसमें ३७७ श्लोक विद्यमान हैं। धर्मविचार, राजधर्मविचार, आश्रम-वर्णविचार पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है। संवैधानिक दृष्टि से यह भी महत्त्वपूर्ण स्मृति है।श्लोक ३२५ से लेकर ३५६ तक न्यायविधि पर पर्याप्त रूप से लिखा गया है।

१२. औशनस स्मृति

तीन प्रकरणों में विभक्त यह पद्यबद्ध रचना है। इसमें २४७ श्लोक हैं। ब्रह्मचर्य नियम, धार्मिक कृत्य एवं व्याहरिक व्यवस्था का चित्रण इसमें विद्यमान है।

१३. कात्यायन स्मृति

२९ अध्यायों में विभक्त है। यह भी ४७९ श्लोकों में लिपिबद्ध पद्य रचना है। धार्मिक कृत्य, विवाह, पाप व प्रायश्चित का विस्तार से उल्लेख उपलब्ध है। स्त्री अधिकारों का समर्थन कात्याययन ने पूर्ण शक्ति के साथ किया है।

कात्यायन निबन्धकार के रूप में विशेष ख्यातिप्राप्त् धर्मशास्त्रकार हैं। यत्रतत्र लगभग नौ-सौ श्लोक कात्यायन द्वारा रचित मिलते हैं। (स्मृति चं)। विधि रचना की परिधि में कात्यायन की व्यवस्था वे जोड़ व प्रामाणिक रही है।

१४. दक्षस्मृति

यह सात अध्यायों में विभक्त है। इसमें २०८ श्लोक लिपिबद्ध पद्यमय है। आश्रम, वर्ण व्यवस्था, गृहस्थाश्रम धर्मव्यवस्था, एवं व्यावहारिक विधि पर दक्ष ने विस्तारपूर्वक लिखा है। शुद्धता एवं नारी महत्त्व पर दक्ष ने विशेष व्यवस्था दी है। अनुशासित विधि की दृष्टि से दक्षस्मृति महत्वपूर्ण है।

१५. शंखस्मृति

यह चौदह अध्यायों में विभक्त है। २४५ श्लोकों में रचित पद्यबद्ध रचना है। ब्राह्मणकर्म, ब्रह्मचर्यवर्णन, विवाह वर्णन, पापशोधन, स्नान व अन्य सामाजिक कृत्यों का विधान स्पष्टरूप में अंकित है। श्राद्धविधि व तप-जपविधि आदि धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था भी दी गई है। स्मृतिकार गायत्री मन्त्र से विशेष प्रभावित है।

१६. शातातयस्मृति

यह पांच अध्यायों में विभक्त है। इसमें १८९ श्लोक हैं। सम्पूर्ण रचना पद्यबद्ध है। प्रायश्चित विधान तथा अनुचित व्यवहारफल व रोग निवारण पर विस्तार पूर्वक लिखा है। रोगों का भय दिखाकर स्मृतिकार ने मानव को पापों से सावधान किया है। असाध्यरोग इस या पूर्वजन्म के पापों के फल है। ऐसा शातातय का मत रहा है। विभिन्न प्रकार के अकृत्यों का परिणाम विभिन्न प्रकार की व्याधियां हैं। इस सम्बन्ध में स्मृति नूतन सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं।

१७. हारीत स्मृति

सात अध्यायों में विभक्त है। १९२ श्लोंकों में लिखी पद्यबद्ध रचना है। इस में हारीत ने वर्णधर्म, आश्रमधर्म व्यवस्था तथा रोग धर्म का उल्लेख किया है। संक्षिप्त होते हुए भी सुनियोजित स्मृति है। पग पग पर पापों के प्रति सावधान करना स्मृतिकार का लक्ष्य रहा है।

१८. सम्वर्त स्मृति

दो-सौ श्लोकों में लिखी पद्यबद्ध रचना है। इसमें प्रकरण-विभाजन नहीं है। दानमहत्व, सुरा-निन्दा, एवं विभिन्न पापों पर व्यवस्था दी है। यह स्मृतिकार भी गायत्री के प्रति आस्थाववान् रहे हैं। गायत्री पूजा को अभीष्ट फलदात्री माना है।

१९. बृहस्पति स्मृति

इक्यासी श्लोकों में लिखी गई अतीव संक्षिप्त पद्यबद्ध रचना है। केवल एक ही अध्याय है। दान महत्व तथा कृषि पर विशेष प्रकार से लिखा गया है। अहिंसा की उपयोगिता पर पूर्ण प्रकाश ड़ाला है। जीवन के सामान्य व्यवहार को छूने का प्रयास किया गया है। इसकी पद्धति मनु व नारद के अनुरूप है। यह प्रथम स्मृतिकार हैं। जिसने धनसंबंधी व्यवहारों को १४ शीर्षकों में तथा हिंसा व्यवहारों को चार पदों में विभाजित किया है।

२०. यमस्मृति

निन्यानवे श्लोकों में लिखी गई यह पद्यमय रचना है। स्मृतिकार ने विभिन्न पापों व अपराधों को प्रायश्चित्त के धरातल पर शोधित किया है। विभिन्न प्रकार के प्रायश्चितों का उल्लेख स्मृति में विद्यमान है।

२१. आंगिरसस्मृति

बहत्तर श्लोकों में रचित पद्यबद्ध रचना है। प्रायश्चितविधान का उल्लेख स्मृतिकार ने किया है।

२२. लिखित स्मृति

छियान्नवे श्लोकों में लिखी गई पद्यबद्ध रचना श्राद्धादि का विशेष प्रकार से उल्लेख निहित है।

२३. लघ्वाश्वलायन स्मृति

नौ-प्रकरणों में विभक्त है। इसमें १७६ श्लोक हैं। यह भी पद्यबद्ध रचना है। संस्कार, भोजनविधि, नारीप्रकार, विवाह प्रकार, प्रायश्चित, पुत्र प्रकार, आश्रम-महत्ता, एवं अन्य सामान्य कृत्यों के निमित्त विधि रचना स्मृतिकार ने की है।

२४. पुलस्त्यस्मृति

सत्ताईस श्लोकों से युक्त पद्यबद्ध रचना है। इसमें वर्ण व आश्रम व्यवस्था का विवेचन हुआ है।

२५. देवल स्मृति

संक्षिप्त पद्यबद्ध रचना है। इसमें धार्मिक नियमों की व्यवस्था का प्रतिपादन हुआ है।

२६. मार्कण्डेय स्मृति

यह स्मृति पद्यबद्ध है। लघ्वाश्वलायण स्मृति की पद्धति पर लिखी गई स्मृति है। नारी एवं पुत्र व्यवस्था पर इसकी मान्यायें कुछ नवीन हैं। लोकाचार पद्धति पर स्मृतिकार का दृष्टिकोण नूतन रहा है।

२७. कश्यप स्मृति

महर्षि कश्यप द्वारा लिखित लोकाचार व्यवस्था की अद्भूत कृति है ।

२८. बुध स्मृति

वर्णाश्रम व्यवस्था, लोकाचार व्यवस्था पर लिखी गई महत्वपूर्ण स्मृति हैं । ये अपने में छोटी है, परन्तु मान्यता प्राप्त धर्मशास्त्राकारों की रचना होने के कारण प्रमाणिक रही है ।

२९. अंगिरा स्मृति

बहात्तर श्लोकों मे युक्त रचना है । प्रायश्चित्त एवं स्तेय पर महर्षि अंगिरा ने विस्तार से लिखा है ।

३०. पितामह स्मृति

व्यवहार संबंधी विवरण से युक्त है ।

३१. प्रचेता स्मृति

शौच-अशौच संबंधी विवरण समाविष्ट है ।

३२. ऋष्यशृंगस्मृति

अप्राप्य है । शौच-अशौच संबंधी रचना ।

३३. प्रजापति स्मृति

शौच-अशौच प्रायश्चितवर्णन का उल्लेख है ।

३४. मरीचिस्मृति

अशौच, प्रायश्चित्त व व्यवहार पर लिखा गया है

३५. लौगाक्षिस्मृति

यह गद्यमय है । अशौच-प्रायश्चित पर लिखी गई है ।

३६. विश्वामित्रस्मृति

महापातक विषय पर विस्तारपूर्वक व्यवस्था दी है ।

सामाजिक, आर्थिक तथार राजनैतिक परिस्थितियों के कारण धर्मशास्त्रों में परिवर्तन होते रहे थे । क्योंकि समाज अपने में जड़ पदार्थ नहीं है । उसको निरन्तर विकास, के साथ-साथ संवैधानिक ग्रन्थों के रूप में विभिन्न स्मृतियों की रचना होती रही है । प्रत्येक स्मृतिकार ने अपने युग की मूल समस्याओं का निर्धारण अपनी स्मृति में किया है । लोकोपकारी अनेक विधिविधानों को लिखित रूप में प्रस्तुत कर, जनमान्यता की मोहर लगवाई थी । परन्तु स्मृतिकार का लक्ष्य समाज-व्यवस्था को व्यवस्थित व अनुशासित बनाना था । स्मृतिकारों, विचारकों एवं विधिशास्त्रों में दूराग्रह या पूर्वाग्रह जैसी दूषित प्रवृत्तियां समाविष्ट नहीं थी । प्रत्येक स्मृतिकार ने अपने युग की प्रवृत्ति एवम् आवश्यकता को समझ कर ऐसे न्यायोचित मार्ग का निर्धारण किया था जो पूर्व स्मृतिकारों द्वारा स्थापित मर्यादा का अतिक्रमण भी न रक सके तथा भविष्य के लिए उपेक्षित भी न बन जाये । प्रत्येक स्मृतिकार, युग सन्धिकार रहा है । उन्होंने अपने युग की चित्रपटी पर प्राचीनविधि प्रणालियों को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है । सभी स्मृतिकार आदि मनु से प्रभावित हैं । इसीलिए मनुस्मृति की मान्यता सर्वोपरि है ।

स्मृतियों में विषय की दृष्टि से भी काफी भिन्नता है । आजकल के संविधानों की तरह इनकी रचना नहीं हुई है । सभी स्मृतिकारों ने सभी विषयों का प्रतिपादन नहीं किया है । कुछ स्मृतिकारों ने राजधर्म को बिल्कुल छोड़ दिया है । प्रश्न उठ सकता है क्या ये स्मृतियां संवैधानिक ग्रन्थ है ?

सभी स्मृतियां ने मानव को भय-प्रेम-शिक्षा-दण्ड के द्वारा व्यवस्थित करने का लक्ष्य रखा था । जिन स्मृतिकारों ने राजधर्म प्रकरण नहीं लिखा वे मानव को सदाचार से व्यवस्थित करने के पक्षपाती थे । दूसरे उन्होंने अपने पूर्व रचित सभी धर्मशास्त्राग्रन्थों को प्रमाणिक माना था । फलतः प्रत्यक्ष या परोक्ष, किसी न किसी रूप में स्मृतिकार संविधानीय प्रवृत्ति से प्रभावित हो गये थे । अतएव उनके द्वारा रचित सभी स्मृतियां तत्कालीन संविधान रहें हैं । एक स्मृति के कथन के अभाव की पूर्ति पूर्ववर्ता स्मृति करती रही थी । यह क्रम मनु तक लौट जाता है । मनुस्मृति अपने में पूर्ण स्मृति है । इसके स्मृतिकार ने जीवन के विभिन्न पक्षों को मोती की माला के समान व्यवस्थित करने हेतु विधि-रचना की थी ।

स्मृतिकार मानव की मूल भावना को निष्पाप बनाना चाहते थे । इसी से प्रभावित होकर उन्होंने अपनी स्मृतियों में राजघर्म के अतिरिक्त जीवन के विभिन्न पक्षों को नियन्त्रित करने की व्यवस्था की थी । अतएव स्मृतियों में वर्णित सभी विषय विधि के सहचरी विषय रहे हैं ।

अर्थशास्त्र

संवेधानिक दृष्टि से रची गई यह अभूतपूर्व व कल्पनातीत रचना है । यह ग्रन्थ १५ अधिकरणों में विभक्त है । पन्द्रह अधिकरणों में १५० अध्याय हैं । तीसरे

और चौथे प्रकरण में राजधर्म का विशुद्ध विवरण लिखा गया है । अपराध की विभिन्न अपराधिक दशायें, अर्थशास्त्र के रचयिता कोटिल्य से बच नहीं सकी हैं ।

इस प्रकार स्मृतिकालीन संवैधानिक ग्रन्थों को सूची अपने में विस्तृत है । यह विधि-ग्रन्थ न्यायिक धरातल पर मानव एवं राजशासन को सुपथ के प्रति कर्तव्य बोध करते रहे हैं ।विधिशास्त्री मनु, नारद, याज्ञावल्क्य, कात्यायन, बृहस्पति की विधि-योजना अद्वितीय रही है । स्मृतियुग का आज भी हमारे जीवन में यथार्थवादी प्रभाव व्याप्त है । हम स्मृतियों के उद्धरण देकर आज भी अपने को व्यवस्थित करने में अपना गौरव समझते हैं ।

निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि स्मृतियां संवैधानिकग्रंथ के रूप में मान्यता प्राप्त करती रही थीं ।

न्यायिक प्रक्रिया

न्यायिक प्रक्रिया का निर्धारण मुख्य न्यायाधीश के द्वारा किया जाता था। दुष्टों का अपराध अभियोग परीक्षण से ही प्रमाणितहो सकता था।[1] अपराधी या निर्दोषी का निर्धारण न्यायिक प्रक्रिया की परिधि में हो सकता था। बिना अपराध सिद्ध किये हुए दण्ड का कोई औचित्य नहीं था। दुष्टों का पूर्ण रुपेण दमन, धर्म और नीति की वृद्धि हेतु न्याय विधि का अवलम्ब अपेक्षित रहा था।[2] अभियोगों को शीघ्रतम निर्णीत करने के उद्देश्य से स्त्री और पुरुषों के निमित्त पृथक् पृथक् क्रमशः स्त्री न्यायाधीश व पुरुष न्यायाधीश न्यायिक प्रक्रिया अपनाते थे। क्योंकि ऐसा समझा जाता था कि स्त्रियां भय व लज्जावश पुरुषों के सामने यथावत् नहीं बोल सकती थीं और नहीं पढ़ सकती थीं।[3]

शास्त्रीय मर्यादाओं का अतिक्रमण न हो सके, बार-बार अपराध करने की प्रवृत्ति को रोका जा सके, विधि की उपयोगिता एवं अनिवार्यता स्थिर रह सके, इस हेतु न्यायिक व्यवहार को अनिवार्य एवं श्रेष्ठ माना जाता था।[4] विशुद्ध न्याय व्यवस्था पर ही राज्य की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है। अतएव न्यायाधीश के आसन पर बैठा हुआ नृप वादी-प्रतिवादी के कथनों को सजगता के साथ सर्वअर्थदर्शी विद्वान् पुरुषों की उपस्थिति में सुनता था।[5] परन्तु अति गुणवान् पुरुष के अपराध का अत्याधिक परीक्षण नहीं होता था।[6]

नियमादि अभाव या विशिष्ट परिस्थतियों में दस विवेकशील निर्लोभी ब्राह्मणों को न्यायपरिषद् न्यायप्रक्रिया को देखती थी। इस विद्वान परिषद् की संख्या व व्यवस्था निम्न होती थी।[7]

१. चार वेदों के पूर्ण ज्ञानी — ४

---

१ ऋग्वेद ८.६७.२१; यजु. १.५; कादम्बरी पूर्वभाग, राजसभा वर्णन

२ ऋग्वेद १.२७८; १.३१.११; यजु. १.२६, २९; गौ.ध. सू. ३.५.१६

३ यजु. १०.२६, २७

४ महा.वनपर्व ३१.५; उ.पर्व ३५.४९, ६१, (व्यवहारेण साधुः)

५ श्रोतुं चैव न्यसेद राजा प्राज्ञान सर्वार्थदर्शिनः। व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्॥ महा.श.पर्व ६९.२८; यजु. ३८.४५

६ वि.पुराण चतुर्थंक अ. १३, श्लोक १२९; महानारदकश्यप जातक ५४

७ चत्वारश्चर्तुणां पारगांवेदनांप्रागुत्तमात्त्रय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरापरिपदित्याचक्षते। गौ.ध.सू.३.१०.४७; परा.स्मृ.धर्माचरवर्णम - १७७; बौ.स्मृ. ७-९; शिष्ठ. धर्मवर्णनम्।

२. ब्रह्मचारी	—	१
३. गृहस्थ	—	१
४. भिक्षु	—	१
५. धर्मशाज्ञ	—	३
योग	—	१०

इस परिषद का आदेश पाप व अपराध को समाप्त कर देता था। परिषद के अभाव में सम्पूर्ण वेदों व धर्मशास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्मण अकेला भी न्यायाधीश के रूप में न्याय करने हेतु अधिकृत माना जाता था।[1]

न्यायिक प्रक्रिया 'न्य' और 'अनय' को घोषणा करती थी। इसीलिए धर्म, व्यवहार, चरित्र और शासन को व्यवहार सम्पादन के चार-चरण माना जाता था। धर्म का आधार सत्य, व्यवहार का आधार साक्षी, चरित्र का आधार पुरुष के कार्यो का संग्रह तथा शासन का आधार राजाज्ञा पर अवलम्बित होता था। चारों आश्रमों की रक्षा के कारण न्याय (व्यवहार) को चतुर्हित, अभियोक्ता-साक्षी-सभा सद-और नृप, में स्थित होने के कारण न्याय को चतुर्व्यापी कहा गया था। धर्म-अर्थ-यश तथा लोकप्रियता के कारण व्यवहार को चतुष्कारी-की संज्ञा प्राप्त थी। राजपुरुष-सभासद-शास्त्र-गणक-लेखक-सुवर्ण-अग्नि और जल को व्यवहार प्रक्रिया का अंग मानने के कारण, न्यायिकप्रक्रिया को अष्टांग कहते थे।[2]

जिन विषयों से सम्बन्ध विवाद मे होने पर हानि होने की संभावना बराबर बनी रहती थी वे व्यवहार तथा गाय-बैल-स्त्री विवाह, हत्या डकैती, चोरी, वाक्पा-रुषय, दण्डपारुषय, दूध देने वाली गाय का अपहरण, पातक, प्राणघात, स्त्रीसंग्रहण, धनातिपात से सम्बन्धित अभियोग अविलम्ब निर्णीत होते थे। अन्य विवाद वादी प्रतिवादी, सभासद की इच्छानुरुप सुने जाते थे। परन्तु मिथ्याभियोग चलाने वाले को अपराध के दूने दण्ड से दण्डित अवश्य किया जाता[3] था

धन अपहरणकर्ता राजकर्मचारी के अपराध का परीक्षण निम्न सात सदस्यों की सीमित के द्वारा होता था। १. अपराधी कर्मचारी के ऊपर का अधिकारी, २.

---

१ असंभ्वेत्वेतेषां श्रोत्रियोवेदविच्छिष्टो विप्रतिपत्तो यदाह ॥ गौ.ध.सू. ३.१०.४८; मनु. ८.११; कादम्बरीपूर्वभाग, राजसभावर्णन; बौ.स्मृ. १०; शिष्ट धर्मवर्णनम्।

२ अग्नि पुण अ. २५३, श्लोक १, - अत्र सत्येस्थितो धर्मोव्यवहारस्तुसक्षिषु। चरित्र संग्रहेपुंसांराज्ञामाज्ञातु शासनम् ॥३ ॥ अथर्व. अधि. ३ अ. १

३ अग्निपुराण अ. २५३ के अनुसार। कन्यायादूष्णेस्तेयेकल्पेसाहसेनिधौ। उपधैकौटसाक्ष्ये च सप्त एव विवादयेत् ॥ ९६; साहसस्तेयपारुष्येगोभिशापे तथात्यये। भूमौ विवादयेत् क्षिप्रमकालेपि बृहस्पतिः ॥ ९७; का.मतसंग्रह; गौ.ध.सू.२.४.२९, ३०; यज्ञ. २.१२

निधायक (राजधन रक्षक) ३. निबन्ध लेखक, ४. प्रतिग्रहिता (कर लेने वाला), ५. दायक (करदाता), दापक (कर आदि दिलाने वाला), ७. विभागीय मन्त्री । यह सप्त सदस्यीय समिति जांच समिति कहलाती थी । इस समिति का गठन कर समूचेदेश में यह घोषणा की जाती थी । कि अमूक अधिकारी या कर्मचारी के कार्यकलापों के परीक्षणार्थ समितिगेठित की गई है । आपत्ति वाले व्यक्ति समिति के सम्मुख उपस्थित होकर अपना कष्ट आवेदित करें । अपहरण या क्षति प्रमाणित होने पर, अपराधी अधिकारी या कर्मचारी को उसकी सम्पूर्ति करनी पड़ती थी । यदि अधिकारी पर अनेक अभियोग हैं और वे सब प्रमाणित हो जायें, तो प्रमाणित अपराधी के नाते, सभी अपराधों के प्रति उत्तरदायी होना पडता था । कुछ अपराध प्रामणित हो जावें, कुछ नहीं तो, ऐसी परिस्थिति में अधिकारी को सफाई देने का अवसर दिया जाता था ।[१] नृप बुद्धिमान मंत्री व विद्वान ब्राह्मण के साथ सामान्य वेशभूषा में न्यायालय में प्रविष्ट होता था ।[२] अर्थ व अनर्थ का प्रमाण लेकर, धर्म तथा अधर्म का ध्यान रख कर वर्ण क्रमानुसार सम्पूर्ण कार्य-अकार्य का व्यवहार अवलोकन किया जाता था ।[३] मानव के स्वर-वर्ण-रूप-रंग-आकार-नेत्र-चेष्टा आदि बाह्य चिह्नों के आधार पर मानव हृदय को व्यथा व हर्ष की समझ लिया जाता था ।[४]

मत्त-उन्मत्त-रोगी-प्रियजन की मृत्यु से विपत्तिग्रस्त-बालक, शत्रु से भय-भीत एवं त्रस्त व्यक्ति पर अभियोग नहीं चल सकता था ।[५] न्यायिक आदेश लिखित होते थे । और उन पर राजमुद्रा लगी होती थी[६] । गुण-दोष परीक्षण, निषपापी हृदय से पक्षपात रहित भाव से किया जाता थ्था ।[७] यह पवित्र भाव यज्ञ सदृश पवित्र होता था ।[८]

एक साथ अनेक आवेदन उपस्थित होने पर, अभियोग की गुरुता के क्रम से अभियोगों को विचार-विमर्श हेतु स्वीकार किया जाता था ।[९] वर्णक्रम की दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का क्रम क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ होता था ।[१०] । दूसरे मन्दिर या मूर्ति, सन्यासी , वेदज्ञ, ब्राह्मण, पशु, तीर्थस्थान, अल्पव-

---

१ अर्थ. २८

२ मनु. ८.१; का.मतसंग्रह ३८; याज्ञ. २.१

३ अर्थानर्थावुभौबुद्ध्वा धर्माधर्मौचकेवलो । वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम् ॥ मनु. ८.२४

४ मनु. ८.२५; २६

५ याज्ञ. २.३२

६ लिखिता तु सदा धार्यामुद्रिता राजमुद्रया । कात्या.मतस्त्रग्रह ३८

७ अत्रिस्मृ. २६; यजु. ९.१

८ भूरिदत्त जातक ५४३

९ कात्यायन - १२२

१० मनु. ८.२४

यस्क, वृद्ध, रोगग्रस्त, विपत्तिग्रस्त एवं नारी अभियोग में प्रत्येक वाद से पूर्व को प्राथमिकता मिलती थी ।[1]

प्रत्येक अभियोग की — १. पाद (वादी), २. उत्तरपक्ष (प्रतिवादी), ३. क्रियापाद, ४. निणर्य — ये चार दशायें होती थीं ।[2]

आवेदक : वादी - अभियोगकर्ता

व्यथित पुरुष न्यायालय में उपस्थित होकर, लिखित रूप में अपनी व्यथा प्रस्तुत करता था । न्यायाधीश के पूछे जाने पर वह विवाद के रहस्य का उद्घाटन कर न्याय के प्रति सत्य की आकांक्ष करना अपना दायित्व भी मानता था[3] न्यायाधीश् आवेदक के आवेदन पर विचार करने हेतु न्यायिक परीक्षण की प्रक्रिया की ओर अग्रसर होता था । न्यायाधीश आवेदक से प्रशन करता था कि 'क्या कार्य है ?' 'तुम्हें किस प्रकार पीड़ित किया है ?' 'बोलो किसने कब क्यों पीड़ा दी ? वादी का सम्पूर्ण कथन लिखा जाता था ।प्रयुत्तर पर न्यायधीश विचार कर प्रतिवादी लिखित आदेश देकर न्यायालय में उपस्थित होने का आदेश देता है ।

धर्मशास्त्र और समयाचार के विरुद्ध मार्ग से तापित व्यक्ति न्यायालय मे उपस्थित होकर जब अपना आवेदन प्रस्तुत करता था । तो, उस स्थिति को व्यवहार या पद कहते थे । आवेदन प्रस्तुत कर्ता को अभ्यर्थी या वादी कहते थे । आवेदन पत्र प्रस्तुत करने का दिन, तिथि, मास, पक्ष, वर्ष, गौत्र, नाम व जाति आदि पूर्ण विवरण, न्यायाधीश के आदेशनुसार, न्यायालय-लिपिक द्वारा अविलम्ब लिखा जाता था । सरकारी कर्मचारी इसमें किसी प्रकार की घटा-बढ़ी नहीं कर सकते थे ।[4]

वादी को अपने कथन में प्रमाण प्रस्तुत करने होते थे । आवेदन में जो कुछ कहा जाता था उसके विपरीत बोलना निषिद्ध था । आवेदनकी प्रमाणिकता व अप्रमाणिकता ही जय-पराजय का परिणाम[5] होती थी । अभियोक्ता, को अभियुक्त का उत्तर पाकर अपने पक्ष की वैधानिकता एवम् औचित्य को सिद्ध करने हेतु

---

१ अर्थ.शा. १.१९

२ याज्ञ. २.६, ८; मनु. ८.२४

३ ऋग्वेद ८.३५.१९, ३८.९, ७.४, - अस्माकं इत् सु शृणुहि ॥ ऋग्. ४.२२.१०; (हमारी प्रार्थनाओं को अच्छी तरह सुन); सिष्क्तु न ऊर्जव्येस्य पुष्टेः ॥ ऋग्. ५.४१.२०; (बल व पोष्णहेतु देव हमारी प्रार्थना सुने ।); ममहवं श्रुतं ॥ ऋग्. ५.७५.३; (मेरी पुकार सुनो); अर्थ.शा. ३.१; मनु. ८.४३, ३१२, ३१३, २३; काले कार्य्यार्थिनं पृच्छेत् प्रणतेंपुरतः स्थितम् । किं कार्य्यं का च ते पीडा मा भैषी ब्रूहिमानव ॥ का.मतसंग्रह ४५; का. १००; उद.स्मृ.चं. २; प्राड़विवाकमध्या भवेत् ॥ गौ.ध.सू. २.४.२७; नारद १.३६, ५३, २.१८ ।

४ अग्निपुराण अ. २५३.३२-३४; अर्थशा. ३.१; मनु. ८.४३; याज्ञ. २.६

५ अग्निपुराण अ. २५३ श्लोक ३६

प्रति-उत्तर अविलम्ब देना पड़ता था; क्योंकि अभियोक्ता अपना सम्पूर्ण कार्य सुनिश्चित करके अभियोग करता है। यदि वह प्रयुत्तर में विलम्ब करता था तो परोक्ष दोष का दोषी होने के कारण अभियोग हार जाता था। अभियोग मध्य भागकर अन्य चले जाने वाले वादी को दंडित किया जाता था।[१]

उत्तर पक्ष : प्रतिवादी - अभियुक्त

आवेदक के आवेदन पत्र को स्वीकार करने के पश्चात् न्यायधीश-प्रतिवादी को उत्तर देने हेतु अपना आदेश पत्र निर्गत करता था; प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित होते ही, वादी के आवेदनपत्र के उत्तर में अपना लिखित कथन देना अनिवार्य था। उत्तर देने की अवधि एकवर्ष तक हो सकती थी।[२] संवत्सरंप्रतीक्षेता प्रतिभायाम्॥ गौ.ध.सू. २.४.२८ परन्तु जिन अभियोगों में निर्णय अविलम्ब होता था, उनमें प्रतिवादी को उत्तर शीघ्रातिशीघ्र देने को बाध्य होना पड़ता था। उत्तर वादी की उपस्थिति में न्यायालय में ही दिया जाता था। इसमें अपराध की स्वीकृति या अस्वीकृति कुछ भी हो सकती थी।[३] अपराधी को अपना स्पष्टीकरण देने हेतु पर्याप्त समय दिया जाता था।

प्रतिवादी के कथन को न्यायालय पंजिका में लिखा जाता था। लिखते समय दिन-तिथि-पक्ष-मास-वर्ष-गौत्र-व्यवसाय एवं सम्पूर्ण पता अंकित करना आवश्यक था।[४] फिर अभियोग का परिक्षण प्रारंभ करने से पूर्व यह स्पष्ट किया जाता था। कि अभियुक्त पर कोई अन्यत्र अभियोग ता नहीं चल रहा है। यदि अभियोग चल रहा होता था तो दूसरा अभियोग प्रतिवादी पर तब तक नहीं चल सकता था जब तक वह प्रथम अभियो निर्णीत न हो जाये। परन्तु हिंसा कलह-साहस-व्यापार संबंधी मामालों में अभियोग चल सकता था।[५]

अभियुक्त अपना उत्तर दूसरे दिन से सात दिन तक दे सकता था। सात दिन की अवधि बीत जाने पर तीन पण से १२ पण तक प्रतिदिन की दर से अर्थदन्ड अभियुक्त को देना पड़ता था। डेढमाह (तीन पक्ष) तक उत्तर न देना अपराध होता था। इसी अपराध के कारण अभियुक्त अभियोग हार जाता था। उसकी सर्वसम्पत्ति कुर्क (छीन लेना) कर ली जाती थी। कुर्क सम्पत्ति हरजाने (क्षतिपूर्ति) के रूप में वादी (पूर्वपक्ष) को दे दी जाती थी। सम्पत्ति का हरण करते समय

---

१ अर्थशा. ३.१; याज्ञ. २.७८

२ अथर्व. २.२७.७; अग्निपुराण २५३; कात्यायन मतसं. ४८ से ५४. संवत्सर प्रतीक्षेताप्रतिभायाम्॥ गौ. धर्मसूत्र २.४.२८

३ छा.उप. ६.१६.२; याज्ञ. २.७

४ अग्निपु. अ. २५३; अर्थ. ३.१

५ अर्थशा. ३.१; अग्निपु. अ. २५३; याज्ञ. २.९

अभियुक्त का जीवनोपयोगी सामान (कुदाल, हल, वस्त्र, अन्न, रहने का मकान) छोड़ दिया जाता था।[1]

अभियोग के मध्य अन्यत्र भागकर जाने वाले अभियुक्त को दंडित[2] किया जाता था। प्रतिवादी के अभाव में प्रतिवादी से संबंधित उसकी स्त्री-पुत्र एवं अन्य उसके साथियों से विस्तारपूर्वक पूछा जाता[3] था। संदेह का लाभ प्रतिवादी को मिलता था।[4]

रोगी, अल्पवयस्त, वृद्ध, विपत्तिग्रस्त, धार्मिक-कृत्य में लीन, राजकर्मचारी, नशे में चूर, पागल, नौकर, उच्च कुलीन पुरुष या युवा नारी, कृषक, ग्वाला, सैनिक को प्रतिवादी के रूप में नहीं बुलाया जाता था। इनके स्थान पर इनके प्रतिनिधि उपस्थित होते थे। परन्तु गंभीर अपराध मे प्रतिवादी को स्वयं उपस्थित होना पडता था। महामारी, व दुर्भिक्ष शत्रुआक्रमण जैसी परिस्थिति में प्रतिवादी को बुलाने हेतु दो बार सूचना दी जाती थी। यदि प्रतिवादी न्यायालय में उपस्थित नहीं होता था तो उसे दण्डित किया जाता था। हत्या-स्तेय, बलात्कार जाली सिक्का बनाने वाले जैसे अपराधी को सुरक्षा पूर्वक न्यायालय में लाया जाता था। भ्रष्ट व जातिच्युत नारियों को भी न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता था।[5]

विशेष

१. वादी-प्रतिवादी के लघुव दीर्घ प्रश्न व उत्तर (भावों) को कागज़ पर लिखा जाता था। दोनों के कथनों को मिलाकर उनका न्यायिक परीक्षण किया जाता था। यदि वादी-प्रतिवादी में से किसी एक की उक्ति-प्रयुक्ति या पूर्वोत्तर अर्ध (भाव) में विरोध दिखाई देता था, या दोषारोपण का कारण उपस्थित हो जाये, या दोनों में से कोई एक, राजकीय अधिकारी के हाथ से छूट कर भाग जाता था जो न्याय की एक तरफा घोषणा न्यायाधीश कर देता था। भागने वाले को गुप्तचर अनुसंधान द्वारा ढूंढ़ा जाता था।[6]

२. असत्य भाषण करने, न्यायधीश के प्रश्न का उत्तर न देने, साक्षियों से पृथक्-पृथक् एकान्त में बात करने, अपने कथन पर स्थिर न रहने, न्यायाधीश द्वारा

---

१ अर्थशा. ३.१; कात्यायनमतसंग्रह ५९ से ६१ तक

२ अर्थशा. ३.१

३ याज्ञ. २.२८०, २८१

४ आ प.ध.सू. २.११.२

५ नारद २.१८; १.५३; का. १००-१०१; उद.स्मृ.चं. भाग - २

६ पूर्वोत्तरार्ध व्याघातेसाक्षिवक्त व्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः॥ अर्थ.शा. ३.१.१०; याज्ञ. २.१६; आ प.ध.सू. २.११.३

आदेश देने पर भी न बोलने, साक्षी प्रस्तुत न करने, प्रतिवादी के सम्मुख न बोलने के कारण वादी व प्रतिवादी को स्वयं पराजित मान लिया जाता था।[१]

३. प्रतिवादी द्वारा लगाये गये आरोपों को छिपाने पर, अभियोगमूल्य के बराबर दन्ड तथा असत्य अभियोग चलाने पर अभियोग के मूल्य का दुगुना दण्ड अपराधी पर लगता था।[२]

४. वाद-विवाद, वादी-प्रतिवादी के सम्मुख होता था।[३]

प्रतिज्ञा : शुल्क : वकील (अधिवक्ता)

प्रतिज्ञा : शपथ

न्यायालय में उपस्थित आवेदक एवं आवेदक साक्षी तथा उत्तर-पक्ष-प्रतिवादी-एवं उत्तर पक्ष साक्षियों से सर्वप्रथम, सत्य के उद्घाटनार्थ शपथ दिलाई जाती थी। अग्नि-जल-वायु तथा अन्य देवताओं एवं धर्मशास्त्रों को सम्बोधित कर, न्यायधीश के सम्मुख प्रतिज्ञा लेनी पड़ती थी। ऐसा विश्वास किया जाता था कि न्यायालय में उपस्थित व्यक्ति, इह व पारलौकिक सुख के निमित्त प्रतिज्ञा से प्रभावित होकर सत्य घटना को प्रकाश में लाकर अनृत व अन्याय का शोधन कराने में भरपूर सहयोग प्रदान करेगा। सत्यकथन तप का प्रतीक तथा पराभव का शोधक माना जाता था। अतएव विभिन्न प्रकार से न्यायालयों में शपथ प्रक्रिया का सम्पादन होता था। शपथ अपने शरीर को स्पर्श कर ली जाती थी।[४]

शपथ लेता हुआ व्यक्ति कहता था कि — " हे देवगण तुम साक्षी हो, सुनो मैने जो सत्य वचन कहा है उस सत्य के द्वारा मैं ब्रह्म से विरुद्ध न हो सकूं। मुझे ब्रह्म की प्राप्ति होवे।"[५]

शपथ प्रक्रिया शुभ दिन, प्रातकालः, जलती अग्नि का जल से भरे कलश के निकट नृप या न्यायाधीश की उपस्थिति में दोनों पक्षो (वादी प्रतिवादी) की सहमति से सत्य भाषण की शपथ दिलाई जाती थी।[६] गौतम के मतानुसार शपथ ब्राह्मण

---

१ मनु. ८.५३-५८

२ याज्ञ. २.११

३ कात्यायन मतसंग्रह - २९९

४ आ प.ध.सू. २.११.३; मनु. ८.८८, १०९, ११०, ११४, अम्बाजातक ३४४ महा.अनु.पर्व २७२; कात्या.मतसंग्रह ३४१-३४३; गौ.ध.सू. २.४.१२ शपथे नैके सत्य कर्म॥

५ " हे देवाः साक्षिणो यूयं श्रुणुत यथा मयोक्तं सत्यं वचस्तेन सत्येनाहं ब्रह्मणाब्रह्मस्वरूपेणमा विशधिषिमा विरुध्येयमप्राप्तब्रह्मणो मा भूदित्यथेः॥ छा.उप. ३.११.२

६ आ प.ध.सू. २.२९.७; मनु. ८.११४

व इतर वर्णो को देवताओं के समीप या नृप-समीप, या ब्राह्मणों व विद्वानों की सभा के मध्य शपथ दिलाने को परम्परा थी ।[१]

साधारण अभियोगों में सत्य-वाहन-गौ-बीज-सुवर्ण-देवतागुरुचरण एवं पुण्य कर्मो की शपथ ही पर्याप्त मानी जाती थी ।[२] शपथ का आधार मानव की अपनी चारित्रिक विशेषता या शक्ति होती थी ।

प्रतिज्ञा अथवा शपथ लेने वाले व्यक्ति या साक्षी को वर्णानुसार प्रथमतः ब्राह्मण को कहा जाता था कि "जो कहना हो सत्य कहियेगा" क्षत्रिय या वैश्य वर्णो से कहा जाता था कि "झूठ बोलने से तुम अपना इष्ट प्राप्त् नहीं कर सकोगे, अपितु भिक्षापात्र लेकर शत्रु द्वार पर भिक्षा मांगने को विवश होना पड़ेगा", तथा शूद्र से कहा जाता था कि "असत्य बोलने पर सब पुण्य नष्ट हो जायेंगे" । सम्पूर्ण साक्षियों को सामुहिकरूप में शपथ दिलाते समय कहा जाता था कि "आंखों देखी और कानों सुनी बात को यदि तुम इस समय छिपाओगे तो तुम्हारी यह गोपनीयता बाद में खुल जायेगी । अतएव सब एकसाथ मन्त्रणा कर सत्य का उद्घाटन करो ।"[३]

साधारण या छोटे-छोटे अभियोगों में शपथ लेना निषिद्ध था ।[४] गुरु अपराधों में ब्राह्मण को सत्य की, क्षत्रिय को उसके वाहन तथा शास्त्रों की, वैश्य को गाय-बीज-सुवर्ण की तथा शूद्र को सम्पूर्ण पातकों की शपथ दिलाई जाती थी ।[५] शपथ लेने के बाद यदि शपथ लेने वाले को अग्नि-जल-एवं अन्य व्याधियां व्यथित न करें, तो शपथ को सत्य माना जाता था ।[६] शपथ लेने वाले के व्यथित होने पर शपथ प्रामाणिक मानी जाती थी ।

शपथ लेते समय हाथ में अग्नि दी जाती थी, या उसे जल में खड़ा किया जाता था । अथवा शपथ लेने वाले को अपने पुत्र के सिर पर हाथ रखकर या देव प्रतिमा के सम्मुख खड़े होकर क्रमशः उन सब में से किसी एक प्रस्तुत वस्तु को सम्बोधित करते हुए सत्य का उद्घाटन करने की शपथ लेनी पडती थी ।[७]

---

१ गौ.ध.सू. २.४.१३; अर्थशा. ३.११

२ अग्निपु. २५५; वि.स्मृ. (वर्जित साक्षि लक्षण अध्याय)

३ ब्रह्मकणो दकुम्भाग्नि समीपे सांक्षिणः परिगृहणीयात् । तत्र ब्राह्मणं ब्रूयात सत्यं ब्रूहीति । राजन्यं वैश्यं वा-मातवेष्टापूर्तफलं कपाल हस्तःशत्रुकुलं भिक्षार्थीगच्छेरिति । शुद्रं जन्म जन्मानतरे युद्धः पुण्य फलं तद्राजानंगच्छेत् । ...... पश्चादपि ज्ञायेत यथा द्रष्टश्रुत्म् । एकमन्त्राः सत्यभवहरेत'ति । अर्थ शा. ३.११

४ मनु. ८.१११

५ मनु. ८.११३

६ मनु. ८.११५ : यमिद्धो न दहत्याग्निरापो नो मज्जयन्ति च । न चार्ति मृच्छतिक्षिप्रं न ज्ञेयः शपथे शुचिः ।

७ मनु. ८.११४ : अग्निवाहारये देनमप्सु चैनं निमज्जयेत् । पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक् ॥

शुल्क

स्मृतिकालीन भारत में विवादों का निर्णय करना नृपप्रशासन का महत्वपूर्ण कर्तव्य होता था। शोषित व पीडित का न्यायालय में जाकर न्याय पाने का अपना मौलिक अधिकार भी था। विवाद के निर्णयार्थ किसी प्रकार का शुल्क वादी या प्रतिवादी पर देय नहीं होता था। किसी भी स्मृति में शुल्क व्यवस्था का विधान नहीं है।

विवाद में पराजित पक्ष को अभियोग मूल्य का दण्ड अवश्य भुगतना पड़ता था।[१]

वकील (अधिवक्ता)

मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति, बृहस्पतिस्मृति एवम् कात्यायन निवन्ध में समाविष्ट विधि योजना अपने में इतनी व्यवस्थित व व्यापक है कि उसकी व्याख्या हेतु पृथक् से विधिवेत्ताओं की आवश्यकता उस समय में बराबर पड़ती रही होगी।

वेद से लेकर स्मृतियुग तक की विधि को न्यायालय के धरातल पर प्रस्तुत करने हेतु पृथक् से अभिवकता रहे थे। व्यवस्थित एवं विशाल स्मृतियुगकालीन विधिविधान, स्मृतिविधि में दक्ष एवं विधि-विज्ञों की आवश्यकता होती रही होगी।व्यवहार व्याख्या, विधि का विश्लेषण आदि का स्पष्टीकरण साधारणवादी-प्रतिवादी के ज्ञान से परे की वस्तु थी। विधि प्रमाणों के आधार पर व्यवहार की देखभाल करने हेतु अधिवक्ता गण न्यायालयों में रहते थे। विशिष्ठ वर्ग अभियोग के पक्ष में अपने प्रतिनिधियों को न्यायालय में नियुक्त करते थे।[२] ये प्रतिनिधि विधिवेता या अधिवक्ता ही होते थे। प्रतिनिधियों को अधिकार पत्र लिख कर दिया जाता था।

व्यवहार पक्ष का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति को अभियोग जीतने पर विवाद मुक्त सम्पत्ति का १/१६, १/२०, १/४० भाग तक मिलता था। सम्बन्धित सम्पत्ति की लघुता एवं गुरुता के आधार पर दिया जाता था। सम्भवतः यह भाग ही अधिवक्ता का शुल्क होता था।

अभियोग हेतु नियुक्त प्रतिनिधि या अधिवक्ता अभियोग के प्रति पूर्ण उत्तरदायी होते थे। यदि अधिवक्ता की असावधानी या लोभवशात् अभियोग असफल होता था तो ऐसे अधिवक्ता को न्यायालय द्वारा दन्डित किया जाता था।

---

१ मनु. ८.५९-१३९; अर्थ. ३.१; याज्ञ. २.३३-व १७१

२ अथर्व. २.२७.६, नारद ५३, २.१८

न्यायालय में प्रतिनिधि या अधिवक्ता अपना अपना पक्ष (उभय पक्षों की ओर से प्रस्तुत करते थे ।[१]

प्रतिभू - पूर्व पक्ष के आवेदन को स्वीकृत करने के पश्चात उत्तर पक्ष को न्यायालय में बुलाया जाता था । गम्भीर रोगो में प्रतिवादी न्यायालय की देखरेख में रहता था । अभियोग के मध्य पुनः अहित होने की शंका का कारण प्रतीत होने लगता था, या वह अनुभुत होने लगता या प्रतिवादी या प्रतिवादीगण अभियोग मध्य भाग कर अन्यत्र न चला जाये, इस शंका के निवारणार्थ न्यायाधीश उत्तर पक्ष या पूर्व पक्ष दोनों को बन्धन में कर उन्हें कारागार में डाल देता था । सन्देहपूर्णआ-चारण के व्यक्तियों को पूर्ण राजकीय नियन्त्रण में रहना पड़ता था ।

अभियोग से सम्बन्धित जो व्यक्ति अभियोग के मध्य अपने को स्वच्छन्द रखना चाहता था उसे न्यायालय में अपनी प्रत्याभूति देनी पड़ती थी जिसका आशय यह होता था कि प्रत्याभूति देने वाला व्यक्ति अपराधी को न्यायालय में समय-समय पर विवाद प्रक्रिया सम्पादनार्थ निश्चित दिवसों में उपस्थित करेगा । अपराधी द्वारा किसी प्रकार का अनिष्ट अथवा अहित नही हो सकेगा ।

वादी-प्रतिवादी दोनों की न्यायाधीश के सम्मुख न्यायालय में उपस्थिति के अवसर पर, न्यायाधीश दोनों पक्षों (पूर्वपक्ष - उत्तर पक्ष) की प्रतिभू स्वीकार करते थे । प्रतिवादी के भाग जाने या पराजित पक्ष के दण्ड न देने पर, उसके प्रतिभू को दण्ड देना पड़ता था । स्वामी, शत्रु बन्दी, दण्डित व अपराधी मित्र, ब्रह्मचारी, सन्यासी, राजकीय कर्मचारी आदि प्रतिभू नहीं बन सकते थे ।[२]

प्रतिभू के अभाव में व्यक्ति को कारागार में रहना पड़ता था । साध्यपाल (कारागार अध्यक्ष) का प्रतिदिन का वेतन कारागार में रहने वाले अपराधी पर देय होता था ।[३] कारागार मे रहने वाले अपराधी को दैनिक धार्मिक कर्म (स्नान, सन्ध्या, पूजा) की पूर्ण छूट व सुविधा प्राप्त थी ।[४]

---

१ तस्य प्राशं तवं जहि । (उसव प्रश्नो को तू जीत) ।
प्राशि मां उत्तरं कृधि । (प्रश्न प्रति प्रश्न से मुझे अधिक उत्तम कर) ।
अथर्व. २.२७.७

२ का.मतसं.७१-७४; - न स्वामी न च वै शत्रुः स्वामिनाधिकृतस्तथा । निरुद्धो दण्डितश्चैव संशयस्थश्च न क्वचित ॥ ७१ नैव रिक्थो न रिकृश्च न चैवा त्यन्तवासिनः । राजकार्यनियुक्तश्च ये च प्रव्रजिता नराः ॥ ७२; याज्ञ. २.५२,५३ से ५७; आ प. २.१४; गौ. १२.३८; पाणिनि २.३.३९; नारद १.२३

३ याज्ञ. २.१० (मिताक्षरा) - अथचेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तुवादिनः । सरक्षिता दिनस्यान्तेदेद्यात् भृत्यायवेतनम् ॥ का मिता. उद्.याज्ञ. २.१०

४ का. ११९ उद्.परा.मा. ३, ५८

समर्थ-सम्पन्न-आचारशील-धर्मनिष्ठ एवं विश्वसनीय व्यक्ति को प्रतिभू के रूप में स्वीकार किया जाता था।[१] इस प्रकार स्मृतियुग में प्रतिभू की पूर्ण व्यवस्था का विधान रहा था।

आसेध

पूर्वपक्ष (वादी) यदि यह स्वीकार करता कि उसका उत्तर पक्ष (प्रतिवादी) उसके साथ - १. दुर्व्यवहार करेगा, २. साहस या वाक्पारुषय जैसे व्यवहार करेगा, ३. विवादित सम्पत्ति का दुरुपयोग करेगा, ४. अभियोग के मध्य भाग कर अन्यत्र चला जायेगा, अथवा ५. पूर्वपक्ष के कार्यकलापों में गति-अवरोध कर पूर्वपक्ष को आतंकित करेगा, तो ऐसी परिस्थिति में पूर्वपक्ष न्यायालय में प्रतिवादी की गति-विरुद्ध प्रार्थना पत्र उपस्थित कर सकता था। न्यायाधीश प्रार्थनापत्र के औचित्य को समझते हुए पूर्वपक्षी की सम्पत्ति की रक्षार्थ, प्रतिवादी पर आसेध आदेश कर देता था। आसेध के प्रभाव से प्रभावित प्रतिवादी, अपनी शक्ति का दुरुपयोग पूर्व पक्ष पर नहीं कर सकता था। इस प्रकार राजाज्ञा या न्यायालय द्वारा लगाया गया अवरोध, आसेध कहलाता था।[२]

आसेध का समय विवाद समाप्ति तक रहता था। प्रतिवादी के रूप में जो व्यक्ति स्वयं उपस्थित न होकर, अपना प्रतिनिधि भेजते थे उन पर आसेध प्रभावी नहीं होता था। इस परिधि में, शिल्पकार्य में व्यस्त शिल्पकार, फसल बोने वाला कृषक, युद्ध में लगा सैनिक, उच्चकुलीन नारी, पशुपालनकर्ता, रुग्ण, उन्मत्त, धार्मिक कृत्यों में संलग्न व्यक्ति आते थे। ये सब व्यक्ति आसेध से मुक्त रहते थे।[३] आसेध का अतिक्रमण तथा आसेध का मिथ्याप्रयोगकर्ता दण्डनीय होता था।[४]

---

१ अग्निपु. २५३

२ याज्ञ. २.५ आसेधो राजज्ञयाऽवरोथः; नारद १.४७ का. मतसंग्रह - उत्पादयति यो हिंसां देयं वान प्रयच्छति। याचमानाय दौः शील्याद् आकृण्योऽ सौ नृपाज्ञया ॥ ६२; आवेद्य तु नृपे कार्यमसन्दिग्धे प्रति श्रुते। तदासेधं प्रयुज्जति यावदाह्वा दर्शनम् ॥ ६३; ऋग्वेद - ८.६७.११ ऋग्वेद - देवा अभिप्रमृक्षत ॥ ९८.६७; (सभासदों ऐसी व्यवस्था करो कि जिससे प्रजा में कोई बाधा उपस्थित न होवे)।

३ निर्वेष्टुकामोरोगार्तो मियक्षुर्व्यसने स्थितः। अभियुक्तस्तथाऽन्येन राजकार्योद्यतस्तथा ॥ गवांप्रचारे गोपालाः सस्यावापेकृषीवलाः। शिल्पिनश्चापितत्कालमायुधीयाश्च विग्रहे ॥ याज्ञ. मिता. २.५ मतसं. ६५-६८ व्याध्यार्त्ताव्यसनस्थाश्च यजमानास्तथैव च। अनुत्तीर्णाश्च नासेध्याः मत्तोन्मत्तजगस्त था ॥ ६६; न कर्षको बीजकाले सेनाकाले तु सैनिकः। प्रतिज्ञाय प्रयातश्च कव्क्तकालश्च नान्तरा ॥ ६७; उद्युकृः कर्षकः सस्येतोयस्यागमने तथा। आरमभात संग्रहं यावत् तत्कालं न विवादयेत् ६८

४ का.मतसं - आसध्योग्यआसिद्ध उत्क्रामन दण्डर्हति। आसेधयेदनासेध्यं स दण्डयो न त्वतिक्रमी ॥ ६४; नारद - १.५४; आसेधकाल आसिद्धआसेधंयोऽतिवर्तते सविनयोन्यथाकुर्वन्नासेद्धादण्डभाग्यवेत् ॥ याज्ञ.मिता. २.५

परन्तु आसेध के द्वारा प्रतिवादी को भयभीत करने के लिये नदी, जंगल या भयप्रद स्थान में नहीं रखा जा सकता था । ऐसीदशा में प्रतिवादी यदि आसेध का अतिक्रमण करता था तो वह दण्डनीय नहीं हो सकता था ।[1]

मूलतः आसेध चार प्रकार का होता था ।[२]

१. स्थानासेध

इस प्रतिरोध के कारण प्रतिवादी अपने गृह अथवा पूजा मन्दिर के अतिरिक्त अन्यत्र गमन नहीं कर सकता था । आजकल के नजरबन्दी के परिप्रेक्ष्य मे इसे देखा जा सकता है । निश्चित स्थान से अन्यत्र जाने का प्रतिरोध स्थानकृत आसेध होता था ।

२. समयासेध

इस प्रतिरोध के द्वारा न्यायालय प्रतिवादी को किसी निश्चित समय की अवधि तक प्रतिरोधित करता था । या किसी निश्चित दिनांक पर न्यायालय में उपस्थित होने के आदेश देता था । निश्चित समय तक उपस्थित रहना कालकृत अथवा समयासेध कहलाता था ।

३. प्रवासासेध

इस प्रतिरोध के अन्तर्गत प्रतिवादी के भ्रमण करने, यात्रा करने पर अंकुश कर दिया जाता था । जिससे प्रतिवादी भ्रमण के बहाने से अन्यत्र भागने में सफल न हो सके । इसे ही प्रवास आसेध कहते थे ।

४. कार्यासेध

इस प्रतिबन्ध से प्रतिवादी को सम्पत्ति विक्रय करने अथवा भूमि जोतने से रोक दिया जाता था । अर्थात् परोक्षरुप में प्रतिवादी से सम्पत्ति का उपयोगधिकार ले लिया जाता था ।

आसेधादेश एक प्रकार की निषेधाज्ञा होती थी । जिसके द्वारा अभियोग निर्णय में न्यायाधीश सफलता प्राप्त कर सकता था । तथा मुख्य अभियोग के साथ सहचरी या उप-अभियोग या संबंधित अभियोगों की शंका का भय टला रहता था ।

---

१ नारद १.४९ । वृक्षपर्वतमारुढा साधके ६५ का.मत; याज्ञ. २.५ ।नदी सन्तरा अध्नुयात । मिताक्षरा

२ नारद १.४७ से ५४; बृह.उद्.स्मृ.चं. २, पृ - ३०-३१ स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा । चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलघंयेत । याज्ञ. परमि. २.५

प्रमाण : लिखित

स्मृतियुग में न्याय प्रमाणों के आधार पर चलता था, भावुकता के आधार पर नहीं। प्रमाणों में मौखिक प्रमाण अल्पकालीन, अभ्रान्तिपूर्ण एवं अनिश्चित होते थे। अतएव स्मृतिकारों ने सुदृढ़ न्याय हेतु लिखित-प्रमाणों को ही सबल स्थिर एवं तथ्यपूर्ण स्वीकार किया था। लिखित प्रमाण तीन प्रकार के होते थे :—

१.	राजकीय लेखप्रमाण	राज-शासन द्वारा लिखित
२.	स्थानकृत लेखप्रमाण	किसी निश्चित स्थान पर लिखा हुआ (रजिस्ट्री आदिजैसा लेख)।
३.	स्वहस्तलिखितप्रमाण	स्वहस्त द्वारा लिखित (कहीं भी लिखा हुआ) कालान्तर में विवाद उत्पन्न होने के भय व शंका से लेखपत्र तैयार किया जाता था। उनमें दोनों पक्षों का नामादि का विवरण — साक्षी उल्लेख, संवत्, मास, पक्ष, तिथि, दिन आदि सभी कुछ व्यवस्थित रूप से अंकित होता था।[१]

नारद व याज्ञवल्वय ने लेख प्रमाण को दो भागों में विभक्त किया था। १. स्वहस्त लिखि, २. अन्यहस्त लिखित।[२] स्वहस्तलिखित प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता नहीं होती थी, परन्तु परहस्तलिखित प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता आवश्यक थी। अपने हाथ द्वारा लिखा प्रमाणपत्र स्वहस्त लिखित तथा दूसरों द्वारा लिखित प्रमाणपत्र अन्य हस्त लिखित कहलाता था।

मिताक्षरा ने लेख प्रमाण को शासन (राजकीलेखा) व चिरक (जनपदीयलेख) दो भागों में रख कर परीक्षण किया था।[३] प्रामणों में एक दूसरे की काट या परस्पर विरोध होना अनुचित तथा दोषपूर्ण होता था।[४]

धर्म (धर्म शास्त्रोक्तविधि), व्यवहार (अर्थशास्त्र-प्रतिपादित विधि), चरित्र (देशाचार, लोकाचार, कुलाचार), एवं राजाज्ञा को विवाद निर्णय में प्रमाण माना जाता था। इनमें बाद का प्रत्येक पहले से श्रेष्ठ होता था।[५]

---

१ वि.ध.सू. ७.२; राजलेख्यं स्थानकृतंस्वहस्तलिखितं तथा। लेख्यं तु त्रिविधं प्रोक्तं तद् बहुधा पुनः॥ बृह.उद.परा.मा. ३.११९ याज्ञ. २.१; पारा.स्मृ. ८.१६; अग्निपु. २५५; का.मतसं. १६६ कट्ठ हारिजातक ७; मनु. ७.१३; वसि.स्मृ. ३३१; पारा.स्मृ. १७६ धर्माचारवर्णनम्।

२ नारद ४.१३५; याज्ञ. २.८४ परमिताक्षरा

३ याज्ञ. २.८४, २२; १.३१८-३८० तक परमिताक्षरा; अग्नि. २५३

४ बृहद्.उप. ४.५

५ धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रंराजशासनम्। विवादार्थचतुष्पादःपश्चिमः पूर्वबाधकः॥ अर्थ. ३.१.२

राजकीय लेख मुख्यतः तीन प्रकार के होते थे ।

१. शासन - राजकीय या राजप्रदत्त भूमि से संबंधित लेखप्रमाण ।

२. जयपत्र - पूर्व अभियोग के निर्णय में सफलता का पत्र ।

३. प्रसादपत्र - वीरता, स्वामी-भक्ति, एवं श्रेष्ठ कृत्यों पर राजा द्वारा प्राप्त पुरस्कार पत्र ।

वसिष्ठ ने राजकीय लेखों को चार भागों में विभक्त किया[1] है ।

१. शासन, २. जयपत्र, ३. आज्ञापत्र (सरकारी कर्मचारी, व सामन्तों के नाम निर्गत आदेश), ४. प्रज्ञापना पत्र (धार्मिककृत्यों हेतु, पुरोहितों, गुरुओं, वेदज्ञों को लिखे प्रार्थनापत्र) ।

जानपद लेख निम्न प्रकार के होते थे :—

१. भाग या विभाग पत्र (सम्पत्ति विभाजन का प्रमाणपत्र) ।

२. दानपत्र (दान की सम्पत्ति का पत्र) ।

३. क्रयपत्र (सम्पत्ति क्रय करने का पत्र) ।

४. आधानपत्र (बंधक पत्र) ।

५. दासपत्र (दास बनाने का प्रमाणपत्र) ।

६. अन्वाधिपत्र (बन्धक रखने वाले की ओर से लिखा गया पत्र) ।

७. स्थितिपत्र (निर्णीत परम्पराओं का लेखपत्र) ।

८. ऋणलेखपत्र (ऋण लौटा देने संबंधी लेखपत्र) ।

९. सीमापत्र (सीमानिर्धारण का लेख) ।

१०.विशुद्धिपत्र (शुद्धि-उपरान्त साक्षियों के साथ लिखा गया पत्र) ।

११.सन्धिपत्र (वादी-प्रतिवादी के मध्य परस्पर समझौते का लेख) ।

१२.उपगत-पत्र[2] (ऋण देने पर मिली रसीद) ।

जनपद लेख की स्थिति दो प्रकार की होती थी —

---

१ वसिष्ठ उद्.स्मृ.चं.पृ. ५५

२ बृह.उद्.स्मृ.चं. २, पृ. ६०; का.-मतसंग्रहः- चातुर्विद्यपुर श्रेणीगणपौरादिक स्थितिः। तत्सिद्धार्थ तुयल्लेख्यं तद्भवेतस्तिति पत्रकम् । १९१; अभिशापेसमुत्तीर्णेप्रायश्चिते क्रते जनैः। विशुद्धिपत्रकं ज्ञेयंतेभ्यः साक्षिसमन्वितम् ॥ १९२; उत्तमेषु समस्तेषु अभिशापेसमागमे । वृत्तानुवादलेख्यं यंत् तजज्ञेयं-सन्धिपत्रकम् ॥ १९३; सीमा विवादे निर्णीते सीमापत्रं विधीयते; १९४ का. २५४, २५७; मिताक्षरा उद्.स्मृ.च. २, पृ. ५९ व्यास - उद्.स्मृ.च.२, पृ. ५९

१. चिरक : जो परम्परागत लिपिकों द्वारा (पुश्तैनी) लिखे जाते थे। ये लेखक राजधानी में रहते थे। दोनों पक्षों के साक्षियों, पिताओं के हस्ताक्षर इस पर होते थे।

२. चिरकहीन : जो परम्परागत लिपिकों के द्वारा न लिखे गये हों। वे प्रमाण चिरकहीन कहलाते थे।

विधिसम्मत, देशाचारानुकूल, सन्देहहीन, तथा अर्थबोधक, लिखित लेख-प्रमाण, अखण्डय व प्रमाणिक नहीं माना जाता था।[1] साधारण मामलों में दो साक्षियों के हस्ताक्षर होना आवश्यक होता था। मद्यपानकर्ता, अपराधी, स्त्री अल्पायु, रुग्ण, पागल के द्वारा लिखा या बलपूर्वक लिखाया लेखप्रमाण, प्रामाणिक नहीं होता था।[2]

राजकीय लेख शुद्ध व स्पष्ट भाषा में, तथा सामान्य लेख प्रचलित जनभाषा में लिखा जाता था। स्वयंलिखित लेख (स्वस्थ बुद्धि से) प्रामाणिक होता था।[3]। उभय पक्षों के हस्ताक्षर, पिता का नाम, साक्षीनाम, तिथि, स्थान, का उल्लेख होना परम आवश्यक था।[4]। पूर्ण लेख को अन्य प्रमाण (शपथ, साक्षी, दिव्य) अप्रमाणिक सिद्ध नहीं कर सकते थे।[5]

अस्पष्ट, सन्दिग्ध, नष्ट, चोरी हुआ, जला हुआ, या फटकर टुकड़े टुकड़े में परिवर्तित, जीर्णक्षीण लेख प्रमाण को उभयपक्ष (संबंधित) की सहमति से पुनः लिखा

---

१ नारद ४.१३६; १३७; वि.ध.सू. ७.११। का.उद.स्मृ.चं. पृ. ५९; मनु. ८.३; हारीतव्यास उद.स्मृ.चं.२, पृ. ५९; याज्ञ. २८७;। कात्या.मत. १९९; २०० देशाचारविरुद्धयत्संदिग्धं क्रम वर्जितं। कृतं च स्वामिनायच्चसाध्यहीनं च दुष्यति॥

२ नारद ४.१३७; वि.ध.सू. ७६-१०। का. २७१; मा.मतसंग्रह - मत्ते नोपाधिभीतेन तथोन्यत्रपोडितैः। स्त्रीभिबालास्वतन्त्रश्चकृतं लेख्यं न सिद्धति॥

३ याज्ञ. २.९९, परमिताक्षरा, कात्यायनमतसंग्रह - १८६, १८७, १९०, २१९ स्वहस्तलेख्यंविज्ञेयं प्रमाणं तत्स्मृतं बुधैः॥ का.मतसंग्रह १९०

४ देशाचारविरुद्धं यद्व्यकताधिविधिलक्षणम्। तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तं क्रमाक्षरम्॥ नारद. ४.१३६; देशाचाराविरुद्धव्यक्ताधिलक्षणमनलुप्तक्रमाक्षरं प्रमाणम्॥ वि.ध.सू. ७.११; ग्राहकेणस्वहस्तेनलिखितं साक्षिवर्जतम्। स्वहस्तलेख्यं विज्ञेयं प्रमाण तत्स्मृतं बुंधैः॥ का.मतसं. - १९०। दिनंमासार्द्धमासौवा ऋतुः सम्वत्सरोपिवा। क्रियास्थित्यनुरुपंस्तुदेयः कालः परेणतु॥ कात्यायनमतसंग्रह - १०६; मा.मतसं. १९७

५ नारद ४.१४५; का. ३०६, ३०७, २२८, २२९

जाता था।[१] मृत्यु उपरान्त भी लेख प्रामाणिक माना जाता था।[२] परन्तु लेख असत्य व अप्रमाणिक सिद्ध होने पर दण्डनीय होता था।[३]।

लेख को पूर्ण राजकीय संरक्षण मिलता था। न्यायालय में नियुक्त लेखक यदि वादी-प्रतिवादी के कथन को नहीं लिखता था, और न कही हुई बात को लिखने लगता था, या दुषित वाक्य को अच्छे रूप में लिखता, तथा ठीक प्रकार से कहे कथन को बिगाड़ कर लिखता, एवं सिद्ध अर्थ विकल्पित कर, लेखपत्र को अप्रामाणिक व दोषयुक्त बनाने का प्रयास करता था तो उस लेखक पर २५० पण अर्थदण्ड या अपराधनुरुपदंड लगता था।[४] राजकीय आदेश को कम या अधिक करके लिखने वाले, या आदेश को विकृत रूप में लिखने वाले लेखक पर १०० पण का अर्थदण्ड या बांया हाथ एवं दोनों पैर काट देने का शारीरिक दण्ड लगता था।[५] वेद तथा स्मृति द्वारा प्रतिपादित धार्मिक आचरण को प्रमाण माना जाता था। दो समान प्रमाणों मे अर्थात् श्रुति व स्मृति में श्रुति प्रमाण होती थी। वेदानुकूल, देश, जाति एवं परिवार के आचरण प्रमाण माने जाते थे। अपने-अपने कर्म में कृषि करने वाले, व्यापारी, गोपालक तथा महाजन और शिल्पी प्रमाण होते थे[६]।

पूर्वपक्ष (वादी) के आवेदन में अंकित स्वर्ण या रजत तथा अन्य वस्तुओं में से एक वस्तु के प्रमाणित होने पर, आवेदन में वर्णितसंपूर्ण वर्णित विवरण को प्रमाण मान लिया जाता था। अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र में विरोध होने पर धर्मशास्त्र प्रमाणिक होता था।[७]

---

१ याज्ञ. २.९२, ९१; नारद ४.१४६; कात्या. ३१० उद्. अपरार्क, पृ. ९८७; वि.ध.सू. ७.२; नारद ४.१४६; कात्या. मतसंग्रह १९८; मलैर्यद्भैदितं दग्धं छिद्रितंवीतमैव वा। तदन्यत्कारयेल्लेख्यंस्वेदेनोल्लिखितं तथा। १९५ का. मतसंग्रह।

२ समुद्रेऽपि यदा लेख्ये मृताः सर्वेऽपिते स्थिताः। लिखिततंतत्प्रमाणं तु मृतेष्वपि हि तेषु च॥ कात्या.मतसं. २१८; याज्ञ. २.२९

३ नारद ४.१४१; कात्या. २९८-२९९; उद्.पराशरमा. ३१३६

४ उक्तं न लिखति, अनुक्तं लिखति, दुरुक्तमुपलिखति, सूक्तमल्लिखति, अर्थोत्पत्ति वाविकल्पयतीति, पूर्वमस्मैसाहसदण्डंकुर्यात्॥ यथा परार्धवा॥ अर्थशा. ४.९

५ अर्थशा. ४.१०

६ गौ.ध.सू. १.१.२, ५; देशजातिकुलधर्माश्चाम्नायैरविरूद्धाः प्रमाणम्॥ गौ.ध.सू. २.२.२०; कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वेस्वेवर्गे। गौ.ध.सू. २.२.२१; वेदोधर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले॥ गौ.ध.सू.; धर्मज्ञसमयःप्रमाणं वेदाश्च॥ आ प.ध.सू. १.१.१.२; श्रुतिस्मृतिविहितोधर्मः। तदलाभेशिष्टाचारः प्रमाणम्॥ वसिष्ठ॥ उपदिष्टोधर्मः प्रतिवेदम्। स्मार्तोद्वितीयः। तृतीयःशिष्टागमः॥ बौ.ध.सू. १.१.१-६; मनु. २.६.; ७.१३; ८.३, ४५, ४६; याज्ञ. १.७; २.१, ६, २१

७ अग्निपुराण अ. २५३; याज्ञ. २.२०

निम्नांकित गुणों एवं विशेषताओं से युक्त लेख श्रेष्ठ व प्रामाणिक माना जाता था।[१]

१. अर्थक्रमता का समावेश, २. अभियोग से पूर्ण सम्बन्ध, ३. परिपूर्णता, ४. माधुर्य, ५. औदार्य, एवं ६. स्पष्टता से युक्त लेख श्रेष्ठ होता था।

किसी विवाद के निर्णय के सम्बन्ध में व्यावहारिक शास्त्र — राजाज्ञा अथवा साक्षी वाक्य — संज्ञा (चरित्र अथवा लोकोचार), एवं मनु आदि धर्मशास्त्रकार के साथ विरोधभाव उत्पन्न होने लगता था, तो नृप या न्यायाधीश, धर्मशास्त्रानुरुप ही निर्णय करता था। परन्तु यदि किसी धर्मसंगत राजन्यायय के साथ धर्मशास्त्र का विरोध होने लगता था, तो ऐसी दशा में नृप न्याय को प्रामाणिक माना जाता था; क्योंकि - देश व काल की परिस्थितियों के कारण, धर्मशास्त्र के वचन गौण हो जाते हैं।[२] पूर्वपक्ष निम्न कारणों से परोक्ष दोष का हेतु बनता था एवं पूर्वपक्ष इन निम्न परोक्ष दोष के कारण अभियोग में पराजित हो जाता था।

१. निश्चित विवाद- विषयान्तर का उल्लेख करना।
२. पूर्व तथा पश्चात् में कही बातों में असंगति होना।
३. निर्दोष कथनों को असत्य कहना।
४. पूर्वनियुक्त व्यक्ति के स्थान पर दूसरे साक्षी को न्यायालय में उपस्थित करना।
५. अपने साक्षी के कथन के प्रतिकूल जाने प र या साक्षी से न्यायालय में गुप्त वार्ता करना — अप्रामाणिक माना जाता था।[३]

गुप्त स्थान में छिपाकर, गृह के अन्दर, रात्रि में, जंगल में, छल या कपट पूर्वक एकान्त में किया गया व्यवहार प्रामाणिक नहीं होता था, परन्तु पर्दे में रहने वाली नारी, सचेत रोगी द्वारा दायभाग, निक्षेप विवाह सम्बन्धी व्यवहार घर के अन्दर करने पर भी नियमानुकूल माने जाते थे। साहस, स्तेय, विवाह, वैश्यागमन, रात्रि में किये जाने के कारण उचित समझे जाते थे। व्यापारी, गोपालक, आश्रमवासी, वानप्रस्थी, शिकारी व गुप्तचर जो स्वभावतः जंगल में निवास करते हैं, उनके द्वारा या जंगलों में किये गये व्यवहार न्याय संगत व प्रमाणिक होते थे। गुप्त रूप में

---

१ अर्थक्रमः सम्बन्धः परिपूर्णता माधुर्य औरदायंस्पष्टत्वमितिलेख सन्पत। अर्थशा. २.१०

२ संस्थयाधर्म शास्त्रेण् शास्त्रं व व्यावहारिकम्। यस्मिन्नर्थेविरुद्धयेत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत॥ अर्थ्श. ३.१.७; शास्त्रीविप्रतिमद्येत धर्मन्यायेनकेनचित्। न्यायस्तत्र प्रमाणंम्यान्तत्र पाठोहि नश्यति॥ अर्थशा. ३.१८; याज्ञ. २.२१

३ अर्थ. ३.१०

जीविका चलाने वालों के द्वारा छल, कपट के साथ किया गया व्यवहार मान्य था। परस्पर समझौता होने पर एकान्त में किया गया व्यवहार मान्य होता था।[1]

ऐसा पुत्र जिसका पिता जीवित है; ऐसा पिता जिसका पुत्र जीवित है, कुलहीन या तिरस्कृत, सबसे छोटे भाई या अल्पवय, पति व पुत्र युक्त स्त्री, सेवक अतिवृद्ध, लोकनिन्दित पुरुष व नारी, संन्यासी, अपंग, रुग्ण द्वारा किये गये व्यवहार (यदि राजप्रशासन की अनुमति नहीं मिली है) भी अप्राणिक होते थे।[2]

क्रोधी, दुःखी, मत्त और उन्मत्त, पागल तथा अपराधी द्वारा किये गये व्यवहार भी अमान्य होते थे। परन्तु अपनी जाति में उचित देशचार व कालानुरुप अपनी प्रकृति के अनुसार किये गये दोषरहित संपूर्ण व्यवहार नियमानुकूल समझे जाते थे। परन्तु प्रतिबन्ध यह रहता था कि उन सबको सूचना देदी गई हो, और उनके रूप-लक्षण-प्रमाण तथा गुण सब अच्छी तरह परख लिये गये हैं।[3] लेख के अभाव में अभियोग सिद्ध नहीं हो सकता था।[4] गुप्तचर अनुसन्धान सूचना भी न्यायलय में प्रमाण मानी जाती थी। कंटको को ढूंढ़ निकालन हेतु समूचे देश में गुप्तचरों का जाल सा फैला रहता था।[5] न्यायाधीश का अनुमान (अन्वेषणपूर्ण) भी प्रमाणि होता था।[6] विद्धत्तापूर्ण तर्क भी प्रमाण माना जाता था।[7] सत्य स्वयं में प्रमाण होता है।[8]

---

१ तिरोहितान्तरगारनक्तानण्योपध्युपह्वरकृतांश्चव्यवहारान्प्रतिषेधयेयुः। दाम निक्षेपोपनिधिविवाह युक्ताः स्त्रीणामनिष्कासिनीनां व्याथितानां चामूढसंज्ञानामन्तरगार कृताः सिद्धयेयुः साहसनुप्रवेशकलह विवाह राजनियोग युक्ताः पूर्वराज व्यवहारिणां च रात्रिकृताः सिद्धयेयु। सार्थब्रजाम व्याथ चाराणं मध्येष्वरण्य चराणामरण्यकृत्ताः सिद्धयेयुः। गूढजीविषु चोपाधिकृताः सिद्धयेयुः। मिथः समवाये चोपह्वरकृताः सिद्धयेयुः। अर्थशा. ३.१

२ अपाश्रयभिदृश्च कृताः पितृमतापुत्रेण पिता पुत्रवता निषकुलेन भ्राताकनिष्ठेना विभक्तांशेन पतिमत्या पुत्रवता चस्त्रिया दासहितकाभ्याम प्राप्तातीत व्यवहाराभ्याभिशस्त प्रव्रजितव्यंग व्यसनिभिश्चान्यत्र निसृष्टव्यहारेभ्यः। अर्थशा. ३.१

३ तत्रापि क्रुद्धेनार्तेन मत्तेनोन्मत्तेनापगृहीतेन वा कृता व्यवहारा न सिद्धेययुः। स्वे स्वे तु वर्गे देश काले च स्वकरणकर्ताः सम्पूर्ण चाराः शुद्धदेशा दृष्टरुप लक्षणप्रमाणगुणाः स्र्वव्यवहाराः सिद्धयेयुः। अर्थशा. ३.१

४ न लेखयति यस्त्वेवं तस्य पक्षो न सिद्धयति॥ का.मतसं. १८८

५ अर्थशा. ४.४; १.७; याज्ञ. १.३३०; महा.शा.पर्व ८७.१२

६ मनु. ८.४४

७ न्यायाधगमे तर्कोभ्युपाय॥ गौ.स्मृ.राजधर्मवर्णनम्।

८ छा.उप. ७.६.१.१

भुक्ति या भोग (अधिकार) प्रमाण

वस्तु पर मानव का अधिकार भुक्ति या भोग अधिकार कहलाता था। तब एक वस्तु को व्यक्ति अपने उपयोग या उपभोग के द्वारा अल्प या अधिक समय तक अपने स्वामित्व में रखता था, तो व्यक्ति का यह स्वामित्व भुक्ति होता था।

भोग अधिकार दो प्रकार का होता था।[१] (अ) सागम, एवं (ब) अनागम (स + आगम, अन् + आगम), भोग या भुक्ति; सन्धि-विग्रह से स्पष्ट होता है कि वह जो स = सहित आया हुआ आगम है। आगम = निकास अथवा उद्गम को कहते हैं। जब भुक्ति का उद्गम रीति-परम्परा या दायभाग या उत्तरधिकार, अथवा सम्पत्ति-स्वामी की अनुमति पर होता था तो उसे सागम भुक्ति कहते थे। दीर्घ समय तक साधिकार सम्पत्ति का उपयोग या उपभोगी सागमभुक्ति कहलाती थी। सागमभुक्ति में सम्पत्ति का स्वामित्वः—

१. पैतृक रिक्थी, २. सम्पत्ति विभाजन, ३. क्रय, ४. अस्वामि की सम्पत्ति प्राप्ति, ५. दानग्रहण, ६. विजय में प्राप्त सम्पत्ति, ७. व्यापारिक लाभ, ८. पुरुस्कार या उपहार में मिली सम्पत्ति, ९. समय के बीतने पर बन्धक सम्पत्ति, १०. विद्या, ११. सन्तानहीनों से प्राप्त सम्पत्ति, तथा १२. सेवा से प्राप्त सम्पत्ति से प्राप्त होता था।

अनागम सागम रीति से पृथक् अपरम्परित रूप में सम्पत्ति पर किया गया अधिकार अनागम कहलाता था।

सागम या अनागम रीति से प्राप्त सम्पत्ति पर यदि व्यक्ति का उपभोग बना रहता था तो स्मप्त्ति ग्रहण कर्ता का अधिकार लुप्त नहीं होता था। परन्तु स्पष्ट स्वामित्व तथा भोग-अधिकार के फलस्वरूप सम्पत्ति पर अधिकार शून्य मान लिया जाता था।[२] दीर्घाल तक बना हुआ अविरल तथा निर्विरोध स्वामित्व स्पष्ट प्रमाणिक होता था।[३]

---

१ भुक्तिस्तुद्विविधा प्रोक्तासागमाऽनागमातथा। त्रिपुरुषी या स्वतन्त्राऽनागमाऽल्पातु सागमा॥ का.मतसंग्रह - २३९; का.मतसंग्रह - १६६, २३४, २३५; गौ. १०.३९-४१; वसिष्ठ - १६.१६; लिखतसाक्षिणोंयुक्तिप्रमाणंत्रिविधंस्मृतम्॥ वसि.स्मृ. ३३१; बृह.उद्.स्मृ.व्यवहारप्रकाश १५३; मनु. ८.२००; याज्ञ. २.२७; नारद ४८४

२ नारद ४८५; बृह.उद्.स्मृ.चं. २ पृ. ७०

३ याज्ञ. २.२७; व्यास एवं पितामह उद्.स्मृ.च. २, पृ. ७१; सागमो दीर्घकालश्चाविच्छेदोऽपखोज्झितः। प्रत्यर्थिसं निधानश्च पञ्चाङ्गो भोग इष्यते॥ अतश्च सागमो दीर्घकालो निरन्तरो निराक्रोशः प्रतर्यर्थिप्रत्यक्षश्चेति पंचविशेषणयुक्तोभोगः प्रमाणमित्युकृं भवति। याज्ञ. २.२७.परमितक्षरा।

भोगहीन आगम, शक्तिहीन, तथा भोगयुक्त अनागम, शक्तिशाली होता था।[१] अचल सम्पत्ति पर स्पष्ट आगम होते हुए, तथा लेख व साक्षी के प्रमाण रहने पर भी बिना भोग के स्वामित्व हीन पड़ जाता था।[२] सम्पत्ति का स्थानान्तरण बिना भोग के संशयात्मक होता था।[३] परन्तु बिना आगम के भोग सिद्ध करना भी अमान्य था।[४]। इस प्रकार आगम व भोग परस्पर पूरक तथा एक-दूसरे को शक्ति देने वाले रहे थे। स्वामित्व दर्शाने वाले व्यक्ति को स्वामित्व का उद्गम स्वस्थ रूप में सिद्ध करना पडता था। त्रुटिपूर्ण उद्गम होने पर भोग को त्रुटिपूर्ण माना जाता था। परन्तु स्वामित्व की सिद्धी में भोग अपना प्रमुख स्थान रखता था। भोग के अभाव में आगम शक्तिहीन रहता था।[५] यदि भोग कर्ता तीन पीढ़ियों तक के स्वामित्व को सिद्ध करता था तो आगम की अपेक्षा भोग सफल व प्रमाणिक माना[६] जाता था। क्योंकि दीर्घकालीन भोग वैधानिक समझा जाता था। लगातार वीसवर्ष तक भूमि के स्वामी की उपस्थिति में, भूमिस्वामी के बिना विरोध के एक व्यक्ति यदि भूमि का उपयोग करता था तो ऐसी स्थिति में भूमि पर भोगकर्ता का स्वामित्व स्थापित हो जाता था। धन जैसे चलसंपत्ति पर भी दस वर्ष तक जीवित भोग रहने से भोगकर्ता का वैधानिक अधिकार स्मृतिकारों द्वारा माना गया था।[७] कुछ स्मृतिकारों ने भोग सम्बन्धी स्मार्तकाल (मानवस्मरण) को अपेक्षित माना था। तीन पीढ़ी तक का भोग, या एक सौ वर्ष तक का भोग, की सीमा निर्धारित की है साठ वर्ष तक अविरल चलने वाली तीन पीढ़ी का भोग अपने में अधिक प्रमाणित व तर्क संगत रहा था।[८] गौतम, मनु, या याज्ञवल्क्य ने २० वर्ष के अवैधानिक भोग को भी प्रामाणिक मान लिया था। परन्तु कात्यायन, नारद न यह अवधि साठ वर्ष मानी

---

१ याज्ञ. २.२७; नारद ४.८५

२ नारद ४.७७

३ नारद ४.८४ से ८६; पित्रलब्धक्रयाधानरिक्थ शौर्यप्रवेदनात्। प्राप्ते सप्तविधे भोगः सागमः सिद्धिमाप्नुयात् ॥ बृह.उद्.व्य.नि. १२६; न मूलेन बिना शाखा अन्तरिक्षेप्ररोहति। आगमस्तु भवेन्मूलं भुक्तिः शाखाप्रकीर्तिता॥ हरीतः नागमेनबिना मुक्तिर्नागमो भुक्तिवर्जितः। तयोरन्योन्यसम्बन्धात् प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥ पितामह - उद्.स्मृ.चं. २ पृ. ७०

४ ४८६-८७

५ आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो ॥ याज्ञ.व्य.अ. २७

६ याज्ञ. २.२३

७ पश्यतोऽब्रुवतोभूमेर्हानिर्विंशति वार्षिकी। परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ २.२४ ग्राम नगार वृद्धश्रोणिविरोधे दश वर्ष भुक्तमन्यत्र राज विप्रस्वात् ॥ शं.उद्.वि.र.पृ. २०८; अजडापोगण्ड धनंदशाः परैः सन्नि धौ भौक्तुः ॥ १२.३४ गौतम मनु. ८.१४७, १४८; नारद ४.७९-८०

८ नारद ४.८६-८९; वि.ध.सू.५.१८७; याज्ञ. २.२७ परमि.; का. ३२१, बृह. २६.२८

है ।[१] अनजान व्यक्ति का भोग शक्ति शाली होता था । जबकि परिवारजन द्वारा स्थापित भोग बल-हीन । श्रोत्रिय, संन्यासी, राजकर्मचारी, बन्धकसम्पत्ति, अल्पवय की सम्पत्ति प्रतिभू, स्त्रियों का धन, नृपधन, विवेकहीन की सम्पत्ति, मन्दिर संपत्ति, ब्रह्मचारी की सम्पत्ति, विदेश या बन्दीग्रह में रहने वाले की सम्पत्ति, अंगहीन, विधवा की सम्पत्ति, सीमा, धरोहर, उपनिधि पर भोगप्रति बन्ध प्रभावी नहीं होता था ।[२]

साक्षी : प्रमाण

स्मृतिकालीन न्यायिक धरातल पर साक्षी को महत्वपूर्ण प्रमाण माना जाता था । वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों की सत्य व तथ्यात्मक स्थिति साक्षी के द्वारा ही प्रकाश में आती थी । प्रत्यक्षदर्शी या श्रोता ही साक्षी के भार को उठा सकता था । विवाद सम्बन्धी पूर्ण ज्ञान रखने वाला व्यक्ति भी साक्षी हो सकता था । इस प्रकार के साक्षी संदेह प्रतिरोध को समाप्त करने में सक्ष्म व प्रामाणिक माने जाते थे ।[३]

साक्षी यदि मृत्युगमन या विदेशगमन कर जाये या असाध्य या गम्भीर-रूप में रुग्ण हो जाये तो ऐसे साक्षियों के स्थान पर वह व्यक्ति साक्ष्य दे सकता था जिसने उक्त साक्षियों से विवाद के सम्बन्ध में सुना हो; परन्तु प्रतिबन्ध यह था कि यह साक्ष्य तीन वेदज्ञ ब्राह्मणों के सामने प्रामाणित किया जाये । अर्थात् मूल साक्षी अपना प्रतिनिधि साक्षी देने हेतु नियुक्त करें और विवादसम्बन्धी बातें अपने प्रतिनिधि से करे तो उस समय तीन वेदज्ञ ब्राह्मणों का उपस्थित[४] रहना अनिवार्य होता था ।

---

१ मनु. ८.४८, याज्ञ. २.२४

२ वसि.स्मृ ३४०; स्वजातिभिर्वान्थिवैश्च भुकुंयत् स्वजनैस्तथा । भोगात्तत्र सिद्धिः स्यात् भोग मन्येषुकल्पयेत् ॥ का.मतसं. २४४; गौ. १२.३५; धर्मोऽक्षयः श्रोत्रिये स्याद् भयं स्याद्राजपुरुषे । स्नेहः सुहृदवान्धवेषु भुक्तमेतैर्नहीयते ॥ बृ.उद्.स्मृ.चं. २, पृ. ६९; मनु. ८.१४९, १४७, १४५; नारद ४८१, ८३; वसि. १६.१८; याज्ञ. २.२४, २५; का. ३३१; उद्.स्मृ.चं.२, पृ. ६९; अधिसोमोपनिक्षेपजडबालधनैर्बिना । तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि ॥ यज्ञ.२.२५ ।न भोगं कल्पयेत् स्त्रीषु देवराजधनेषु च । बालक्षोत्रित्ते च मातृतः पितृतः क्रमात् ॥ का.मत. २३७

३ पाणिनि ५.२.९१ साक्षाद. द्रष्टरि संज्ञायाम् । वि.ध.सू. ८.१३; मनु. ८.३; गौ. १३.१; काटिल्य ३.११; नारद ४.१४७-१४८; याज्ञ. २.१७; मनु. ८.४७; सभापर्व ६८८४;। शा.पर्व - ततः साक्षिवलं साधु द्वेधवादकुर्ते भवेत् । असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यंतद् तिशेषतः॥ ८५.१९; आ प.ध.सू. २.११.३; का.मतसं. १६६ । गौ.ध.सू. विप्रतिपत्तौसाक्षिनिमित्तासत्यव्यवस्था ॥ २.४.१; वसि.स्मृ. ३३१; - समक्षदर्शनात्साक्षी श्रावणाद्वा ॥वर्जितसाक्षिलक्षण, धर्मध्यायः । वि.स्मृ.

४ वि.ध.सू. ८.१२; मनु. ८.७४

साक्षी के अभाव में न्यायपरीक्षण को प्रक्रिया तब तक के लिए रोक दी जाती थी जब तक योग्य साक्षी नहीं मिलता था। साक्षी के न्यायालय में उपस्थित होने पर उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में परीक्षण होता था। परीक्षण के उपरान्त, साक्षी के सम्बन्ध में सभ्यों द्वारा आश्वस्त हो जाने पर, साक्षी के कथनों को सुनकर निर्णय किया जाता था। साक्षियों से प्रश्न पूछे जाते थे। विवाद के सम्बन्ध में उनसे तर्क वितर्क किया जाता था।[१] साक्षी के अभाव में अभियोग की वास्तविकता का अनुसन्धान गुप्तचर विभाग द्वारा कराया जाता था।[२]

साक्षी - संख्या

साक्षियों की संख्या पर स्मृतिकार प्रायः एकमत नहीं रहे हैं। तीन से लेकर नौ व्यक्ति तक एक अभियोग में पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष की ओर से साक्षी हो सकते थे।[३] परन्तु विद्वान् ब्राह्मण दो भी साक्ष्य में सक्षम होते थे।[४] परन्तु एक साक्षी कभी स्वीकार नहीं था।[५] यदि ऐसा व्यक्ति जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करते हों तथा वह व्यक्ति धार्मिककृत्य करता रहा है तथा अभियोग के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान रखता हो, साथ-साथ अपने में शुचि, सत्यावादी रहा हो तो अकेला व्यक्ति ही साक्षी के रूप में प्रमाणित माना जाता था।[६]

अपील में मुख्य न्यायधीश, लिपिक, सभ्य भी साक्षी[७] होते थे।

---

१ आप.ध.सू. २.११.३; गौ.ध.सू. २.४.३१; सर्वेधर्मेभ्योगरीयःप्राङ् विवाकेसत्यवचनं सत्यवचनम् ॥ ३१.२.४

२ महा.शा.पर्व ८५.१९

३ मनु. ८.६०; याज्ञ. २.६९; नारद ४.१५३; गौतम १३.२; गौ.ध.सू. २.४.२; अग्निपुराण अ. २५५;। असम्प्रतिपत्तौतुसाक्षिणः प्रमाणम्। ऋणंप्रति नत्वेवैक ॥ अर्थशा. ३.११

४ बृह.उद.स्मृ.चं.२, पृ. ७६

५ वि.ध.सू. ८.५

६ याज्ञ. २.७२, - उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्। वि.ध.सू. ८.९; नारद ४.१९२; अर्थशा. ३.११; शुचिक्रियश्चधर्मज्ञःसाक्षीयात्रानुभूतवाक्। प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः ॥ व्यास, उद्.स्मृ.चं. २, पृ. ७६; अग्निपुराण अ. २५५; मनु. ८.७७

७ बृह.उद्.स्मृ.चं. भाग - २, पृ. ७६

प्रमाणित या सक्षम साक्षी

स्मृतिकालीन न्यायालयों में निम्नांकित गुणों एवं योग्यताओं से युक्त व्यक्ति को ही साक्षी स्वीकार किया जाता था।[१]

१. प्रत्येक साक्षी का कुलीन, वंश परम्परा से देशीय, सन्तानयुक्त गृहस्थी, धनवान्, चरित्रवान्, विश्वासपात्र एवं लोभहीन व धर्मज्ञ होना आवश्यक होता था।

२. साक्षी दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार किये जाने पर ही साक्ष्य दे सकता था।

३. साक्षी अपने से सम्बन्धित पक्ष या वर्ण अथवा जाति का होता था।

४. स्त्रियों के विवाद में स्त्रियां, अन्त्यजों के विवाद में अन्त्यज, हीन जाति वालों के विवाद में हीन जाति के जन, ब्राह्मणों के विवाद में ब्राह्मण साक्षी होते थे। हीन जातीय अभियोगों में उच्च जातीय जनों को साक्षी बनाना निषिद्ध था।

५. तस्पवी, दानशील, कोमलहृदय, वेदज्ञ, को साक्ष्य देने में प्राथमिकता मिलती थी।

दण्डपारुषय, वांक्पारुषय, अपहरंण, स्तेय, साहस, स्त्रीसंग्रहण, जैसे अपराधों के शमनार्थ स्मृतिकारों ने उक्त साक्ष्य बंधन शिथिल कर दिये थे। उनके अनुसार सभी जाति के जन, वर्णों के जन जिनमें शूद्र भी स्म्मिलित हैं, सभी के सभी विवादों में साक्षी हो सकते थे। उक्त विवादों में केवल एक स्त्री, एक पुरुष, एक दृष्टा व एक श्रोता भी साक्षी हो सकता था।[२]

---

१ गृहिणः पुत्रिणोमौलाः क्षयविट्शूद्रमोनमः। अर्थ्यक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये सेचिदनापदि॥ मनु. ८.६२; आप्ताः सर्वेपु वर्णेपु कार्याः कार्यघुसाक्षिणः। सर्व धर्मविदोऽलुब्धाविपरीतांस्तु वर्जयेत॥ मनु. ८.६३; तपस्विनोदानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः। धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः॥ याज्ञ. २.६८; गौ.ध.सू. २.४.२; मनु. ८.७३; त्रयवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः। यथा जाति यथावर्ण सर्वे सर्वेपु वा स्मृताः॥ याज्ञ. २.६९; अर्थशा. ३.११; वसिष्ठ १६.२८; गौ.१३.२; शंखलिखित उद्धत सरस्वती विलास पृष्ठ १३८ पर। नारद ४.१५३ व १५४; विष्णु धर्मसूत्र ८८१; बृहस्पति उद्धत स्मृ.च. भाग - २ पृ. ७६ पर; अग्निपु. अ. २५५; स्त्रीणांसाक्ष्यं स्त्रियः कुर्युद्विजानां सदृशाद्विजाः। श्रूद्र श्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनमः॥ मनु. ८.६८; उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपिधर्मवित्॥ याज्ञ. २.७२; बौ.ध.सू. १.१०.१९.१६; वशिष्ठ स्मृ. १४७; विष्णु स्मृति, वर्जितसाक्षीलक्षणवर्णनम्। स्त्रीणां तु साक्षिणः स्त्रियकुर्याद् द्विजानांसदृशाद्विजाः। शूद्रणां सन्तः शूद्राश्च अन्त्यानामन्त्ययोनमः॥ वसिष्ठ स् स्मृ. ३४८; का.मतसंग्रह २५६

२ मनु. - अनुभावो तु यः कश्चित्कुर्यात्साक्ष्यं विवादिनाम्॥ ८.६९; याज्ञ. - यथाजातियथावर्णा सर्वेसर्वेषु वा स्मृताः॥ २.६९, २.७२;५ सर्वसाक्षीसंग्रहणे चोयपारुष्य साहसे॥ ; नारद ४.१५४; वसिष्ठ १६.२९; गौ.ध.सू. २.२.३; अग्निपुराण अ. २५५; -

श्रेणियों (व्यापारीवर्ग), पूगों (संस्थायें), आदीदलीयवर्गीजन, तथा दास, चारण (भाट), मल्ल, हाथी की सवारी करने वाले, अश्व प्रशिक्षक, तथा सैनिकों के साक्षी उनसे सम्बन्धित जन या नायक ही हो सकते थे। इसी प्रकार कृषक, पशु, पालक, महाजन, शिल्पकार से संबंधित विवादों के साक्षी क्रमशः कृषक, पशुपालक, महाजन एवं शिल्पकार होते थे।[1]

अप्रामाणिक या निषिद्ध साक्षी

व्यवहार में निहित सन्देहों का निवारण सुगमतापूर्वक हो सके, इस सम्बन्ध में स्मृतिकारों की पैनी दृष्टि अतीव सजग व सचेष्ट रहती थी। साक्षी प्रमाण न्यायप्रक्रिया को सुलभता व सत्यता की ओर अग्रसर कर सके, साक्षियों के द्वारा किसी प्रकार की उलझन व सन्देहात्मक स्थिति उत्पन्न न हो सके, इस हेतु जिन व्यक्तियों को साक्षी देने के अधिकार से च्युत या वंचित किया, उन्हें अप्रामाणिक या निषिद्ध साक्षी की कोटि में रखकर परीक्षण किया है। स्मृतिकारों को साक्षी के सम्बन्ध में तनिक भी कच्चापन रुचिकर नहीं था। क्योंकि व्यक्ति लालच-शत्रुता-अनुराग-भय-आवेश-अज्ञान एवं मित्रतावश अथवा भावुकतावश आलस्य साक्ष्य दे सकता है। निम्न प्रकार के व्यक्ति निषिद्ध साक्षी माने जाते थे।[2]

अर्थशा. ३.११; मनु. स्त्रियाप्यसंभवेकार्यबालेनस्थविरेण वा। शिष्येणवन्धुनावापिदासेनभृतकेनवा॥ ८.७०; गृहिणः पुत्रिणोमोलाः क्षयविद्शूद्रयोनयः॥ मनु. ८.६२; आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः मनु. ८.६३

१ लिंगिन : श्रेणियुगाश्चवणिग्व्रातास्थपरे। समूहस्थाश्च ये चान्ये वर्गास्तानब्रवीद् गुरुः। दासचारणमल्लानां हस्त्यश्वायुधवजीविनाम्। प्रत्येकैकं समूहानां नायका वर्गिणस्तथा॥ तेषांवादः सववर्गेषु - वर्गिणस्तेषु साक्षिणः॥ कात्यायन मतसंग्रह, २६४, २६५; गौ. ११.२१

२ नोर्थ सम्बन्धिनोप्ता न सहाया न वैरिणः। न दृष्टदोषाः कत्त्रव्या न व्याधयार्ता न दूषिताः॥ मनु. ८.६४; न साक्षीनृपतिः कार्यो न कारु कुशीलवौ। न श्रोत्रियो न लिङ्गस्थो न संगेभ्योविनिर्गतः॥ मनु. ८.६५। नाध्यधीनो न वक्तव्यो न दस्युर्नविकर्मकृत्। न वृद्धो न शिशुर्नैको नान्त्यो न विकलेन्द्रियः॥ मनु. ८.६६; नार्तो न मत्तो नोन्मत्तो न क्षुत्तृषोपपीडितः। न श्रमार्तो न कामात्रो न क्रुद्धो नापि तस्करः। मनु. ८.६७; स्त्रीबालवृद्धकितवमत्ताभिशस्तकाः। रङ्गार्वतारिपारवण्डिकूटकृद्धिकलेन्द्रियाः॥ याज्ञ. २.७०; पतिताप्तार्थसंबन्धितसहायरिपुततस्कराः। साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसक्षिणः॥ याज्ञ. २.७१; अर्थशा. ३.११; उद्योग पर्व ३५.४४ से ४७ तक।; नारद ४.१७७-१७८; मनु. ८.७२; विष्णु ध.सू. ८.१ से ४ तक।; बृह. २९.३०; अग्निपुराण अ. २५५; मनु. ८.६२; सामुद्रिकं वणिज्ञं चोर पूर्व शलाक धूर्तं च चिकित्सकं च। अरिंच मित्रं च कुशीलवं च नैतान् साक्ष्ये त्वधिकुर्वीतसप्त॥ उद्योगपर्व ३५.४४; कात्यायन मतसंग्रह से - तद्वृत्तिजीविनोये च तत्सेवाहितकारिणः। तद्बन्धुसुहृदो भृत्या आप्तास्तेतु न साक्षिणः॥ २६०; कुल्याः सम्वन्धिनश्चैव विवाह्योभगिनीपतिः। पिताबन्धुःपितृव्यश्च

परिवारजन, मित्र, साथी, सामुहिकसम्पत्ति के अंशधर, (साझेदार) सेवक, अतिवृद्ध, आलोचक, निन्दक, अधम, असत्यवादी, अल्पवयस्क, स्त्री, चारिक, (भाट या तेली), मूर्ख, पागल, मद्यपी, अचेतव्यक्ति, विदीर्णहृदय, द्यूत अनुरागी, पुरोहित एवं पर्यटक अन्ध, बधिर, मूक, समुद्रमार्गी-व्यापारी, अंगभंग, रुग्ण, संन्यासी, वेदज्ञ, ब्राह्मण, अधार्मिक नपुंसक, नास्तिक, ऋणदाता, अभिनेता, स्त्रीपरित्यागी, यज्ञ करने वाला, पूर्वशत्रु, गुप्तचर, असाध्यरोग से पीडित, पूर्वदण्डित, नर्तक, विषविक्रेता, विष देने वाला, सर्प पकड़नेवाला, आग लगानेवाला, कृपण, या चाण्डाल, दुष्टहृदय व्यक्ति, शूद्रापुत्र (उच्चजाति के व्यक्ति द्वाराउत्पन्न), पातकी, श्रमितव्यक्ति, साहसिक, क्षुधा-प्यास से पीड़ित, वीतरागी, निर्धन, शूद्र, अकृत्यकर्ता, विद्याध्ययनरत ब्रह्मचारी, जडमूल-विक्रेता, एकाकी, नृप द्वारा निन्दित या घृणित, ज्योतिषी, ऋतुसंबंध के पूर्वानुमान की घोषणा करने वाला, तस्कर, धनलोभी (जिसने धनलोभवशीभूत अपने को बेच दिया है), छोटे अंगवाला अथवा कम अंग वाला (चारअंगुलीवाला हाथ), अपनी स्त्री से अनाचार करानेवाला, स्त्रियों को नचाने वाला, अशुद्ध व विकृत नाखूनवाला, बालक, उन्मत्त, कालेदांत वाला, मित्रद्रोही, आसव विक्रेता, मदारी, लोभी क्रोधी, आतुर, श्रेणी या गणविरोधी, कसाई व खाल विक्रेता, कुट व्यवहारकर्ता (लेखप्रमाण, मुद्रा या नापतोल संबंधी) अपंग (लूला-लंगड़ा), ब्रह्महत्यारा, मन्त्र व दवा से प्रभावित कर्ता, संन्यासआ श्रम से च्युत, प्रवंचक, लुटेरा, राजभृत्य, मनुष्य-पशु-मांस-अस्थि, दुग्ध-जल, सूत आदि का विक्रेता, ब्राह्मण, वर्ण व जाति व आश्रमच्युत व्यक्ति, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से सूद पर रूपया देने वाला, सभ्य, या न्यायधीश, प्रशंसक, भाट, नीच जाति की सेवा में रत व्यक्ति, पिताद्रोही, तथा नृप साक्षी नहीं हो सकते थे।

बालक अपरिपक्व बुद्धि, वृद्ध अधिक वय के कारण, अस्थिर बुद्धि, उन्मत्त विवेकहीन, आतुर बीमारी के कारण अस्थिरबुद्धि होता है। फलतः यर्थातस्थिति का उल्लेख करने में असमर्थ होने के कारण, विवादको और सन्देहयुक्त बना सकते थे।[1]

साक्षी प्रतिबन्ध में शैथिल्यता

आर्थिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धित विवादों में साक्षी प्रतिबन्ध सार्थक समझा जाता था। तथा उसे उपयोगी व प्रामाणिक मानकर कठोरता के साथ उसका अनुपालन किया जाता था। प्रामाणिक साक्षी के अभाव में सम्बन्धित आर्थिक व

श्वशुरोगुरवस्तथा॥ २६१; मातृष्वसृसुताश्चैव सोदयासुतमातुलाः। एतेसनाभयः प्रोक्ताः साक्ष्यन्तेषु न योजयेत्॥ २६२; नगर ग्रामदेशेषु नियुकृयि पदेषु च। वल्लभाश्च न पृच्छेयुर्भकृस्तेराजपुरुषाः॥ २६३; विष्णुस्मृति वर्जित साक्षिलक्षण वर्णन अध्याय।

१ मनु. ८.११८

सम्पत्ति विवाद को रोक तक दिया जाता था । हिंसक विवादों में स्मृतिकारों ने साक्षी प्रतिबन्ध को लचीला एवं प्रतिबन्ध रहित कर, हिंसकत्व को भरपूर रूप में नियन्त्रित किया था । निषिद्ध साक्षियों की विस्तृत सूची में अधिकांश व्यक्तियों को भी साक्षी देने की मान्यता प्रदान की थी । परन्तु वंचक, शत्रु, सम्बन्धी किसी भी दशा में साक्षी नहीं हो सकते थे । स्मृतिकारों का ऐसा विश्वास रहा था कि अल्पवयस्क अबोधता के कारण स्त्री असत्यभाषी स्वभाव के कारण, वचंक अकृत्यकारी, अनुरागी होने के कारण, सम्बन्धी जन स्नेह के वशीभूत तथा शत्रु प्रतिशोध की भावना के आधार पर असत्य का अवलम्ब स्वाभाविक रूप से लेते हैं । जिसके कारण सत्य निर्धारण, सन्देहनिवारण अभियोग परीक्षण में व्यवधान उत्पन्न होता था ।[1]

साक्षी - प्रकार

साक्षी को निम्न कोटियों में विभाजित किया गया था ।[2]

साक्षी

१. कृतसाक्षी (नियुक्त) २. अकृतसाक्षी (अनियुक्त)३. अवसरसाक्षी

कृतसाक्षी के प्रकार — अ. लिखित ब. स्मरित स. सकारण द. गुप्त य. उत्तर
अकृत साक्षी प्रकार — अ. सहग्रामवासी ब. प्रधान न्यायाधीश स. नृप द. द्वतक उभयपक्षद्वारा समर्थित य. कुल्य परिवार के अन्य जन र. मध्यागत

(अ) कृतसाक्षी

किसी एक पक्ष द्वारा नियुक्त प्रमाणिक साक्षी कृतसाक्षी कहलाता था । यह पांच प्रकार के होते थे ।

१. लिखित साक्षी : जो अपना नाम व विवरण स्वयं लिखता हो ।
२. स्मारित साक्षी : जिसे बार-बार घटनाक्रम व स्थिति का ज्ञान कराया जाये ।
३. सकारण साक्षी : जो अचानक लेनदेन के समय उपस्थित हो जाये, तथा फिर घटना का साक्ष्य प्रस्तुत करे हो ।

---

१ मनु. ८.७२, ७०, ६८ साहसेषु च सर्वेषुस्तेयसंग्रहणेषु च। मनु. ८.७२; वाग्दंडयाश्चपारुष्ये नपरीक्षते साक्षिणः ॥ याज्ञ. २.७२; नारद ४.१८८ व १८९; अर्थशा. ३.११; गौ. १३.९; वि.ध.सू. ३.६ उशना उद्स्मृ.चं २, पृ. ७९; नारद ४.१९०-१९१; न पीडाकृतेनिबन्धः ॥ गौ.ध.सू. २.४.९; व्याधातेषुनृपाज्ञायाः संग्रहे साहसेषु च। स्तेयपारुष्ययोश्चैव न परीक्षेत साक्षिणः ॥ कात्या. मतसंग्रह - २५६

२ नारद ४.९९; १४९, १५७ से १६२; याज्ञ. २.६८ परमिताक्षरा; बृह.उद.स्मृ.चं. २, पृ. ७९

४. गुप्त साक्षी : जो पर्दे, दीवार, या गुप्त स्थान में छिपकर, लेनदेन की बातें सुने या घटना देखे ।

५. उत्तर साक्षी : लेनदेन या घटनाचक्र को जब ऐसे व्यक्ति से सुना जाये, जो पर्यटनार्थ दीर्घकालीन यात्रा पर गया हो, या कोई मरणासन्न हो ।

(ब) अकृत या अनियुक्त साक्षी

जिन्हें नियुक्त नहीं किया जाता, परन्तु वे साक्ष्य की परिसीमा में प्रतिबन्धित साक्षी की भांति प्रभावी व मान्य होते थे । किसी भी पक्ष द्वारा नियुक्त न करने पर भी उनके विचार साक्ष्य के रूप में निर्विवाद रूप में मान्य थे । यह छः प्रकार के होते थे ।

१. सहग्रामवासी : सीमाविवाद के अभियोगों मे एक ही ग्राम के निवासी, सहग्राम वासी साक्षी होते थे । उन्हें दीर्घकालीन भोग का विशुद्ध ज्ञान होता था ।

२. प्रधान न्यायाधीश : विवाद का निर्णय देने के पश्चात् प्रधान न्यायाधीश स्वयं में विवाद का सशाक्त एवं प्रबल साक्षी होता था ।

३. नृप : नृप के सम्मुख परीक्षित अभियोग में नृप अकृतसाक्षी होता था ।

४. कार्यमध्यगत : जो व्यक्ति पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष के लेनदेन के मध्य उपस्थित रहता था ।

५. उभयपक्ष समर्थित : जिसे दोनों पक्षों की अनुमति प्राप्त रही हो । या दोनों पक्षों द्वारा व्यवहारार्थ प्रेषित किया गया हो ।

६. कूल्य या परिवार जन : सम्पत्ति-विभाजन-सम्बन्ध में परिवार के अन्य सदस्यगण ।

बृहस्पति ने ग्यारह प्रकार के साक्षियों का विवरण देते हुए एक अन्य बारहवां साक्षी लेखित माना है । जिसका नाम व विवरण दूसरेसाक्षियों की उपस्थिति में लिखा जाये उसे लेखित साक्षी कहते थे ।

(स) अवसर साक्षी

वे अनुमानित या तथ्यपूर्ण लक्षण, जिनके द्वारा अनुमान को बल मिलता था, तथा उनके द्वारा सत्य तक पहुंचा जा सकता था वे लक्षण या चिन्ह जो अभियुक्त

के अपराध या कृत्य की पुष्टि करें, अवसरसाक्षी कहलाते थे ।[1] अनुमान, तर्क और हेतु के द्वारा अवसर साक्षी की यथार्थता का प्रतिपादन होता था । युक्ति के आधार पर यह अपने में सबल व निर्विवादित प्रमाण समझा जाता था ।

१. अस्त्र-शस्त्र से युक्त तथ घायल अवस्था में चोरी के धन के साथ पकड़ा गया व्यक्ति स्तेय या साहस का अपराधी माना जाता था ।[2] २. किसी युवती या रमणी या परस्त्री के बालों के साथ क्रीड़ा करना, या उपहास करना स्त्रीसंग्रहण या परस्त्रीगामी का प्रतीक होता था ।

३. गृहसमीप हाथ में जलती लकड़ी लिये खड़ा रहने वाला व्यक्ति आग लगाने वाला तथा मृत व्यक्ति के समीप सशस्त्र पकडे जाना, हत्या करने वाला समझा जाता था ।

स्पष्ट होता है कि प्रथम, अस्त्र-शस्त्र व घायलस्थिति, द्वितीय, में परस्त्री के बालों से क्रीडा या उपहास, तृतीय में जलती लकड़ी आदि चिन्ह अवसर साक्षी समझे जाते थे ।[3]

अवसरसाक्षी में निम्नलिखित कारण हो सकते थे ।

१. आग लगाना	:	हाथ में जलती लकड़ी हो ।
२. हिंसा (हत्या)	:	मृत व्यक्ति के पास सशस्त्र व्यक्ति का होना ।
३. स्त्रीसंग्रहण	:	रमणी बालों के साथ क्रीड़ा करना, उपहास करना, ओठों पर, मुख पर, नखदन्त के चिह्न होना ।
४. जलाशय का बांध तोड़ना	:	हाथ में कुदाल का होना ।
५. वृक्ष काटना	:	वृक्ष-समीप में कुल्हाड़ी का होना ।
६. आक्रमण करना	:	हाथ में रक्तरंजित तलवार या गदा का होना । आदि ।

उपरोक्त प्रकार के अपराध सम्बन्धित लक्षणों व परिस्थितियों से प्रमाणित हो जाते थे ।

इस प्रकार की परिस्थितियां, अभियुक्त के अपराध को स्वयमेव प्रमाणित कर देती थीं । परन्तु इस प्रकार की दशाओं में निर्णय करने में सतर्कता का ध्यान

---

१ नारद ४.२३५ से २३८ तक

२ वसिष्ठ १९.३९; मत्स्यपुराण २२७.१६६; मनु. ९.२७०

३ अर्थशा. ४.१२; याज्ञ. २८३

रखना पड़ता था। कभी-कभी विद्वेष के कारण एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को फंसाने हेतु कपटपूर्ण परिस्थितियों का जाल रच सकता था। महर्षि माण्डव्य "जो चोर नहीं थे अपितु मौन रहने के कारण, मारपीट से बचने हेतु, उन्हे भी चोर के रूप में दण्ड भुगतना पड़ा था।"[१] निर्णय पर पहुंचने से पूर्व युक्तिपूर्वक विचार करना, स्मृतिकारों ने आवश्यक समझा था।[२] भ्रामक निर्णयों के प्रति स्मृतिकार परिचित व सतर्क थे। क्योंकि शिष्ट व सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी अचानक या अज्ञानतावश, चोरपथ से जा सकता था। अथवा चोर शीघ्रता वश अपनी रक्षा हेतु चोरी माल को सत्पुरुष या निर्दोषी के अधिकार क्षेत्र में भी डाल सकता था। इन दोनों परिस्थितियों में यद्यपि अवसर साक्षी विद्यमान रहती थी, तथापि व्यक्ति निर्दोष ही समझा जाता था, चोर नहीं।

युक्ति से यही प्रयोजन है। समीचीन परिस्थितियों के उपलब्ध होते हुए भी देखना चाहिये कि सम्बन्धित व्यक्ति जिसकी अवसर साक्षी विद्यमान है वह अकृत्य कर सकता था अथवा नहीं।

साक्षी - आह्वान

पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष दोनों ही अपने-अपने साक्षियों की सूची न्यायालय में उपस्थित करते थे। साक्षी को बुलाने हेतु न्यायालय लिखित आदेश प्रेषित करता था। न्यायालयादेश पर साक्षी की उपस्थिति अनिवार्य होती थी। परन्तु वेदज्ञ ब्राह्मण को न्यायालय लिखित आदेश पर भी साक्ष्य के लिए बाध्य नहीं कर सकता था। विद्वान को निरर्थक कष्ट न दिया जाये, सम्भवतः यही भावना कार्य करती रही थी।[३]

सर्वप्रथम पूर्वपक्ष के साक्षी सुने जाते थे। पूर्वपक्ष के पश्चात् उत्तर पक्ष अपने को निर्दोष सिद्ध करने हेतु अपने साक्षी उपस्थित करता था। दोनों पक्ष, स्व-स्व पक्ष के साक्षियों का उल्लेख अपनी प्रथम लिखित सूची में ही करते थे। यदि अभियोग का परीक्षण प्रारम्भ हो गया है, और आवश्यक साक्षी की सूचना पूर्व पक्ष ने नहीं दी है तो बाद में वह अपनी साक्षी उपस्थित नहीं कर सकता था। पूर्वपक्ष सबल साक्षी को अभियोग के मध्य उपस्थित नहीं कर सकता था उसे उपस्थित करने से वंचित कर दिया जाता था। परन्तु पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष अभियोग के प्रारंभ मे

---

१ यथा हि माण्डवः कर्मकलेशा भयादचोरश्चोरोऽस्मीतिब्रुवाणः॥ अर्थ. ४८ अचोरश्चोरतां प्राप्तोमाण्डव्यो व्यवहारतः॥ बृह.उद.स्मृ.चं.२, पृ. २५; नारद १.४२

२ केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः। युक्तिहीनविचारे हि धर्महीनिः प्रजायते॥ अर्थ. ४८१

३ गौ.ध.सू. १.४४; वि.ध.सू. ८.३७; अर्थ. ३.१; अग्निपु.अ. २५३; मनु. ८.१०७; याज्ञ. २.७७, ३.११

समय की मांग कर, नवीन व सबल साक्षी उपस्थितकर सकते थे । पूर्व पक्ष साक्ष्यों की त्रुटियों के कारण भी नवीन साक्षी प्रस्तुत करने का आवेदन न्यायालय में दे सकता था ।[१]

यदि साक्षी बुलाने पर भी न्यायालय में साक्ष्य देने हेतु, न आवे तो उस पर २४ पण का दण्ड लगता था ।[२]

साक्षी की प्रामाणिकता

साक्षी जिस समयय न्यायालयय में अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने के निमित्त उपस्थित होता था तो उस समय विपक्षी साक्षी के दोष व अयोग्यता को लिखित रूप में प्रस्तुत कर देता था । साक्षी को दोषों का उत्तर देना पड़ता था । यदि साक्षी अपने ऊपर लगे दोष को सकार जाता था तो उसे साक्ष्य देने से वंचित होना पड़ता था । यदि दोष प्रमाणित न हो पाता तो साक्षी अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने में अधिकृत होता था ।[३]

साक्षी की साक्ष्य प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाने पर विरोधी पक्ष, साक्षी के विपरीत दोष व्यक्त नहीं कर सकता था । दोष प्रमाणित न होने पर, दोषारोपणकर्ता पक्ष पर विवाद के धन के बराबर दण्डदेय होता था ।[४]

प्रमाणित साक्षी का भोजन व मार्ग व्यय निर्धारित होता था । साक्षी सम्बन्धी सम्पूर्ण व्यय (उभयपक्षों का) पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष से संबंधित पराजित व्यक्ति को वहन करना पड़ता था ।[५] प्रथम सम्पूर्ण व्यवस्था प्रशासन के आदेशानुसार स्व-स्व पक्ष को करनी पड़ती थी, परन्तु अभियोग समाप्ति पर पराजित पक्ष पर सम्पूर्ण व्यय दण्डस्वरूप लगाकर अविलम्ब प्राप्त किया जाता था ।

---

१ नारद १.६२; याज्ञ. २.७, ८०; मिताक्ष.उद्.स्मृ.चं.२ पृ. ९४; गौ.ध.सू. २.४८ - अनिबद्धरपिवक्तव्यम् ॥; वि.स्मृ. - वर्जितसाक्षिलक्षणव.

२ अर्थशा. ३.११

३ प्रमाणस्य हि ये दोषावक्तव्योस्तेविवादिना । गूढ़ास्तुप्रकटाः काले शास्त्रप्रदर्शनात् ॥ कात्या.मतसं. २७० ; साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदिप्रतिवादिना । पत्रेभिलेख्यतान्सर्वान् वाव्याः प्रत्युत्तरं तु ते ॥ व्यास उद्.स्मृ.चं.२ , पृ.८३ ;प्रतिपत्तो न साक्षित्वमहंति तु कदाचन । अतोन्यथा भावनीयाः क्रियया प्रतिवादिना ॥ व्यास वही

४ अन्येस्तुसाक्षिभिः साक्ष्येद्वषणेपूर्वसाक्षिणाम् । अनवस्थाभ्वेददोवस्तेषामप्यन्य सम्भवात् ॥ व्यास, उद्.स्मृ.चं., पृ.८३ लेख्यदोषास्तु ये केचित् साक्षिणां चैव ये स्मृताः । वादकाले तु वक्तव्याः पश्चादुकलान्न द्रषयेत् ॥ कात्या.मतसं २७१

५ अर्थशा. ३.१

साक्षी पर प्रतिबन्ध

साक्षी प्रतिबचन देने के उपरान्त साक्ष्य देने में यदि आनाकानी करता था, या साक्ष्य देना अस्वीकार कर देता था तो उस साक्षी पर पराजित दल द्वारा दिये जाने वाले अर्थदण्ड का आठगुना दण्ड देय होता था। यदि ब्राह्मण भी ऐसा ही अकृत्य करता था तो उस पर भी अर्थदण्ड लगता था। अर्थदण्ड न देने के कारण ब्राह्मण को देशनिष्कासन का दण्ड मिलने के साथ-साथ, उसके गृह को तोड़कर, मिट्टी में मिला कर चौरस कर दिया जाता था।[१] इस प्रकार के साक्षी को असत्य साक्षी से निकृष्ट माना जाता था।[२] यदि विवाद की स्थिति से परिचित साक्षी, साक्ष्य न देवे, तथा विवाद परीक्षण काल में बराबर मौन बना रहे, तथा किसी साध्य या असाध्य रोग से पीडित भी न होवे, उस पर किसी प्रकार की आपदा भी न होवे, तो ऐसे व्यक्ति पर विवाद के धन का १.१० भाग दण्डरूप में देय होता था।[३]

जिन-जिन साक्षियों को न्यायधीश नहीं बुलाता था, उन्हें साक्ष्य के सम्बन्ध में मौन रहना पड़ता था। बुलाये जाने पर न बोलने वाला अथवा अन्यथा बोलने वाला साक्षी दोषी होता था।[४] साक्षी को सत्य ही बोलना पड़ता था। स्मृतिकारों का ऐसा विश्वास था कि सत्य बोलने पर स्वर्ग, असत्य बोलने पर नरक (दुःख) की प्राप्ति अवश्यं भावी होती थी।[५]

साक्षी : शपथ

प्रत्येक साक्षी को साक्ष्य देने से पूर्व नग्न-सिर, नग्न-पैर, अपना दांया हाथ उठाकर, गोबर, कुश, स्वर्ण को स्पर्श करते हुए, सत्य साक्ष्य हेतु न्यायालय में, न्यायाधीश की उपस्थिति में, शपथ ग्रहण करनी पड़ती थी। अग्नि तथा जल, की भी शपथ लेनी पड़ती थी। शपथ से पूर्व वर्णानुसार साक्षियों से निम्न प्रकार न्यायाधीश कहता था :—

१. ब्राह्मण साक्षी से - तुम असत्य कहोगे तो, तुम्हारी सत्यता नष्ट हो जायेगी। अतएव सत्य के लिये सत्य बोलो।

२. क्षत्रिय साक्षी से - तुम्हारे असत्य कथन से तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र एवं वाहन फलहीन हो जायेंगे। तुम्हारा पौरुष भी नष्ट

---

१ याज्ञ. २८२ - यः साक्ष्यं श्रावितोन्येभ्योनिह्नन्तेतत्तमोवृतः। स दाप्योष्टगुणं दण्डं ब्राह्मण तु विवासयेत्॥ अग्निपु. अ. २५५

२ नारद ४.१९७

३ मनु. ८.१०७; याज्ञ. २.७६, ७७; कात्या.

४ नासमवेतापृष्टाः प्रब्रूसः। गौ.ध.सू. २.४.५; अवचनेऽन्यथावचने च दोषिणः स्युः गौ.ध.सू. २.४.६; अर्थ ३.११

५ स्वर्गः सत्यवादनेविपर्ययेनरकः॥ गौ.ध.सू. २.४.७; मनु. ८.१०१

हो जायेगा। अतएव अपने पौरुष्य व आयुधों तथा वाहन की शपथ लेकर सत्य कहो।

३. वैश्य साक्षी से - यदि तुम असत्य बोले तो तुम्हारा सम्पूर्ण धन, (पशु, अन्न, स्वर्ण), विनिष्ट हो जायेंगे, तुम रंक हो जाओगे। अतएव अपने सम्पूर्ण धन की शपथ लेकर सत्य बोलो।

४. शूद्र साक्षी से - असत्य कथन के कारण सम्पूर्ण पाप तुम्हारे पल्ले पड़ेगें, ये पाप तुम्हें मूलतः नष्ट कर देंगें। अतएव स्व-सर छूकर शपथ लेकर सत्य बोलो।

शपर्थ का पूर्ण लक्ष्य साक्षी को सन्देह-निवारणार्थ सत्य कहने हेतु प्रतिबाधित करना होता था।[1]

साक्षी द्वारा, शपथ ग्रहण के उपरान्त न्यायाधीश साक्षी को सत्य कथन की महत्ता, उपयोगिता, सत्य कथन से प्राप्त् लाभ का उल्लेख उपदेशात्मक स्थिति में करता था। साथ-साथ असत्य साक्ष्य के दोषों, परिणामों का ज्ञान शास्त्रीय आलेखों के आधार पर कराया जा सकता था। विभिन्न प्रकार के उदाहरण देकर साक्षी को सत्य के कथन हेतु प्रेरित किया जाता था।

जो लोक, पातकी, महापातकी, हिंसक, आग लगाने वाले, को प्राप्त होते हैं वे ही असत्य कथन साक्षी को मिलते हैं। असत्य कथन से पुण्य नष्ट हो जाता है। असत्य भाषण से सम्पूर्ण पाप मानव को नष्ट कर देते हैं। मित्रद्रोही, कृतघ्न को जो लोक मिलता हैं वह असत्य कथन के कारण तुम्हें मिलेगा। तुम्हारे सम्पूर्ण पुण्य कुत्तों को प्राप्त हो जायेंगें। असत्य साक्षी नरक में जाता है। एक-सौ जन्म पर्यन्त

---

१ आ प.ध.सू. २.२.२९.७, २.११.२९.७; पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धऽपामन्ते राजवत्युभयतः समाख्याप्य सर्वानुमते मुख्यं सत्यं प्रश्नं ब्रूयात्। आ प.ध.सू. २.११.१९.६; याज्ञ. २.७३ मिता.; मनु. ८.७९,८०,८७,८.११३,११४; ब्रूहीति ब्राह्मणंपृच्छेत्सत्यं ब्रूहीतिपार्थिवम्। गौ बीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥ मनु. ८.८८; शत्येन शापये द्विप्रं क्षत्रियंवाहनायुधैः। गौबीजकांचनैर्वैश्यं शूद्रं सवस्तुपातकैः मनु. ८.११३ नारद ४.१९८; गौ. १३.१३; अर्थ. ३.११; विहायोपनदुष्णीर्ष दक्षिणं बाहुमुद्धरेत्। हिरणयगोश्कृददर्भन् सामादाय ऋतं वदेत्॥ बृह. उद्.सरस्वतीविलास, पृ. १५७; प्राङ्मुखोवस्थितः साक्षी शपथेः शापितः स्वकैः॥ हिरण्य _ दर्भानुपस्पृश्यवदेदृताय॥ वशि.उद्.पराशर माध्वीय ३, पृ. ११२; साक्षिण्श्चहुयादित्यो दैयकृताशपथानपृच्छेत्। ब्रूहि - इति ब्राह्मणंप्रच्छेद्॥ सत्यं ब्रेहीतिराजन्यम्। गौबीजकांचनवैश्यम्। सर्वमहापातकैस्तुशुद्रम्॥ वि.स्मृ.सर्जितसा.ज दैवब्राह्मणसानिध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान्। उदधमुखन्प्राङ्मुखान्वापूवाहणें वे शुचिः शुचीम्॥ कात्या; आष्टयसाक्षिणःपृच्छेन्नियम्यं शपथेभूषाम्। समस्तान् विदिताचा रान् विज्ञातार्थान् पृथक्पृथक्॥ कात्या.

वरूण देवता के समीप निष्ठुरता से बंधा रहना पड़ता है। असत्य कथन मात्र से गंगा व कुरुक्षेत्र भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते। असत्य साक्षी, नग्न मूंड मुंडाये भूखप्यास से पीड़ित, अन्धा होकर शत्रु कुल में भिक्षा मांगता है। असह्य पीड़ा की मूल असत्य भाषण है। असत्य साक्ष्य के कारण अनेक पीढ़ियां विनिष्ट हो जाती हैं। विभिन्न प्रकार की हिंसा ओंका पाप तथा विभिन्न प्रकार के नरकों की प्राप्ति होती है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के पुण्य असत्य कथन से नष्ट होते हैं।[1] — इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण मनुस्मृति अध्या. ८ तथा गौ.ध.सू. में विद्यमान है, जिसे विस्तारभय के कारण लिखा जाना यहां उपयुक्त नहीं है।

वादी-प्रतिवादी के उपस्थित अभियोग से सन्बन्धित जो तुमने अपने नेत्रों से देखा व कानों से सुना है उस सम्बन्ध में तुम जो कुछ जानते हो, सत्य सत्य कहो,, इस अभियोग में तुम्हारी साक्षी है। सत्य कथन से ऊंचा लोक, यश, सर्वान्तर्यामी परमात्मा, देवता, ऋषि, योगी, देखते रहते हैं। आकाश, पृथ्वी, जल, जीवात्मा, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, रात्रि, संध्या, कर्मफलदाता यमराज सब कर्मो को देखते हैं।[2]

साक्षीगण अपने को अकेला मत जाने, पाप व पुण्य कृत्यों को देखने वाला ईश्वर प्रत्येक साक्षी के हृदय में विद्यमान है।[3] सत्य से चन्द्रमा प्रकाश देता है। सत्य से पवन बहती है। सत्य से पृथ्वी सबका भार धारण करती है। जल और अग्नि की स्थिति सत्य से है। आकाश, देवता, और यज्ञादि सब सत्य को शक्ति में स्थित हैं। हजार अश्वमेध यज्ञों से, एकसत्यभारी है।[4] अतएव सत्य साक्ष्य करो। सब कुछ जानते हुए यदि मौन व शांत रहोगे तो इस कूटसाक्ष्य माना जायेगा फलतः दण्ड के भागी बनोगे।[5]

---

१ वि.ध.सू. ८.२४-२७; गौतम - १३.१४-२३; २.४.१४-२२; नारद. ४.२०१-२२८; वसिष्ठ १६.३२-३४; बौ.ध.सू. १०.१९.९-१५; याज्ञ. २.७३-७५; मनु. ८.८८ - ब्रह्मध्नो ये स्मृता लोकाये च स्त्री बालधातिनः। मित्र द्रुहः कृतघ्नश्चते तेस्यु ब्रूवतोमृणः॥ ८.८९ जन्मप्रभृतियत्किंचित्पुण्यं भद्रं त्वयाकृतम्। तत्ते सर्व शुनोगच्छेद्यादिब्रू यारुत्वमन्यथा॥ मनु. ८.९०; नग्नोमुण्डः कपालेन भिक्षार्थक्षुत्पिपासितः। अन्धशत्रुकुलंगच्छेद्यः साक्ष्यमनुतं वदेत्॥ मनु. ८.९३; मनु. ८.७५, ८२, ८९, ९२, ९४, ९५, ९७-१०१; बौ.व्रशि. ३५२, ३५३, ३५६; आप.ध.सू. २.२९.९-१०

२ यत्रानिवर्द्धापक्षिते शृणुयाद्विपिकिंचन। दृष्टस्तत्रामितदब्रूयाद्यथा दृष्टं यथाश्रुतम्॥ मनु. ८.७६; ८०, ८१, ८३, ८५, ८६

३ मनु. ८.९१.९२

४ सौक्षिणश्चसत्येनपूजयन्ते। वि.स्मृ.वर्जितसा.लक्षण.वर्णनम्। अश्वमेधसहस्त्रं च सत्य व तुल्या धृतम्। अश्वमेधसहस्रादि सत्यमेव विशिष्यते। वि.स्मृ. वही

५ जानन्तोऽपि हि ये साक्ष्ये तुष्टीम्भूता उपास्ते। ते कूट साक्षिणां पापैस्तुल्यादण्डेन वाप्यथ॥ वि.स्मृ.वही

३. इस उपदेश को देने के पश्चात् न्यायधीश साक्षियों का साक्ष्य सुनता था। साक्षियों से प्रश्न-प्रति-प्रश्न पूछे जाते थे। पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के साक्षियों के कथनों को लेखबद्ध किया जाता था। सन्देहपूर्ण बातों को लेखबद्ध नहीं किया जाता था।[१]

असत्यसाक्षी लक्षण

साक्षी का साक्ष्य देते समय एक स्थान पर स्थिर न रहता, अपने गलफर चाटना भाल पर पसीना आ जाता, उसके चेहरे का रंग फीका पड़ जाता, गला सूख जाता, साक्ष्य देते देते उत्तर न दे पाता, अपने ओष्ट पिचकाता रहता, या ओष्ठों को काटता रहता, तो उसे असत्य साक्षी मान लिया जाता था।[२] साक्षियों के सत्य भाषण की परीक्षा उनके कथन, कांति परिवर्तन, नेत्रों के हाव-भाव आदि से की जाती थी।[३] सत्य कथन छिपाने पर भी साक्ष्य को असत्य व अप्रामाणिक मान लिया जाता था।[४] लोभ, भय, भ्रम, मित्रता, वासना, क्रोध, व अज्ञानता के वशीभूत साक्ष्य असत्य माने जाते थे। साक्ष्य देने के सात दिन के अन्दर यदि साक्षी रोगग्रस्त हो जाता है, या उसके गृह में आ लग जाती है या उसके निकटव्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उसका साक्ष्य कूटसाक्ष्य माना जाता था।[५] उसकी पूर्व दी गई साक्षी रद्द कर अग्रिम साक्षी रोक दी जाती थी। साथ-साथ उसका अपमान कर, उसे दंडित किया जाता था। असत्य साक्षी के कारण निर्णीत विवाद को रद्द मान लिया जाता था। पुनः अभियोग का परीक्षण दूसरे साक्षियों से किया जाता था।

असत्यसाक्षी पर दण्ड

असत्य या कूट साक्षी को एक-सौ पण से लेकर चार-सौ पण तक दण्ड देने का प्रचलन था। सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन कर देश निष्कासन का दण्ड कूटसाक्षी में दिया जाता था।[६] साक्षी द्वारा एक सप्ताह में सत्य का उद्घाटन न करने पर १२

---

१ मनु. ८.७८, ७९

२ अग्निपु.अ. २५३, श्लोक ४२, ४३; याज्ञ. २.१ से १५

३ मनु. ८.२५; नारद ४.१९३-१९६; वि.धघ.सू. ८.१८

४ शा.पर्व १०९.१८

५ आ प.ध.सू. २.११.२९८, ९; गौतम १३.७; मनु. ८११८ अनृते राजादण्डं प्रणयते ॥ आ प.ध.सू. २.२९८; मनु. ८.११७

६ मनु. ८.१२०-१२३; अग्निपुराणअ. २५५; याज्ञ. २८१; कात्या. मतसं.२९२; मिथ्यावचने याप्योदण्डश्च साक्षी ॥ गौ.ध.सू. २.४.२३ कूटसाक्षिण इति प्रवास्येरन् ॥ अर्थ ३.११; येन कार्यस्य लोभेन निर्दिष्टाकूटसाक्षीणः। गृहित्वा तस्य सर्व स्वं कुर्यान्निविषयं ततः। २९६ कात्या.मतसंग्रह

पण दण्ड, देश-काल-कार्य के विपरीत बोलने पर क्रमशः प्रथम साहस, मध्यम साहस व उत्तम साहस का दण्ड, कूटसाक्ष्य में नाशित सम्पत्ति के धन का दसगुना दण्ड, विवाद में गतिरोध व विसंगति पैदा करने पर विचित्रवध का दण्ड दिया जाता था।[१]

असत्य साक्ष्य में शैथिल्यता

स्मृतिकारों का मुख्य लक्ष्य मानवरक्षा रहा था। श्रेष्ठ जनों की रक्षार्थ ही विधि विधानों की उत्कृष्ट योजना को संजोया गया था। यदि चारों वर्णों का कोई श्रेष्ठ या सत्यनिष्ठ व्यक्ति असत्य बोलने से मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता तो, ऐसे अवसर पर साक्षी का असत्य कथन प्रामाणिक मान लिया जाता था।[२] अधिक धन के नाश पर भी असत्य साक्षी प्रमाणित होती थी। यदि साक्षी असावधानीपूर्वक कुछ कह जाता था लो उसे अर्थ दोष में सम्मिलित नहीं किया जाता था, परन्तु शर्त यह थी कि उसके कथन से धर्म तथा लोक व्यवहार की हानि न हो[३] सके।

साक्ष्य की परितुलना

साक्षियों का बहुमत जो कुछ कहता था उसे प्रामाणिक माना जाता था। यदि दोनों ओर के साक्षियों की आधी-आधी साक्षी अर्थात् बराबर होती थी तो, ऐसे समय में चरित्रवान् व्यक्तियों के साक्ष्य को प्रमाणित माना जाता था। कौटिल्य ने औसत के आधार पर, यालवल्क्य ने गुणों के आधार पर साक्षी के कथनों को विजय का आधार माना था।[४] जिस पक्ष का प्रतिवेदन साक्षियों के द्वारा पूर्णतः सत्यसिद्ध होता था वह विजयी समझा जाता था। तथा जो पक्ष साक्षियों द्वारा असत्य प्रमाणित किया जाता था वह पराजित होता था। परन्तु याज्ञवल्क्य ने आगे बढ़कर व्यवस्था दी कि यदि किसी प्रतिवेदन का एकांश भी सत्य प्रमाणित होता है तो सम्पूर्ण प्रतिवेदन को सत्य समझा जाये।[५] पूर्व के साक्षियों के कथनों को बाद के

---

१ अर्थशा. ३.११

२ तद्वदन्धमतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथानरः। न स्वर्गाच्चयवते लोकाद्दैवीं वाच ददान्ति ताम॥ मनु. ८.१०३; शूद्रविट्क्षत्रिविप्राणां यत्रीत्रोत्कौभवेद्वथः। तत्र वकृव्यमनतं तद्वि सत्याद्वि सत्याद्विशिष्यते॥ मनु. ८.१०४ वर्णिनां हि वधो यत्रतत्रसादयनृतं वदेत्। याज्ञ. २.६३ यत्रवर्णिनांशूद्रविदत्रविप्राणां सत्यवचनेनवधः सम्भाव्यते तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् सत्यं न वदेत् याज्ञ. २८३ परमिताक्षरा। गौतम १३.२४, २५; वि.ध.सू. ८.१५; वसिष्ठ १६.३६; गौ.ध.सू. २.४.२४; शा.पर्व ४५.३५; १०९.४९; १६५.३० विवाहमैथुननमर्तिसंयोगेष्वदोषमकेऽनृतम्॥ गौ. २३.२९

३ गौ.ध.सू. २.४.१०, ११

४ मनु. ८.७३; याज्ञ. २.७८; नारद ४.२२९; वि.ध.सू. ८.३९; अर्थ. ३.११; अग्नि अ. २२५; याज्ञ. २.७८

५ याज्ञ. २.७९; नारद ४.२७, २३३; वि.ण.सू. ८.३६

दुगने साक्षी अपने कथनों से, अप्रामाणिक सिद्ध कर देवे तो पहले साक्षियों को कूटसाक्षी मान लिया जाता था।[१] कूट साक्ष्य को अप्रामाणिक समझा जाता था।

दिव्य प्रमाण

मानव प्रमाणों के अभाव में विवाद को निर्णीत करने वाली दैविक क्रियाओं या सामयिक क्रियाओं को दिव्य कहते थे।[२] जो अभियोग मानवप्रमाण से सिद्ध नहीं होते थे उनको दिव्यों के द्वारा तय किया जाता था। दिव्यों के द्वारा विवाद का परीक्षण एवं निर्णय शीघ्राति शीघ्र हो जाता था।

दिव्य का प्रचलन ऋग्वेद काल से प्रभावी रहा है। " दीर्घतमा की यह प्रार्थना कि दशगुनी लकड़ियां या इन्धन की अग्नि उसे न जला सके, वे नदियां जिनमें उसके हाथ-पांव बांध कर उसको फेंक दिया है, उसे डुबो न सके।"[३] "वह कुल्हाड़ी गर्म कर रहा है।"[४] "गर्म कुल्हाड़ी का पकड़ना।"[५] — आदि प्रसंग दिव्यों की आदिकालीन प्रामाणिकता प्रदर्शित करते हैं।[६]

न्यायिक प्रक्रिया में दिव्यों का अपना विशिष्ट महत्तव रहा था। सन्देह की निवृत्ति हेतु दिव्यों का प्रयोग, अभियोग के अंतिमचरण में किया जाता था। वादी-प्रतिवादी में से एक की सहमति पर दिव्य मान्य होता था।[७]

दिव्य-प्रकार

स्मृतिकारों ने निम्नप्रकार के दिव्यों का उल्लेख विवादों के निर्णयार्थ किया है।[८]

---

१ याज्ञ. २.८०

२ वि.ध.सू. ९.१; याज्ञ. २.९३ परमिता.; आ प.ध.सू. २.२९.७; का.मतसंग्रह १६६, १७२, १७४, १७६; याज्ञ. २.२२.२३

३ मा मामेधोदशतयश्चितोधाक् प्रयद्धांबद्धस्त्यनिखदतिक्षाम्॥ न मागरन्नद्योमातृतया दासा यदांसुसमब्धमवाधुः॥ ऋग्वेद १.१५८.४२५

४ ऋग्वेद ३.५३.२२; मनु. ८.११६

५ छा.उप. ६.१६.१, २

६ अथर्व. आदधामि ते पदं समिद्धेजातवेदासि। अग्निः शरीरं वेकेष्टकसुंवागपिगच्छतु॥ २.१२८; आ.ध.सू. २.११.२९.६; २.५.११.३

७ अग्निपुराण अ. २५५

८ मनु. ८.११४, नारद ४.२५१; याज्ञ. २.९५, ९६, ११३; वि.ध.सू. ९.१४; अग्निपुराण अ. २५५

१. तुला, २. अग्नि, ३. जल, ४. विष, ५. कोश (पवित्र किया हुआ जल = अभिमंत्रित जल)।

दिव्यों का प्रयोग

साक्षी, लेख एवं भोग प्रमाण तथा परिस्थितिजन्य प्रमाण के अभाव में दिव्यों का प्रयोग किया जाता था।[१] पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष दोनों की सहमति के उपरान्त ही दिव्य का प्रयोग हो सकता था। एक पक्ष द्वारा अस्वीकृत किये जाने पर दिव्य प्रमाण का प्रयोग नहीं हो सकता था। मानव प्रमाण, व दिव्य प्रमाण में प्राथमिकता मानव प्रमाण को ही मिलती थी। भले ही मानव प्रमाण अभियोग के अंशमात्र को प्रमाणित करता हो।[२] साहस, निक्षेप, मानहानि, एवं शक्ति प्रयोग, स्त्री की पवित्रता परखने, स्थावर सम्पत्ति, या गम्भीर या अधिक धनवानले विवादों में दिव्य का प्रयोग होता था। राजद्रोह या महापातकों में भी दिव्यों का सहारा लिया जाता था।[३]

तुला, अग्नि, विष, जल दिव्य का प्रयोग अधिक धनवाले विवाद में किया जाता था।[४] तुला का दिव्य स्त्रियों, अल्पवयस्कों, वृद्धों अपंगों, रुग्णों एवं ब्राह्मणों को; अग्नि का दिव्य क्षत्रियों को; जल का दिव्य वैश्यों को; एवं विष का दिव्य शूद्रों को विवादनिर्णय के लिए निश्चित रहता था।[५] व्रतधारियों, विपत्तिग्रस्त लोगों, तापसों एवं स्त्रियों, अल्पवयस्कों व वृद्धों को दिव्य से मुक्त रखा जाता था।[६] परन्तु याज्ञवल्क्य इससे सहमत नहीं थे। लुहारों एवं कोढ़ियो को अग्नि के दिव्य, मल्लाह को जल के दिव्य, तथा तान्त्रिक, मन्त्रप्रयोगकर्ता और योगी को विष दिव्य, शराबियों,

---

१ याज्ञ. २.२२; नारद २.२९; ४.२३९; प्रमाण हीने वादे तु निर्दोषा दैविकीक्रिया॥ बृह.उद्.स्मृ.चं. २, पृ. ५१; अग्निपुराण अ. २५५

२ नारद २.३०, ४.२४१; सम्भव साक्षिणां प्राज्ञो दैविकीं वर्जयेद्विक्रियाम् कात्या. मतसं.; अग्निपुराण.अ. २५५

३ यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणांनास्तिसम्भवः। साहसेपु विशेषण तत्र दिव्यानि दापयेत्॥ पितामह उद्.स्मृ.चं.२, पृ. ९५; नारद ४.२४२, २५७; याज्ञ. २.९५; वि.ध.सू. ९.२०; गूढसाहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्॥ कात्या.महसं., प्रक्रान्ते साहसे वा द्वेपारुष्ये दंडवाचिके। बलो द्भूतेपुकार्येपु साक्षिणी दिव्यमेववा॥ कात्या.; स्थावरेषु विवादेपु दिव्यानिपरिवर्जयेत्॥ पितामह उद्.याज्ञ. २.२२ परमि.अग्निपुराण अ. २५५

४ याज्ञ. २.९५; अग्निपुराण अ. २५५

५ याज्ञ. २.९८; नारद ४.३३५; अग्निपुराण अ. २५५

६ नारद ४.२५६; पितामह उद्.स्मृ.चं.२, पृ. १०३; कात्या.मत.३१२

जुआरियों, नास्तिकों को कोषदिव्य वर्जित रहा था।[१] पिता, माता, ब्राह्मण, गुरु, वर्णसंकरों कोदिव्य नहीं कराया जाता था।[२]

दिव्य प्रतिवादी को ग्रहण करना पड़ता था।[३] परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष में पारस्परिक समझौते द्वारा कोई एक पक्ष दिव्य ग्रहण कर सकता था।[४] परास्त पक्ष पर अर्थदण्ड या शारीरिक दण्ड देय होता था।

रविवार के दिन सूर्योदय या अपराह्न के समय मुख्य न्यायाधीश द्वारा सभ्यों या ब्राह्मणों के सम्मुख दिव्य ग्रहण कराये जाते थे। जल दिव्य दोपहर के समय, विष दिव्य रात्रि के अन्तिम प्रहर में होता था। अग्नि दिव्य वर्षाऋतु में, तुला शिशिर ऋतु में, जल दिव्य ग्रीष्म ऋतु में, विष दिव्य शीत ऋतु में, उपयुक्त समझा जाता था। जल दिव्य शीत ऋतु, अग्नि, ग्रीष्म में, विष वर्षा में तुला तीक्ष्ण वायु में निषिद्ध रहती थी।[५]

गम्भीर पापों में मन्दिर, राजद्रोह में राजद्वार, वर्णसंकरता में चौराहे पर, अन्य विषयों में न्यायालय ही दिव्य के लिए उपयुक्तस्थान माने जाते थे। निर्जनस्थानों को दिव्य के लिए प्रभावहीन माना जाता था। तुला दिव्य का प्रयोग न्यायालय, राजद्वार, मन्दिर या चौराहे पर ही किया जाता था।[६]

मुख्य न्यायाधीश तथा दिव्य ग्रहणकर्ता (शोध्य) को उपवास करना पड़ता था। दोनों को प्रातःकाल स्नान करना आवश्यक था। शोध्य गीले वस्त्र पहने रहता था। न्यायाधीश देवी देवताओं व धर्म की उपासना पूर्वाभिमुख होकर करता था। फिर एक स्वच्छ पत्ते पर दिव्य का उद्देश्य लिखकर शोध्य के सिर पर रखकर, देवताओं से कहता था कि आप मानव के कार्य से परिचित हैं।[७] तत्पश्चात निम्न प्रकार से दिव्य ग्रहण कराये जाते थे।

तुला दिव्य

वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ किसी पवित्र वृक्ष से दो स्तंभों को काट लिया जाता था। एक स्तम्भ को दो हाथ पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था। फिर दूसरे

---

१ कात्या.मतसं. ३१३, ३१६, ३१९; वि.ध.सू. ९.२५, नारद ४.२५५

२ कात्या.मतसं ३२१, ३१५

३ वि.ध.सू. ९.२१; अभियुक्तायदातव्यं दिव्य दिव्यं विशारदैः॥ कात्या. ३००

४ याज्ञ. २.९६

५ याज्ञ. २.९७, नारद ४.२६८, २५९, ४५४

६ नारद ४.२६५; कात्या.मतसं. ३२५, ३२६

७ याज्ञ. २.९७, ९९ परमिता; आदिपर्व महाभारत ७४.३; मनु. ८.८६; अग्निपुराण अ. २५५

स्तम्भ को पृथ्वी में गडे स्तम्भ पर पूर्व एवं पश्चिम रख दिया जाता था। तत्पश्चात् दोनों ओर स्तम्भ पर एक एक तुला पट को लटका दिया जाता था। शोध्य को तुला पर बैठा कर दूसरे पट को मिट्टी या प्रस्तर खण्ड रखकर बराबर भार कर दिया जाता था। फिर शोध्य को ताराजू से नीचे उतार कर निम्नरूप में प्रार्थना-वाक्य पढ़कर तुला को अभिमन्त्रित किया जाता था। "सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि, आकाश, भूमि, जल, हृदय, यम, दिन-रात्रि, दोनों संध्या, काल और धर्म ये सब मनुष्य के वृत्तान्त को जानते हैं।" पत्र पर दोष लिख कर अभियुक्त के सिर पर रख दिया जाता था।

"तुले ! तुम सत्य का धाम हो, पूर्व काल में देवताओं ने तुम्हारा निर्माण किया है। अतः कल्याणी ! तुम सत्य को प्रकट करो। मुझे संशय से मुक्त कर दो। मात ! यदि मैं पाप या अपराधी हूं तो मेरा पलड़ा नीचे कर दो। और यदि मैं दोष रहित हूं तो मुझे ऊपर उठा, दो।"

ततपश्चात् शोध्य तुला पर चढ़ता था। यदि तुला का पलड़ा भार वाले पलड़े से ऊचे उठ गया तो शोध्य को निर्दोष मान लिया जाता था। यदि शोध्य वाला पलड़ा भार वाले पलड़े से नीचे झुक जाता, तो शोध्य को अभियुक्त मानकर दण्डित किया जाता था।[१]

अग्नि दिव्य प्रमाण

अग्नि, वरुण, वायु, यम, इन्द्र, कूबेर, सोम, सविता, एवम् विश्वदेवों के नाम पर गोबर के ९ वृत्त पश्चिम से पूर्व बनाये जाते थे। प्रत्येक वृत्त १६ अंगुल व्यास का होता था। एक वृत्त से दूसरे वृत्त की दूरी भी १६ अंगुल व्यास की होती थी। एक वृत्त से दूसरे वृत्त की दूरी भी १६ अंगुल होती थी। प्रत्येक वृत्त में कुश रख दिये जाते थे। शोध्य को अपना पांव प्रत्येक वृत्त में रखना पड़ता था।

५० पल तोल का लोहपिण्ड या गोला, लुहार द्वारा तपा भीषण लाल किया जाता था। गोले को गर्म करते समय १०८ बार धृत की आहुतियां दी जाती थीं। पत्र पर दोष लिखकर शोध्य के सिर पर रख दिया जाता था। फिर मन्त्रों के साथ अग्नि का आह्वान किया जाता था। शोध्य पूर्व को मुख कर वृत्त में खड़ा होता

---

१ तुला धारणविद्धभिदरभियुक्तस्तुलाश्रितः। प्रतिमानसमीभूतो रेखां कृत्वाऽवतारितः॥ याज्ञ. २.१००; त्वं तुले सत्यधामासि पुरादैवैर्विनिर्मिता। ततसत्यंवद कल्याणि। संशयान्मां विमोच्य॥ याज्ञ. २.१०१; यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधौनय। शुद्धश्चेद्गमयोध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत्॥ याज्ञ. २.१०२। नारद - तुलितौ यदि व्रर्धेत सशुद्धः स्यान्नसंशयः। समो वा हीयमानो वा न स शुद्धो भवेन्नरः॥ १.२८३; अल्पदोषःसनोशेयो बहुदोवस्तु हीयते॥ पितामह, उद्.याज्ञ. २.१०२ परमितक्षरा; नारद १.२८४ शिक्यच्छेदेतुलाभ्ङ्गे तथापि तु गणस्य वा। शुद्धेस्तु संशये चैव परोक्षेत पुनर्नरम॥ कात्या.मतसं ३३६

था। शोध्य व्यक्ति के हाथ में धान मल कर काले तिल के चिह्नों को देख लिया जाता था। उन चिह्नों को महावरादि से रंग भी दिया जाता था। तत् पश्चात् न्यायाधीश शोध्य के हाथों पर पीपल के सात पत्ते एक साथ ऊपर नीचे करके रख देता था। उन पत्तों को धागे से बांध दिया जाता था। फिर दिव्य ग्रहण-कर्ता अग्नि की प्रार्थना करता हुआ कहता था। :—

"अग्निदेव ! आप सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तः करण में विचरते हैं। आप सबको पवित्र करने वाले तथा सब कुछ जानने वाले हैं। आप साक्षी सदृश मेरे पुण्य और पाप का निरीक्षण करके सत्य को प्रगट कीजिये।"[1]

इसके बाद न्यायधीश चिमटे से तप्तलोहपिण्ड को शोध्य के पत्तियों से बंधे हाथ पर रहता था। शोध्य शनैःशनैः सात वृत्तों को चलते हुए पार कर आठवें वृत्त से नवें वृत्त में जाकर तप्त लोहपिण्ड को फेंक देता था। इसके बाद न्यायधीश शोध्य के हाथों को फिर चावलों से रगड़ता था। यदि शोध्य के हाथों पर किसी प्रकार का निशान या घाव दिखाई न देता तो शोध्य को निर्दोषी मान लिया जाता था। यदि लोहखण्ड मध्य में गिर जाता, या शोध्य लड़खड़ा पड़ता, अथवा हाथ में अन्यत्र जले का चिह्न बन जाता तो, शोध्य को पुनः दिव्य करना पड़ता था।

जल दिव्य प्रमाण[2]

न्यायाधीश् सरोवर के किनारे पहुंचकर जल देवता की अर्चना चन्दन, धूप-दीप, एवं पुष्प से करता था। फिर किसी पवित्र वृक्ष का एक स्तम्भ लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक वर्ण का एक व्यक्ति जो स्वयं में पवित्र

---

१ अग्निपुराण अ. २५५; नारद १.३१०, २८८, २८९; करौ विमृदितब्रीहेलंक्षयित्वा ततो न्यसेत्। सम्ताश्वत्थस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत्॥ याज्ञ. २.१०३; तवमग्ने। सर्वभूतानामन्ततश्चसिपाक्षकः। साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे। मम॥ याज्ञ. १०४; याज्ञ. २.१०३, १०४ परमिताक्षरा, मनु. ८.११४, ११५; तस्येत्युक्तवतोलोहंपन्वाशत्पलिकंसमम्। अग्निवर्ण न्यसेत्मिण्डं हस्तयोरुभयोरपि॥ याज्ञ. २.१०५; सतमादायसप्तैव मण्डलानि शनेर्वजेत्। षोडशाङ्गुलकं ज्ञेयं तावदन्तरम्॥ याज्ञ. २.१०६; मुक्त्वांग्निमृतदितव्रीहिरदग्धः शुद्धिमाप्नुयात्। अन्तरापतितोपिण्डे सन्देहे वा पुनहरेत्॥ याज्ञ. २.१०७; याज्ञ. २.१०६ परमिताक्षरा, पितामह उद्.याज्ञ. २.१०६ पर मिताक्ष. नारद १.२७५, २७६,,२९९; कात्यायन मतसंग्रह ३३५

२ मनु. ८.११४, ११५; सत्येंनमाभिरक्ष तवं वरुणेत्भिषाप्यकम्। नाभिदघ्नोदकस्थस्य गृहातवोरुजलं विशेत्॥ याज्ञ. २.१०८; समकालमिषुं युवतमानीयान्यों जवीनरः। गते तस्मिन्निमग्नाङ्ग पश्येच्चैछुद्धिमाप्नुयात्॥ याज्ञ.२.१०९; पितामहउद्.याज्ञ.स्मृ. २.१०९ मिता.; कात्या.मतसं. - शरांश्चनायसागास्तु प्रकुर्वीतविशुद्धये। वेणुकाण्डमयांश्चैवक्षेपता तु सुदृढ़ क्षिपेत। क्षिप्तषामज्जनं कार्य गमनं समकालिकम्। २३८; शिरोमात्रन्तुदृश्यते न कर्णौ नापिं नासिका। अप्सप्रवशनेयस्य शुद्धन्तमपि निर्दिशेत्॥ २३९

आचरणवान् होता था, को जल में, उसकी नाभि तक पानी तल के बराबर, पानी में पूर्वाभमुख खड़ा किया जाता था। परन्तु प्रतिबन्ध यह था कि जल में खड़ा होने वाला व्यक्ति शोध्य का शत्रु न हो। जल में खड़े व्यक्ति से १५० हाथ अर्थात् २२५ फुट की दूरी पर एक लक्ष्य निर्धारित किया जाता था। फिर न्यायाधीश शोध्य को जल में खड़ा करता था। शोध्य के सिर पर अपराध-विवरण पत्र रख दिया जाता था। शोध्य वरुण देवता की उपासना करता हुआ कहता था कि "हे वरुण देवता ! तुम सत्य द्वारा मेरी रक्षा करो।" इस प्रकार जल का आह्वान कर जल में खड़े पुरुष की जांच पकड़ कर पानी में गोता लगाता था। डुबकी लगाने के साथ ही लक्ष्य तक एक बाण छोड़ दिया जाता था। तत्पश्चात् एक तेज धावक बाण को वापिस लेकर जब तक लौटता था तब तक शोध्य पानी में डुबकी लगाये रहता था। यदि तेज धावक वापिस जाने पर डुबकी लगाये शोध्य को न देखे, तो शोध्य को पवित्र माना जाता था। यदि दिखाई दे जाये तो अपराधी सिद्ध होता था। इसके पश्चात् न्यायधीश द्वारा ताली बजाने पर पूर्ववत् खड़ा हो जाता था।

विष दिव्य प्रमाण[1]

शार्ङ्। श्रृगं पौधे से निकाले हुए। या वत्सनाभ। वत्सनामक पौधे से निकाले हुए। विष का प्रयोग विषदिव्य प्रमाण ग्रहण करने में किया जाता था। ऋतु के अनुसार विष की मात्रा निम्नप्रकार निर्धारित थी।

ग्रीष्म में ५ यव, वर्षा तथा शरद में ६ यव, हेमन्त में ७ यव विष देने का प्रतिपादन स्मृतिकारों ने किया था। विष का दिव्य रात्रि के अन्तिम भाग में होता था। यह दोपहर अथवा सन्ध्या काल में निषिद्ध था।

धूप, दीप से शिव की अर्चना कर निर्धारित विष में उसका तीस गुना धृत मिलाया जाता था। शोध्य विष की प्रार्थना करता हुआ यह कहता था कि

"विष ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो, और सत्यधर्म में अधिष्ठित हो, इस कलंक से मेरी रक्षा करो, तथा सत्य से प्रभावित मेरे लिये अमृतस्वरूप हो जाओ।"

तत्पश्चात् शोध्य विष का भक्षण करता था। विष्पान करने के उपरान्त शोध्य बिना अन्न-जल ग्रहण किये न्यायाधीश की सुरक्षा में रहता था। विष का

---

१ वि.ध.सू. १३.३; नारद ४.३३२;, १.३१९ - तौलयित्वेपिसतंकाले देयं तदिभहिमागमे। नापराहणे न मध्यान्हे न सन्ध्यां तु धर्मवित्॥ भ्रष्टं च चास्ति चैव धुपितं मिश्रितं तथा। थ कालकु३४टमलाबु च विषं यत्नेन वर्जयेत्॥ नारद १.३२१; ना. १.३२२, ३२३; अग्निपु.अ. २५५; वत्स नाभनिभम्पोतं वर्ण ज्ञानेन निश्चितं। शुक्ति श्रृङ्गा विद्यात् तद्वत्स नाभकम्॥ मकक्षीरसमायुक्तं स्वच्छं कुर्वीत तत्क्षणात्। बाह्यमेवं समाख्यातं लक्षणे धर्म साधकः। - कात्यामतसं. ३३०, ३३१ तथा ३३३, ३३४; त्वं विष। ब्रह्मणपुत्रः सत्यक्ष में व्यवस्थितः। जायस्वास्मादभीशापात्सत्येन भवमेऽमृतम्॥ याज्ञ. २.११०; एवमुक्त्वाविषं शाङ्गऽ भक्षयेद्धिम शैलजम्। यस्य वेगैर्विनां जीर्येच्छुद्धिं तस्य विनिर्दिशेत्। याज्ञ. २.१११; पर मिता.नारद २.।१० परमिता., पितामहमि.

प्रभाव न होने पर शोध्य को निर्दोष समझा जाता था। विष देने से पूर्व यह निरीक्षण कर लिया जाता था। कि शोध्य ने कहीं विष को प्रभावहीन करने हेतु विषमान औषध या मन्त्रों का प्रयोग तो नहीं कर लिया है। पूर्ण सन्तुष्ट होने पर ही विषपान कराया जाता था। ब्राह्मण को विषदिव्य से मुक्त रखा जाता था।

विष मात्रा के साथ-साथ शारीरिक स्वास्थ का परीक्षण भी विषदिव्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता था। विष देने से पांचदिन पूर्व ही शोध्य को न्यायिक देखरेख में नियन्त्रित कर दिया जाता था। भ्रष्ट, कपटियों को विष्पान नहीं कराया जाता था।

कोष दिव्य प्रमाण[1]

शोध्य को, रूद्र, दुर्गा आदित्य आदि उग्र देवताओं की अर्चना करनी पड़ती थी। फिर पूजित देवताओं की मूर्तियों को शुद्ध जल से स्नान कराना आवश्यक होता था। स्नान कराये गये या देवताओं के अभिषेक के जल को न्यायाधीश ले आता था। फिर उस जल से तीन अंजली जल दिव्यकर्ता को पिलाया जाता था। जल पीने से पूर्व शोध्य अभिषेक के जल की प्रार्थना करता हुआ कहता था कि :— 'सत्येन मामभि रक्ष त्वं वरुण।' शोध्य को जलपान कराने के पश्चात १४ दिन तक उस जल प्रभाव की प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। यदि चौदहवें दिनों के भीतर शोध्य किसी भयंकर बीमारी दैविक प्रकोप, धन नाश, या राजकोष से प्रभावित न होता था तो उसे निर्दोष मान लिया जाता था। थोड़ी हानि अपरिहार्य होती थी। परन्तु व्यसनी व नास्ति को कोषदिव्य नहीं कराया जाता था।

तण्डुल दिव्य प्रमाण[2]

धान के चावलों को निकाल कर, मिट्टी के बर्तन में रखकर, सूर्य की धूप में उनको सुखाया जाता था। फिर पूजा का कृत्य पूर्ण कर, सूर्य स्नान के जल में उन चावलों को भिगोकर रात्रिभर भीगा रहने दिया जाता था। दूसरे दिन प्रातःकाल शोध्य चावलों को तीन बार मुख में डाल कर अन्दर निगल जाता था। इसके पश्चात् पीपल या भोत्रपत्र पर शोध्य को थूकना पड़ता था। थूकते समय यदि शोध्य के मुख से रक्त निकले तो उसे दोषी समझा जाता था और रक्त न निकलने पर उसे

---

१ अग्निपुराण अ. २५५; वि.ध.सू. १४.४-५; नारद १.३२८, ३३१, ४.३३०; देवनुग्रान्समभ्यर्च्य तत्स्नानोदकमाहरेत। संस्त्राव्यपाययेरूतस्माज्जलं तु प्रमृतित्रयम्॥ अर्वाक् चतुर्दशदहनोयस्यनो राजदैविकम्। व्यसनं जायते घोरं स शुद्धः रुयान्नसंशयः॥ याज्ञ. २.१२२, ११३; याज्ञ. २.११२-११३ परमिताक्षरा; कात्या.मतसं. ३३७ से ३४०

२ याज्ञ. २ : दिव्यप्रकरण पर मिताक्षरा

पवित्र मान लिया जाता था । चोरी, ऋणादि के अभियोगो में यह दिव्य कराया जाता था ।

तप्तमांष दिव्य प्रमाण[१] : गर्मस्वर्ण-खण्ड

प्रथम विधि :— सोलह अंगुल व्यास परिधि तथा चार अंगुलगहरे ताम्र, लोह या मिट्टी के बर्तन में बीसपल घृत या तेल ड़ालकर, उसे न्यायधीश के संरक्षण में खोला या गर्म किया जाता था । उस तप्त तेल या घृत में न्यायाधीश एक मासा तोल का स्वर्णखण्ड ड़ाल देता था । - अंगूठे के पास की दो अंगुलियों से शोध्य को स्वर्णखण्ड निकालना पड़ता था । स्वर्ण निकालते समय यदि शोध्य की अंगुली न जले या कम्प न हो तो शोध्य को पवित्र मान लिया जाता था ।

द्रितीय विधि :— किसी सोने, चांदी, ताम्र या मृत्तिका-पात्र में गायघृत को इतना तपाया जाता था कि उसमें यदि हरी पत्ती डाल दी जाये तो वह चरमरा उठती थी । उस तप्त घृत सोने, चांदी, या ताम्र की अगुंठी को शीतल जल में धोकर ड़ाल दिया जाता था । फिर, न्यायाधीश तप्त घृत को सम्बोधित करते हुए प्रार्थना करता था । कि, "हे ! घृत तुम यज्ञों में पवित्रतमवस्तु हो, तुम अमृत हो, यदि शोध्य पापी है, तो उसे जला दो, यदि वह पवित्र है तो हिम सदृश शीतल हो जाओ" । इसके पश्चात् शोध्य खोलते हुए घृत से अंगुठी निकालता था । अंगूठी निकालने के पश्चात् यदि तर्जनी अंगुली पर जलने के चिन्ह दृष्ठिगत न हो, तो शोध्य का पवित्र मान लिया जाता था ।

धर्म-अधर्म दिव्य प्रमाण[२]

धर्म की रजत मूर्ति तथा अधर्म को लोहमूर्ति का निर्माण किया जाता था । अथवा श्वेत रंग से धर्म तथा काले रंग से अधर्म का चित्रस्वयं न्यायाधीश भोजपत्र या वस्त्रखंड पर बनाता था । इन चित्रों या मूर्तियों पर पंचगव्य (धृत, दूध, दही, गौमूत्र, गोबर) को छिड़का जाता था । श्वेत पुष्पों से धर्म की तथा कृष्ण पुष्पों से अधर्म की पूजा की जाती थी । इसके पश्चात् न्यायाधीश ब्राह्मणों की उपस्थिति में दोनों चित्रों अथवा मूर्तियों को मिट्टी के एक बर्तन में रख देता था । उस बर्तन को गोबर से लिपे हुए स्थान पर रखा जाता था । तत्पश्चात न्यायाधीश धर्म का आह्वान कर, एक पत्र पर अपराध लिखकर शोध्य के सिर पर रख देता था । शोध्य प्रार्थना करता हुआ कहता था कि - "यदि मैं निरपराधी हूं तो धर्म की मूर्ति या चित्र मेरे हाथ में आजाये" फिर शोध्य मिट्टी के बर्तन से एक चित्र निकालता था । यदि धर्म का चित्र अथवा मूर्ति निकल जाती तो, शोध्य को निर्दोष मान लिया जाता था ।

---

१ याज्ञ. २- दिव्यप्रकरण पर मिताक्षरा; नारद १.३३४

२ याज्ञ २ दिव्य प्रकरण पर मिताक्षरा

विवाद के निर्णयार्थ न्यायिक प्रक्रिया में निम्नांकित तत्व मूल रूप में अपेक्षित माने जाते थे ।[१]

१. अपराध के सच्चेस्वरूप की प्राप्ति । (अपराध को देख लिया हो) ।

२. प्रतिवादी द्वारा अपराध की स्वीकृति ।

३. पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के प्रश्नों का सुगमता से उत्तर-प्रत्युत्तर ।

४. युक्तिपर्वक कारणप्रदर्शन (कारणों को प्रस्तुत करना) ।

५. शपथ अथवा दिव्यप्रक्रिया ।

उक्त पांचों तत्व की पूर्णता, अभियोग परीक्षण प्रक्रिया को पुष्ट व प्रामाणिक कर देती थी । तब अभियोग निर्णय देने, लेने या पाने की स्थिति में पहुंच जाता था ।

न्यायिक उदाहरणः

अभियुक्त (चोर) को प्रशासन अपने साधनों द्वारा प्रतिबन्धित करता था । तदपि इस सम्बन्ध की न्यायिक प्रक्रिया निम्नप्रकार दृष्टव्य है :—

राज्यकर्मचारी चोर के हाथ बांध कर न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित कर, निम्नप्रकार निवेदन करता था, कि "श्रीमान्, इस अभियुक्त में धन-अपहरण किया है । इसलिये परशु तपाने का आदेश प्रदान करें ।"

न्यायाधीश - इस अभियुक्त ने क्या किया है ?

राज्यकर्मचारी - पूर्वपक्ष की ओर संकेत करते हुए, इसने 'इस पक्ष का धन चुराया है' ।

न्यायाधीश - क्या धनमात्र लेने से बन्धनयोग्य हो गया ? प्रमाण प्रस्तुत किये जायें ।

अपराधी - मै चोर नहीं हू श्रीमन् । (ऐसा कहकर अपना दुष्कर्म छिपाता है) ।

न्यायाधीश - सन्देह की दृष्टि से तुमने चोरी अवश्य की है । (अपराधी अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करता है)

न्यायाधीश - दण्ड देने वाले अधिकारी को आदेश देते हुए, नयायाधीश कहता था । कि - "परशु तपाओ । अपराधी चोर है अथवा सत्यवादी, इसकी प्रामाणिकता चोर द्वारा तपते हुए परशु को हाथ में पकड़ा कर की जायेगो ।"

---

१ अर्थ. ३.१

परशु पकड़ कर व्यक्ति का हाथ न जलने पर निर्दोषी तथा हाथ जलने पर अपराधी मान लिया जाता था। इस प्रकार दिव्य से न्यायिक परीक्षण कर निर्णय की दशा में व्यवहार सिद्ध हो सकता था।

बुद्धकाल में न्यायिक प्रक्रिया को सुलभ व गतिमान बनाये रखने हेतु अपराधों की पूर्ण जांच 'विनिश्च महामात्र' नामक न्यायाधीश करता था। 'व्यवहारिक' राजकीय वकील के रूप में जांचपड़ताल के समय अपना पूर्ण सहयोग देता था। सूत्रधार नामक विधिशास्त्री धर्म-कर्म-नीति-रीति एवं परम्परा व नियम की व्यापकता, परिवर्तनशीलता की व्याख्या करता था। न्यायधीश व्यवहारिक संवैधानिक स्थिति से पदे-पदे अवगत कराता था।

इसके पश्चात् अपराधी को अष्टकुल के नौ सदस्यों की न्यायसमिति के सम्मुख पूर्ण विवरण के साथ भेज दिया जाता था। अपराधी को दिये जाने वाले अपराध का परिणाम यही समीति निश्चित करती थी। इसके बाद नृप की अन्तिम संस्तुति के उपरान्त अपराधी को निर्णय की परिधि में दण्डित करने हेतु अनुमोदित कर दिया जाता था। समिति के सम्मुख उपस्थित होकर 'पवेणिपोत्थक' नामक अधिकारी दण्ड और विधि लिखित संग्रहानुसार दण्ड को नियमित करता था।[१]

बुद्धकाल में न्यायिक प्रक्रिया[२] का सम्पादन निम्नांकित प्रकार होता था।

उदाहरण : विवाद

एक वेश्या पुत्री, श्रेष्ठी पुत्र के साथ रमण करने के उद्देश्य से रात्रि में श्रेष्ठीपुत्र के घर पर रही थी। परन्तु वेश्यापुत्री रात्रि के पश्चात् प्रातः लौटकर स्वगृह न पहुंची। पुत्री के न आने पर वेश्या व्यथित हो उठी। पूछताछ पर जब समस्या हल न हुई तो वेश्या रोती हुई न्यायालय पहुंची। विधिवत् अपना अभियोग प्रस्तुत किया।

अभियोग का परीक्षण :

नृप न्यायाधीश - श्रेष्ठी पुत्र को सम्बोधित करते हुए 'तुझे वैश्या ला कर दी गई ?'

श्रेष्ठी पुत्र	-	हां, देव।
नृप	-	अब वह वेश्या कहां है ?
श्रेष्ठी	-	नहीं जानता हूं। उसे उसी समय विदा कर दिया था

१ बुद्धघोष - अट्ठकथा : महापरिनिब्वान सुत्त।

२ वट्टक जातक ११८

नृप	-	अब उस लिवा कर ला सकते हो ?
श्रेष्ठी पुत्र	-	नहीं, देव ।
नृप निर्णय दे दे हुए	-	श्रेष्ठपुत्र को राजदण्ड दिया जावे ।

न्यायिक धरातल पर कूटता व शठता कर्ता के साथ कूटता एवं शष्तापूर्ण व्यवहार भी मान्य थे ।[1]

विवाद :

एक ग्रामीण ने नगरवासी वणिक् के यहां पांचसौ फाल सुरक्षार्थ रखे । नगरवासी वणिक् ने उन फालों को बेच लिया तथा फालों को जगह चूहें की मेंगने लाकर रख दी । ग्रामवासी ने जब वणिक नागरिक से अपन फाल मांगे, तो नगरवाली ने उत्तर देते हुए कहा, कि "फालों को चूहें खा गये हैं और मेंगने पड़ी हैं" । ग्राम वासी वणिक् की चाल समझ कर मौन हो गया ।

दूसरे दिन ग्रामवासी वणिक् के पुत्र को लेकर स्नानार्थ अन्यत्र चला गया वहीं-कहीं उसने बालक को छिपा दिया । और स्वयं अकेला लौट आया । पुत्र के न लौटने पर वणिक् ने ग्रामवासी से पूछा, "मेरा पुत्र कहां है ?" ग्राम वासी ने उत्तर देते हुए कहा कि "तुम्हारे पुत्र को चिड़िया लेकर उड़ गयी ।" वणिक् बोला, "तुम झूठ बोलते हो, लड़के को क्या चिड़ियां लेकर उड़ सकती है ?"प्रत्युत्तर में ग्रामवासी ने कहा, - "क्या करुं, यह असम्भव सम्भव हो ही गया ।" वणिक् को विवश होकर न्यायालय में पहुंचना पड़ा ।

विवाद परीक्षण :

पूर्वपक्ष	-	वर्णिक् : उत्तर पक्ष ग्रामीण ।
न्यायाधीश (ग्रामवासी से)	-	क्या पूर्वपक्ष का कथन सत्य है ?
उत्तरपक्ष (ग्रामीण)	-	सत्य है ।
न्यायाधीश	-	क्या दुनिया में चिड़िया बच्चे को लेकर, उड़ सकती ?
उत्तर पक्ष (ग्रामीण)	-	जब चिड़िया बच्चे को लेकर नहीं उड़ सकती, तो क्या चूहें लोहे की फाल को खा सकते हैं ?

---

१ कूट वाणिज जातक २१८

न्यायाधीश - इसका प्रयोजन

ग्रामवासी ने सम्पूर्ण घटना का उल्लेख करते हुए निवेदन किया कि "मैने इस वणिक् के यहां पाचसौ फाल रखे थे । मेरे द्वारा मांगने पर वणिक् कहता है कि फालों को चूहें खा गये हैं, मेंगनी शेष पड़ी हैं । यदि चूहें फाल खाते हैं तो चिड़िया बच्चे को लेकर उड़ सकती है । यदि चूहें फाल नहीं खाते तो, चिड़िया भी बच्चे को लेकर नहीं उड़ सकती है । मेरे फाल चूहें खायें अथवा न खायें, आप पहले इसका निर्णय करने का कष्ट करें ।"

न्यायाधीश : ग्रामीण तुमने शठ वणिक् के प्रति शठता की है; यह न्यायसंगत है ।

सठस्य साठेय्यमिदं सुचिन्ततं, पच्चोडिडतं पति कुटस्य कूटं ।

फालञ्चे अदेम्युं मूसकि, कस्याकुमारं कुलता नौ हरेर्य्यू ॥

देहि पुत्स नट्ठ फालन दठस्सफालं, मा ते पुत्तमहासि फालनट्ठो ॥

(शठ के प्रति शठता यह अच्छा सोचा है । कुटिल के प्रति कुटिलता का जाल फैलाया है । यदि चूहें फाल खायेंगे, तो चिडिया बच्चे को क्यों नही ले जायेगी ?)

हे पुत्र नष्ट (वणिक्) ! जिसकी फाल खो गई है, उसकी फाल दे, तेरे पुत्र को, जिसकी फाल नष्ट हुई है वह न ले जाये ।[1]

पूर्व पक्ष या वणिक - स्वामि ! मै इस की फाल देता हूं, यदि यह मेरा पुत्र दे । उत्तर पक्ष या ग्रामीण - स्वामी ! मैं इस का पुत्र देता हूं, यदि यह मेरा फाल दे ।

अभियोग परीक्षण में न्यायतः पराजित होने पर भी, जो पक्ष स्वयं को पराजित नहीं मानता था उसका पुनः धर्मपूर्वक, अभियोग परीक्षण कर पराजित किया जाता था । तथा प्रथम दण्ड का दुगना दण्ड देय होता था ।[2]

प्रत्येक दशा में अभियोग परीक्षण में पराजित व्यक्ति को अपनी पराजय स्वीकार करनी पडती थी ।

---

१ कुटवाणिजजातक २१८

२ यो मन्येताजितोऽस्मीति न्यायेनापि पराजितः। तमायान्तं पुनर्जित्वा दापयेद् द्विगुणं दमम् ॥ याज्ञ. २.३०६ ॥

पंचम अध्याय

निर्णय

अभियोग की सम्पूर्ण क्रियायें पूर्ण हो जाने पर न्यायाधीश प्रतिवादी की जय-पराजय का निर्धारण स्वयं या अन्य न्यायाधीशों से विचार-विमर्श कर करता था। विचार-विमर्श के समय वादी प्रतिवादी को न्यायालय कक्ष से बाहर कर दिया जाता था। अर्थात् अभियोग के फल का निर्धारण वादी-प्रतिवादी को पृथक् कर ही किया जाता था। अभियोग के फल का निर्धारण ही निर्णय कहलाता था।[1]

निर्णय तक पहुंचने के लिए न्याय हेतु सम्पूर्ण क्रियायें पूरी करनी अपेक्षित होती थीं।[2] वेद, शास्त्र व सूत्र, स्मृति, देश, जाति, परिवार की परम्परायें तथा धर्म के आधार पर निर्णय की घोषणा होती थी। निर्णय में तर्क का अवलम्ब भी लिया जाता था। परन्तु धर्म को शाश्वत प्रमाण माना जाता था। प्रत्येक प्रकार के प्रमाण के अभाव में नृपादेश को ही प्रमाण व निर्णय के रूप में स्वीकारा जाता था। राजाज्ञा सर्वोच्च प्रमाण के रूप में मान्यता प्राप्त थी, परन्तु धर्म का विरोध कर निर्णय नहीं दिया जा सकता था।[3]

प्रमाण (भोग, लिखित, साक्षी) तर्कसिद्ध अनुमान (हेतु), देशीय परम्परायें, या सदाचार, राजकीय आदेश, शपथ, पूर्वपक्ष (वादी) की स्वीकारोकित, आदि आठ श्रोत प्रत्येक प्रकार के निर्णय के आधार होते थे।[4] यथाशक्ति शत्रु विनाश निर्णय का लक्ष्य होता था।[5]। अयोग्य एवं दुष्टों को मार्ग से पृथक् कर प्रत्येक प्रकार के अपराधी को नियन्त्रित करना, निर्णय का मुख्य उद्देश्य था।[6]

---

१ उक्तप्रकाररूपेणस्वमतस्थापिता क्रिया। राजापरीक्ष्य सभ्यैश्चस्थाप्यो जनपराजयो॥ स्मृ.चं. २.१२०; पक्षानुत्सार्य तु सभ्यैः कार्योविनिश्चयस्सदा। नारद २.४२

२ नारद २.४१,४३

३ पितामह उद्.स्मृ.चं.२ पृ. २६ लेख्यं पत्र न विधेत न भुक्तिनं च साक्षिणः। न च दिव्यावतारास्ति प्रमाणं तत्र पाथिवः॥ निश्चेतुं येन शक्याःस्युर्वादाः सन्दिग्ध रुपिणः तेषांनृपः प्रमाण स्यात्स सर्वस्य प्रभुर्मतः। पितामह।

४ व्यास उद्.व्य.नि.पृ.१३८; प्रमाणेर्हेतु चरितेः शपथेन नृपाज्ञया। वादिसंप्रतिपत्या वानिर्णयीष्टविधः स्मृतः॥

५ ऋग्. १.३३.१२; २८४८; अर्थ. ६८८.३ (शत्रुयतौधरान् पादयस्व)

६ ऋग्. १.४२.२ - यो नः पुषन्नधोवृको दुःख आदिदेशति। अपस्मतं तं पथी जहि। ऋग्. १.४२.३ - अपत्यं परिपन्थमुमीवार्ण हुरश्चितम्। दूरमधिस्त्रुतेरज॥ ऋग्. १.४२.४ - त्वं तस्य द्वयाविनो धीसस्य कस्याचित पदाभितिष्ठतपुषिम्॥

विनय पत्रों को सुनकर तथा अपराधी के सम्पूर्ण कार्य-कलापों का परीक्षण कर, एवं गम्भीर अपराधों में गुप्तचर विभाग से परीक्षण कराकर ही निर्णय दिया जाता था।[१] जिससे किसी प्रकार की त्रुटि निर्णय में न रह जाये। त्रुटियों का शोधन ही निर्णय का लक्ष्य होता था। त्रुटि पूर्ण निर्णय लक्ष्य विहीन समझा जाता था। साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति का अनुशरण निर्णय का आधार होता था।[२] निर्णय करने से पूर्व वास्तविकता का अनुसन्धान किया जाता था। न्यायविद् छल-रहित-भावना से निर्णय देते थे।[३] अधिकांशतः निर्णय मानव प्रमाणों के आधार पर दिया जाता था। परन्तु मानव प्रमाणों के अभाव में दिव्यों का अवलम्ब किया जाता था। एक भी मानव प्रमाण की उपस्थिति के कारण दिव्यों की उपेक्षा कर दी जाती थी पूर्व पक्ष व उत्तर पक्ष के अधिकारों व नियमों को विचार कर निर्णय फलित होता था।[४] तर्क द्वारा विचार-विमर्श कर उचित पक्ष में ही निर्णय उद्घाटित किया जाता था। अनेक कठिन अवसरों पर त्रयीविद्या में निष्णात् पुरुषों का अवलम्ब लेकर, विचार-विमर्श कर धर्म पूर्वक निर्णय सम्पादित होता था।[५]

न्यायिकि प्रक्रिया का लक्ष्य निर्णय देना ही होता था। मानव अपने में स्वच्छ व पापरहित तथा छल कपट से विरत रहे, इस भावना से न्यायविद् प्रभावित रहते थे। सभी निर्णय विवेकपूर्ण होते हुए समाज संगठन को सुदृढ बनाने में सहायक होते थे।[६]

निर्णय एक साथ दो रूपों में फलित होता था :—

(अ)	जय-पत्र :	विजयप्राप्त कर्ता पक्ष को दिया जाता था।
(ब)	दण्ड :	अभियोग में पराजित होने वाले पक्ष को दण्डित किया जाता था।

---

१ यजु. ८.३४, ८.४५; अग्निपु.अ. २५३; महा.शापर्व ८६.२१ - उदासीनारिमित्राणां सर्वमेवचिकीषतम्। पुरे जनपदे चैवाज्ञात्वयं चार चक्षुषा॥

२ यजु. १३.११

३ अग्निपु.अ. २५३; याज्ञ. २.४९

४ गौ.ध.सू. प्रश्न २, अध्याय २, सूत्र २२

५ न्यायाधिगमेतको अभ्यूपायः। गौ.ध.सू. २.२.२३; (न्याययुक्त अर्थज्ञानप्राप्त करने हेतु तर्क भी एक उपाय है); तनाभ्यह्य यथास्थानं गमयेत्। २.२.२४; तर्कद्वारा विचार विमर्श कर यथाचित पक्ष में निर्णय करना चाहिये।; विप्रतिपत्तौत्रैविध्दृद्वेभ्य प्रत्यवहत्यनिष्टां गमयेत्॥ गौ.ध.सू. २.२.२५; कोई निर्णय करना कठिन हो, तो त्रयरे विद्या में निष्णात् पुरुषों का परामर्श लेकर धर्म का निर्धारणकरे।

६ गामणी चण्ड जातक २५७

जयपत्र

पूर्व पक्ष या उत्तर पक्ष द्वारा अभियोग में विजय प्राप्त करने पर न्यायालय द्वारा दिया गया विजय सम्बन्धी प्रमाण पत्र 'जयपत्र' कहलाता था। जयपत्र न्यायालय द्वारा राजकीय अभिलेख के रूप में स्वतः प्रमाणित सुदृढ़ लेख्य प्रमाण माना जाता था।

आवश्यकता

श्रेष्ठजनों को पुरस्कृत करने, एवं दुष्टों एवं अपराधियों को अपमानित करने हेतु विजय प्राप्त पक्ष को जयपत्र देना अपेक्षित माना जाता था। राजकीय न्यायालय का प्रमाण व्यक्ति को निर्दोष सिद्ध करता था। भविष्य में पुनः विवाद उत्पन्न होने पर जयपत्र प्रमाणस्वरूप प्रयोग में लाया जाता था। ऐसा न होवे कि श्रेष्ठजन तो दण्डित हो जाय और दुष्ट व्यक्ति बच निकले। इस शंका व भय से जयपत्र रक्षा[1] करता था। जयपत्र के कारण भविष्य में विवाद भी खड़ा नहीं हो सकता था।[2]

स्वरूप

जयपत्र लिखित रूप में राजकीय निर्णयपत्र या आदेशपत्र होता था अभियोग से सम्बन्धित पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष की साक्षियां, वादविवाद, तर्क, स्मृति, सिद्धान्त एवं न्यायधीश के विवेकपूर्ण विचार; आदि विवरण जयपत्र में विस्तार पूर्वक अंकित होते थे। अन्त में न्यायाधीश के स्पष्ट हस्ताक्षर होते थे। हस्ताक्षर के नीचे न्यायालय की मुहर एवं राजमुद्रा का अंकन भी होता था।[3]

मान्यता व प्रकार

जयपत्र अपने में शासन द्वारा पुष्ट प्रमाण होता था। इसके आधार पर प्राप्त कर्ता एक ओर दोष से मुक्त होकर अपने को सम्मानित[4] व निर्भय अनुभव करता था। वर्तमान का विवाद समाप्त होकर भविष्य में विवाद होने की शंका का निवारण जयपत्र प्राप्त होने पर हो जाता था। जयपत्र का अतिक्रमण करना अपराध व दोष माना जाता था। सभी को जयपत्र के अनुसार प्रतिबन्धित होना अनिवार्य था। इसका उल्लघन राजाज्ञा-उल्लंघन के समान अपराध माना जाता था।

---

१ ऋग्वेद ८.६७.३, ७, १६; १०.८७.७, ११, १२, २१; १८१.३; यजु. १.१२, ६३; ३०.५

२ याज्ञ. २.९१

३ याज्ञ. २.९१ परमिताक्षरा; व्यास उद्.स्मृ.चं.२, पृ. ५७; कात्या. २५९, २६५

४ ऋग्वेद १८१.३

दण्ड

अपराध की परितुलना में, अपराध शमनार्थ दिया गया राजकीय आदेश दण्ड कहलाता था। या अपराध का दमन करने वाल साधनों को दण्ड कहा जाता था। (गौ.ध.सू. १.८.१२, १३) इसी प्रकार से महाभारत शांतिपर्व (१५.८) से उद्दण्डता का दमन तथा दुष्टों को दंडित करने के साधनों को दण्ड कहा है। अतएव पापों व अपराधों की निवृत्ति, निष्पाप जीवन की रक्षा दण्ड से होती थी।[१]

आवश्यकता

अधिकांशतः मानव अपने स्वभाव में साधारण रूप मे कलुषित एवं विकृत होता है। स्वार्थो के वशीभूत स्वहिताय नैतिकता व अनैतिकता की परिसीमा को लांघ जाता है। ज्यों-ज्यों विकास की गति बलवती होती चलती है त्यों-त्यों प्राचीन परम्पराएं एक के बाद एक टूटनेलगती हैं तथा समाज में विकृति व पाप तथा अनाचार विकसित होने लगता हैं। मात्स्यन्याय बल पकड़ जाता है। ऐसा ही कृतयुग के बाद हुआ। इस विकृति एवं मात्स्यन्याय को नियन्त्रित व अंकुशित करने हेतु स्मृतिकालीन विचारकों ने दण्ड की आवश्यकता व अनिवार्यता को अनुभूतकिया था। जिससे मानव समाज दण्ड से नियन्त्रित व भयभीत होकर, सीधे, आचरणयुक्त, पवित्र व लोक कल्याणकारी मार्ग का पथिक बन सकें। — क्योंकि दण्ड प्रयोग से कलुषित पापी, अनाचारी, लोभी तथा प्रत्येक प्रकार के अपराधी को श्रेष्ठ मार्ग पर लाया जा सकता है। तथा प्रजा सुख की अनुभूति करती है। दुष्टों के दमनार्थ दण्ड की उपादेयता को स्वीकार किया गया था। जिससे शासन संचालन व अपराधों की निवृत्ति व शमन सुलभतापूर्वक हो सके। जनमानस सुलभतापूर्वक, निर्भय होकर जीवन यापन कर सके तथा कर्तव्यय सम्पादन का निर्वाह भी करने में सक्षम बन सके। दण्ड के अभाव में अन्धकार उत्पन्न होकर बढ़ता है। दण्ड मानव को प्रमाद से बचाकर मर्यादा की रक्षा करते हुए शास्त्रीय मार्गपर ले जाता है। प्रतिज्ञा व मर्यादा का बोध व पालन भी दण्ड के भय से ही होता है। सम्पूर्ण विश्व को विनाश, अज्ञान, अकर्तव्यों शोषण, प्रपीड़न एवं मात्स्यन्याय से दण्ड ही बचाकर रक्षा करता है। दण्ड पर ही सब कुछ केन्द्रित है। दण्ड कल्याण का साधन माना जाता था। दण्ड पर ही संसार, व्यवहार व धर्म प्रतिष्ठित है। अर्थ का हेतु होने के कारण दण्ड को महान देवता माना जाता था। दंड के अभाव में अपराधों व

---

१ यस्मादशन्तान् दमयत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि। दमनाद दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः॥ महा.शा.पर्व १५८; (यह उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता और दुष्टों को दण्ड देता है। अतः उस दमन और दण्ड के कारण ही विद्वान् पुरुष इसे दण्ड कहते हैं।)

पापों को विकसित होने का खुला अवसर मिलता था ।[1] सत्य न्याय के लिये तथा जीवों की रक्षार्थ दण्ड को मनु ने आवश्यक समझा था । दण्ड के कारण ही सम्पूर्ण चराचर जीव भोग करने में समर्थ होते हुए स्वधर्म पालन से विरत नहीं होते हैं । दण्ड सबकारक्षक आज्ञा देने वाला, सोते हुओं को चैतन्य करने वाला दण्ड ही है ।[2] । दुष्टों को दण्डित करना यज्ञ के समान पवित्र समक्षा जाता था ।[3]

न्यायलयों में विचारक (न्यायधीश) पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष के कथनों को सुन कर साक्षी व प्रमाण की सहायता से, पूर्वपक्ष या उत्तरपक्ष के प्रतिकूल जो सम्मति देते थे, उसे ही दण्ड कहा जाता था । सभी प्रकार के व्यवहार दण्ड द्वारा नियन्त्रित होते थे । दण्डाभव में कोई भी व्यवस्था कार्यान्वित नहीं हो सकती थी । जहां भी दण्ड शिथिल होता था । वहीं पर अनीति प्रविष्ठ हो जाती थी ।

---

१ ऋग्वेद १.६१.१२, १३; ७.१०४.१०, १३, १७, २०; ८.३५.१, १२, १६; यजु. ६.६.२२; अथर्व. ५.६.४; ८.४.२२; १२.१.५०; याज्ञ. १.३६१; आचाराध्याय श्लोक ३४६, ३५४ से ३५७ तक; अर्थ. शास्त्र १.४.१७, १९; मत्स्यपु.अ. १०३ के अनुसार; २७५.१६, १७; २२५.८; १०३.६, १०; शतपथब्रा. ५.४.४.७; वि.ध.सू. ३.६५; दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्‌भोगोयकल्पते ॥ मनु. ७.२२; ७.२५; वा.रानायण; सु.कां. ७९.९; वि.पुराण तृतीयांश ८.२९; अग्निपु. १६८.१ महाभारत : शा.पर्व - १४.२१-२५; १५.५-७; १०-१३, ३४, ४४; दण्डः शास्तिप्रजा : स्र्वादण्डपवारिभरक्षति । दण्ड : सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुबुंधा ॥ शा.प. १५.२ दण्ड : संरक्षते धर्म तथैर्वार्थ जनाधिप । कामं संरक्षते दण्डास्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥ शा.प. १५.३ दण्डेन रक्षयतेधान्यं धनं दण्डेन रक्षयते । शा.प. १५.४ अन्धेतमसिमज्जेयुर्यादि दण्डो न पालयेत् ॥ शा.प. १५.७ (दण्ड के अभाव में अन्धकार उत्पन्न हो जाता हे ।) दण्डश्चेन्न भ्वेल्लोकेविनश्येयुरियाः प्रजाः । जलैमत्स्यानिवाभदयन् दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ शा.प. १५.३० (यदि संसार में दण्ड नरहे, तो सारी प्रजा नष्ट हो जाये । जैसे जल में बड़े मत्स्य छोटी-छोटी मछलियों को खा जाते हैं । उसी प्रकार जीव दुर्बल जीवों को अपना आहार बना लें ।) ईश्वरश्चमहादण्डो दण्डे सर्व प्रतिष्ठितम् । शा.प. १२१.१ (दण्ड ही सब का ईश्वर है, दण्ड के आधार पर सब कुछ टिका है) महा.शा.पर्व १२१.१५, १६; ९१.२८; १०९.२०; २६७.३०

२ दण्डसृजत्पर्वमेश्वरः ॥ मनु. ७.१४; तस्य सर्वाणिभूतानि स्थावराणि चराणि । भयाद्‌भोगायकल्यन्तेस्वधर्मान्नचलन्ति च ॥ मनु. १५.७ (इस दण्ड भय से चराचर जीव भोग करने हेतु समर्थ होते हैं तथा स्वधर्म से विचलित नहीं होते हैं ।) सः राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः । चतुर्णामा श्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥ मनु. ७.१७; दण्डशास्तिप्रजाः सर्वादण्ड एवाभिरक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्तिदंण्डं धर्म विदुर्बुघा ॥ मनु. ७.१८; २०, २२, २३, २७ दण्डस्य हि भयात्सर्व जगद्‌भोगाय कल्पते ॥ मनु. ७.२२; कामात्माविषयः क्षूद्रोदण्डेनैव निहन्यते ॥ मनु. ७.२७; नार्कण्डेय पुराण २४.२२; पाराशर स्मृति धर्माश्चरः वर्णनम् १६७

३ अत्रिस्मृति २८; शा.पर्व ८९.२२

दण्डोत्पत्ति

मानव रागद्वेषादि स्वाभाविक दोषों से प्रेरित होने के कारण, शास्त्र कथित विधि और निषेध का उल्लंघन करने, मन, वाणी, व शरीर से दुष्ट तथा अदृष्ट अनिष्ट साधनों को असंतुलित करने की चेष्टाभी अनवरत करता रहता था। इन्हीं दुर्भाव-नाओं के निवारणार्थ दण्ड की उत्पत्ति हुई थी क्योंकि विपरीत आचरण वालों को दण्ड के द्वारा ही निययन्त्रित किया जा सकता था।[१]

शासनतन्त्र को चलाने हेतू दण्ड ही एकमात्र साधन माना जाता था।[२] दण्ड ही दुष्टों को दण्डित कर असहायों की रक्षा कर सकता था।[३] मानव समुदाय स्वधर्म का पालन कर सकें, धर्म व मर्यादा का सेतु बना रहे, समाज व राष्ट्र नियन्त्रित रहकर स्वर्गिक सुख प्राप्त कर सकें इस भावना ने दण्ड की उत्पत्ति में योग प्रदान किया।[४]

दण्ड उत्पत्ति

दण्ड शब्छ का उद्गम 'दम्' धातु से हुआ है। 'दम्' का अर्थ होता है रोकना या निवारण करना।[५] अनाचारों व मात्स्य न्याय के निवरणार्थ तथा धर्म, सम्पत्ति व जीवन को सुरक्षित करने हेतु ब्रह्मतेजी मय दण्ड की उत्पत्ति हुई।[६] दण्ड को दैविक व सनातन स्वीकार किया गया।[७] वेदों से लेकर स्मृतियुग तक दण्ड को पूर्ण विकसित व पल्लवित होने का खुला अवसर मिला था।[८] दुर्वृत्तियों का शमन करने हेतु ब्रह्मा ने दण्ड को उत्पन्न किया था।ऐसा स्मृतिकारों का मत रहा था।[९]

समाज सुखों का उपभोग करने में सक्षम बना रहे, भूमि मेरी माता है और मैं मातृभूमि का पुत्र हूं यह आस्था प्रत्येक नर-नारी में स्थाई रूप से व्याप्त रहे, ग्राम से लेकर राष्ट्र तक में विकृति, व्यवधान विघटन न होवे इसी भावना की परिकल्पना

---

१ बृह्दउ. १.१; गौ.ध.सू. २.२.२८, ३१; महा.आ.पर्व १३९.६.७, २३; पापं प्रज्ञां नाश्यति क्रियाणंपुनः पुनः॥ उ.पर्व ३५.६१; (बार-बार किया गया माप बुद्धि को विनष्ट कर देता है) अर्थशा. चा.सूत्र ८८

२ महाभारत वनपर्व १५०.३८

३ महाभारत शा.पर्व. १४.१७

४ महाभारत शा.पर्व ६९.७६-७८; ८०; ८४.४५

५ गौतम ९.२८

६ तस्यार्थेसर्वभूतानामगोपतारं धर्मात्मजम्। ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वनीश्वरः॥ मनु. ७.१४; माह.शा.पर्व : १५.३०; ६७.१६; अयो.कां. ६७.३१; अर्थशा. १.४.१७, १८

७ ऋग्वेद १०.८०.१९

८ ऐ.ब्रा. ४.७८; शत.ब्रा. ५.४.४.७; गौतम ११.९, १०; बोधा. १.१०.१८; ऋग्वेद १.३१.११

९ याज्ञ. १.३५४; नारद १.१.२; अर्थशा. १.५.१; ऋग्वेद ४.५.५

ने दण्ड को जन्म दिया।[१] पापियों का मुख बन्द करने के लिये दण्ड को सहर्ष स्वीकार कर लिया गया था।[२]

दण्ड का स्वरूप

दण्ड को पवित्रतम वस्तु के रूप में अंगीकार किया गया था। दण्ड को साक्षात् विष्णु, नारायण एवं महापुरुष की कोटि में देखा गया। दण्ड को सूर्य प्रकाश के समान, अज्ञान व कुटिलता के अन्धकार को भगाने वाला प्रकाशस्तम्भ मान लिया गया था।[३] दंड ही त्रिवर्ग है, ऐसा विश्वास किया जाता थर।[४] दंड को साक्षात् धर्म मानकर ग्रहण किया जाता था।[५]। दण्ड को ब्रह्मा का पुत्र[६] श्यामवर्ण एवं लाल आंखों वाला चार दांत व चार भुजाओं से संरचित की मान्यता प्रदान की गई थी।[७] ऋग्वेद १०.१२६.५ के अनुसार वरुण को दण्डदात्री शक्ति का रूप दिया गया था।

दण्ड को ही राजा, नेता, शासिता, धर्म का प्रतिभू, प्रजा का अभिरक्षक, वर्णधर्म का पालक, इस रूप में देखा गया था।[८] विधि की परिधि में दण्ड को सर्वोपरि माना जाता था। दण्ड का प्राचीनस्वरूप कठोर रहा था। बाद में चल कर जब अर्थ दण्ड का विधान बना तो दण्ड का स्वरूप कोमल व तथ्यपरक रूप में उद्घाटित हो सका। दण्ड को अविनाशी, ईश्वरीय वैभव, लोकरक्षक, के रूप में अभिनन्दित किया जाता थ।[९] दण्ड की तुलना चिकित्सक के रूप में की जाती थी।[१०]

दण्ड का उद्देश्य

शुद्ध व पवित्र न्याय करना दण्ड का उद्देश्य होता था। प्रतिशोध की भावना का निराकरण करना, अपराधों की पुनरुवृत्ति को रोकना, समाज की सुरक्षा करना, समाज सुख व जन कल्याण की स्थापना करना, दण्ड का एकमात्र उद्देश्य रहा था।

---

१ अथर्व. १२.१; ८.४; मातृभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः॥ अर्थ १२.१.१२

२ अघायतामपि न ह्यामुखानि। अर्थ.का. १९.९; (पापीजनों का मुख बन्द करो)

३ महा.शा.पर्व ५६.३, ७

४ महा.शा.पर्व १५.२-५, १२

५ अर्थशा. १.४.१७ से ८९; याज्ञ. १.३५४; नारद १.१, २

६ मनु. ७.१४

७ मनु. ७.२५; वि.ध.सू. ३.६५; मत्स्यापु. २२५८; शा.पर्व १२१.१५, १६

८ मनु. ७.१५, १६, १७; १४.१, २१

९ महा.शा.पर्व १२१.४० से ४२, ४९

१० महाजस्सारोहजातक।

प्रतिकार करना, आपराधिक प्रवृत्ति को रोकना, अपराधियों से परित्राण करना, पाप कर्म न करने की प्रेरण देना, अपराधियों के चरित्र को सुधारना, दण्ड का मुख्य लक्ष्य था। क्योंकि मानव दण्ड भय से पापविरत रह सकता था।[१] अपराधी दण्ड पाकर पवित्र हो जाता था।[२]

दुष्टों व लोक कण्टकों को प्रत्येक उपाय से दबाना, उन्हें निस्तेज करना, उनकी सम्पत्ति को श्रेष्ठ पुरुषों में बांट देना, दुर्जन व्यक्तियों को शिक्षा देकर सुपथ पर लाना, बालहत्या व नारी लम्पटता को रोकना, अपराधियों का कठोरता से दमन करना, दुर्जनों को नष्ट कर श्रेष्ठ पुरुषों की उन्नति करना, येनकेनप्रकारेण शत्रुदमन करना व उनका संहार करना, दण्ड का उद्देश्य था।

भले-बुरे का ज्ञान, नारितकता का मूलोच्छेदन करना, मर्यादा पालन धर्म की रक्षा व शुद्धि, शुद्ध रीति का अनुकरण की भावना से अवगत कराना दण्ड का उद्देश्य होता था।[३] राज्यविपरीत आचरण कर्ता को दण्ड द्वारा ही नष्ट किया जाता था।[४]

अपराधियों को भेदना, छेदना, पीड़ा देना, काटना, चौरना फाड़ना एवं प्रत्येक प्रकार से व्यथित करना दण्ड के द्वारा ही संभव हो सकता था।[५] इसीलिए सम्पूर्ण सुखों की मूल दण्ड ही होता था।[६] किसी भेदभाव के धर्म में स्थिर न रहने वाले के पापों को रोकना होता था। किसी के प्राण लेना व दाडित एवं भयभीत करना नहीं था।[७] सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रजारक्षण दण्ड की उद्देश्य सीमा रही थी।[८]

---

१ नारद १८.१४ से १६; ऋग्वेद ७.२०.३ से ५; ८.२५.१०; यजु. ११८०; ३०.६, १४; अथर्व. ८.४.१४; १२.१.५८; १०.१.३१; सामवेद पूवाचिक् प्रथमाध्याय, मन्त्र ३, प्रथम दशति। याज्ञ.आ चा. ३५७, ३५९, ३६१; आ प.ध.सू. २.१०.१७; २.२७.१९; महाअस्सारोह जातक; मनु. सर्वाणिभूतानि दण्डेनेवप्रसाध्येत् ॥ ७.१०३; ८.३०६, ३११; ३५२; ३८७; मत्स्यपु. २७५.१६, १७; महाभारत वनपर्व २०७.२९, ३०; विराटपर्व ६८.६५; शा.पर्व ६९.१७

२ मनु. ८.३१८; वसिष्ठ १९.४५; एवमर्थचरान् एवं राजा दण्डेन शोध्येत्। शोध्येयुश्च शुद्धास्ते पौर जानपदान् दमेः॥ अर्थशा. अधि. ४.९.१

३ महा.शा.पर्व ५.३२-३५, ३८, ४०-४२; १५.३२-४२

४ सप्तांगस्य च राजस्य विपरीतं च आचरेत्। गुरर्वा यदि वा मिश्रं प्रतिहन्तव्य एव नः॥ महा.शा.पर्व ५७.५ शा.पर्व २६७८.२५; अर्थशा. अधि ३, अ.१

५ महा.शा.पर्व १२१.१९, ३६

६ महा.शा.पर्व १२१.६० - माता-पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः। नादण्डयों विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ पिताचार्यः सुहन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः॥ नादण्ड्यो नामराज्ञोस्तियः स्वधर्मेनतिष्ठति॥ मनु. ८.३३५; ऋग्. ४.४.५

७ महा.शा.पर्व २६७.२५; वा.रामा.अयो.कां. १००.५८; अर्थशा. ३.१.४

८ दण्डेन च प्रजारक्ष मा च दण्डमकारणे॥ वा.रामा.उ.कां.७९.८, मत्स्य पु. १०३.१४ दण्डः शास्तिप्रजाः सर्वादण्ड एवाभिरक्षति॥ १४, मत्स्य ३०

अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करना, प्राप्त वस्तु की रक्षा, रक्षित वस्तु का वर्द्धन वस्तु का उचित व नियमित उपयोग[1] व प्रयोग एवं सामाजिक व्यवहार को पदर्शित करना दण्ड के संरक्षण में ही होता था । दुर्बलों की रक्षा दण्ड ही के आधार पर हो सकती थी । चारों वर्णो एव आश्रमों के व्यक्ति स्वधर्म में लगकर सन्मार्ग पर चलते रहते थे ।[2]

दण्ड का आधार

दण्ड शक्ति का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नृप से था । विधि के माध्यमों से दण्ड हुई थी । अनुशासन के आधार पर दण्ड की अस्ति नास्ति निर्भर करती थी । शक्ति के द्वारा दण्ड को बनाया गया था । परन्तु वह शक्ति उत्पीडन व प्रताडना से युक्त नहीं था । उसमें नम्रता निवास करती थी । उसके पीछे पीड़ा व व्यथाशोधन का भाव निहित था । पीड़ित करने का नहीं । अतएव दण्ड का प्रयोग स्वेच्छा से न करके, आधार और उद्देश्य के अनुरूप ही किया गया ।[3] स्वार्थ व अविवेकी तरीके से दण्ड का प्रयोग विनाश का हेतु होता था । अतएव सामाजिक प्रतिनिधियों, विधि शास्त्रियों से परामर्श कर, विभिन्न पक्षों पर विचार कर दण्ड का प्रयोग किया जाता था ।[4] स्वार्थ, पक्षपात शक्ति संचय, दुष्प्रणीत दण्ड का आधार बनती थी । जिस कारण से सामाजिक क्रान्तियों, उद्वेग व विनाश तक हो जाता था । फलतः विधि नियन्त्रित दण्ड का आधार अनुशासन और विनय को स्वीकार किया गया था । धर्म नियन्त्रण पर दण्ड आधारित था ।[5]

---

१ अलब्धलाभार्थलब्धलाभार्थलब्ध परिरक्षिणी रक्षित विवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च । तस्यामायत्ता लोकयात्रा ॥ अर्थ.अधि. १, अ.४

२ चतुवर्णा श्रमोलोकोराजादन्डेन पालितः । स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वत्मसु ॥ अर्थ.अधि. ११, अ.४.१

३ दण्डो हि केवलो लोकं परम चैवं च रक्षति । राज्ञा पुत्रे च शत्रो च यथा दोषं समं धृतः ॥ अर्थ. ३.१.५; १.४.४; नयानयोदण्डनोत्याम् ॥ अर्थ. २.१.८; विष्णुस्मृ.राजधर्माध्यायः । अपराधानुरुपं च दण्डं पापेषु धारयेछ ॥ महा.शा.एवं ८५.२०; एवम् वनपर्व ५२.२२; शा पर्व. ५६.३५, ४०; ७५.५; मनु. ७.३०; सोमनस्सजातक ५०५

४ मनु. ७.१६, १९, ३१; याज्ञ. १.३३५, ३५६; अर्थशा. १.६.६ से ८ तक; अनुज्ञानं वा वैदवित्समवायमचना द्वे दवित्समवायवचनात् गौ.ण.सू. प्रश्न-२, अध्या. ३; मृदुना दारणं हन्ति मृदुना हन्त्यदात्णम्॥ नासाध्यं मृदुनाकिंचित् तस्मात् तीव्रतरं मृदु ॥ महा.शा पर्व २८.३ महा.शापपवर्व २६७.९, १२

५ समीक्ष्य स धृतः सम्यवसवारंजतिप्रज्ञाः । असीम्क्ष्यप्रणीतस्तुविनाशयति सर्वतः ॥ मनु. ७.१९ दुष्प्रणीतः कामकोधभ्यामज्ञानद्वानप्रस्थ परिव्राजकानपिकोपयति किमंगपुनः गृहस्थान। अर्थशा.१४ महा.शापर्व १५०.३; ४९.३५; सभापर्व २२.२४; वनपर्व ११५.१२; अनुशा.पर्व १५.३३; विभज्यदण्डः कर्तव्योर्धर्मेण न यदृच्छया ॥ शा. पर्व १२२.४०; धर्मदण्डं दण्डयेषु प्रणयंतोऽन्वपालवन् ॥ आदिपर्व ६४.१५ यजुर्वेद १०.४.२९; ११.१५; १२.।३, १७; वि.स्मृ.राजवर्मा.; अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ अयो.कां.वा.रामा. १००.५६ एवं १००.५६ महाबोधि जातक ५२८

अपराधी की मनोवृत्ति किये गये अपराध का स्वरूप, काल-स्थान-शक्ति- अवस्था, उपचार विद्वत्ता एवं धन स्थिति पर दण्ड निर्भर करता था । अपराध की पुनरावृत्ति अपराधी के विगत कार्य, अपराधी की शारीरिक व मानसिक स्थिति का अवलोकन भी किया जाता था । अपराधियों की पात्रता दण्ड का प्रत्यक्ष आधार होती थी ।[१] अपराधी की जाति विवाद का मूल्य, विवाद की सीमा, वह व्यक्ति जिसके प्रति अपराध, गुण, काल, स्थान, अपराध की पुनरावृत्ति को देखकर एवम् परीक्षण कर दण्ड दिया जाता था ।[२]

पापी व अपराधी दूसरे जन्मों में शरीर अंग-भंग के दोष से युक्त अपवित्र एवं पशुपक्षियों की योनि को प्राप्त होते है ।[३] परन्तु दंड पाकर वे पवित्र हो जाते हैं । अपराधियों को दण्डित करने में छल एवं कपट को भी मान्यता मिली थी ।[४] एक साथ अनेक दण्डों को क्रमशः एक के बाद दूसरे को दिया जा सकता था ।[५] दण्ड का प्रयोग श्रेष्ठ पुरुष ही कर सकते थे ।[६] जिस अंग से अपराध किया जाता था, उस अंग को भी दंडित किया जाता था ।[७] सन्देह होने पर अपराधी को दण्डित नहीं किया जाता था । सन्देह का पूर्ण लाभ अपराधी उठा लेता था, क्योंकि अनुचित दण्ड से पाप व विनाश पनपने लगता है । वास्तविक अपराधी का अन्वेषण कर, दण्ड का प्रयोग किया जाता था ।[८] जानते हुए अपराध कर्ता के विपरीत अधिक दोष का निर्धारण किया जाता रहा था ।[९]

---

१ मनु. ७.१६; ८.१२६; तं देशकालो शक्ति च विद्यां चावेक्ष्यतत्वः। यर्थाहतः संप्रणयेन्नष्वन्यायवर्तिषु ॥ मनु. ७.१६; याज्ञ. १.३६८; वसिष्ठ १९.९; अर्थ. ४.१०८; यथा अपराधं वा। अर्थ. ४.९; पुरुषावत्यपराधानुबन्धविज्ञानाद्दण्डनियोगः॥ गौ.ध.सू. ३.२.४८; ऋग्वेद १.१०५.५

२ मनु. ७.२४, २५, २८-३०; ८.१२६-१३०; ८.३२०, ३२१, ३३७, ३३८, २८५; महा.वनपर्व २८.२९; ३४.५८ उ.पर्व; ९.३०७-३१२ यजुर्वेद ७.४५; ३३.११, १४, १५, २७, ५०, ६९, ७०, बौ.धा.सू. १.१.१६ गरीरयांसो गरीयांसमपराधे पुनः पुनः। तदाविसर्गमर्हन्ति न यथा प्रथमे तथा ॥ महा.शा.पर्व २६७.१६; ज्ञात्वापराधं देशं वकालं बलमधापि वा। वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्डयेषु पातयेत् ॥ याज्ञ.आचारा. ३६८; याज्ञ. २७५ व्यवहाराध्याय, विष्णुस्मृति राजधर्माध्यायः।

३ मनु. ९.४९-५२; निमिजातक ५४१; याज्ञ. ३.२०७-२१६; वि.ध.सू. ४४,४५

४ ऋग्वेद २.२७.१६; १.११.७; न हि दण्डाद्वृते शक्यः कर्तु पापविनिग्रहः॥ मनु. ९.२६३

५ मनु. ८.१३०; अर्थशा. ४८

६ मनु. ७.३१, ३२, ६५

७ यजुर्वेद ३०.१०

८ आ.ध.सू. २.११.२, ३

९ विदुषोतिक्रमे दण्डभुयस्त्वम्॥ गौ.ध.सू. ३.२.१४ अथवेदबुद्धिजं कृत्वा ब्रूयस्ते तद्कुद्धिजम्। पापन्स्वल्पऽेपि तानहन्या अपराधे तथा नृजन्॥ महा.वनपर्व २८.२८

कठोर दण्ड का प्रयोग प्रजा में क्रोध, आतंक, को जन्म देने के कारण निषिद्ध रहा था। प्रिय-अप्रिय, योग्य-अयोग्य अर्थात् अपराधी व पवित्र व्यक्तियों की परीक्षा कर दण्ड दिया जाता था। दण्ड का आधार दुष्टों को दण्डित करना था। पवित्र आत्माओं व आचरणशील को व्यथित करना नहीं था।[१]

श्रेष्ठ व उपकारी पुरुष से अपराध होने पर उसे दण्डमुक्त रखा जाता था। अनजाने में अपराधकर्ता को भी दण्डित नहीं किया जाता था।[२] परन्तु दुष्टों के साथ मिलकर रहने वाले पुरुषों को आवश्यकरूप में दण्डित किया जाता था।[३] जिससे वे पापियों के संसर्ग से पृथक् रह सकें। अनेक अवसरों पर युक्तिपूर्वक कठोर व कोमल दोनों प्रकार का दण्ड दिया जाता था।[४] भावुकता, दुराग्रह, पूर्वाग्रह, जैसी स्थिति से दण्ड को पृथक् रखा जाता था।[५] सम्मानभाव रखते हुए पक्षपात से विरत रहकर शास्त्रोकृत दण्ड का प्रयोग किया जाता था।[६] परन्तु दंड देने में शीघ्रता का परित्याग किया जाता था।[७]

छोटे-छोटे अपराध पर अंग भंग करना, मार ड़ालना, तरह-तरह की यातनायें देना, देह त्याग के लिए विवश करना, अथवा देश निर्वासन देना निषिद्ध माना जाता था।[८] अपराधी के आश्रितों (पत्नी, अबोध बालक व बालिकाओं) का ध्यान रखते हुए, यथा प्रयास अपराधी को प्राणदण्ड से मुक्त रखा जाता था। महाभारत शा.पर्व २६७.१३, - दण्ड -योग को स्वर्गप्राप्ति का मूल समझ कर यथोचित दण्ड दिया जाता[९] था। चाण्डक्य के मतानुसार, यदि एक व्यक्ति अपराध प्रथम वार करता है, तो उसे अपराधनुरूप प्रथम दण्ड दिया जाता था। उसी अपराध

---

१ कच्चिन्नोग्रेणदण्डेन भृशमुद्विजसेप्रजाः। महा.सभापर्व ५८९ महा.वनपर्व २८.१७, १८, २०: शा.पर्व ५७.२९; ५९.६; मनु. ९.२७३ अर्थ चाणक्यसूत्र १४२। कच्चिद् दण्डयेषु यमवत्पूज्येषु च विशापते। परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च। ८९.५ सभापर्व

२ महाभारत वनपर्व २८.२६, २७, ३०

३ महा.उ.पर्व - असंत्यागाट् पापदूतामपापंस्तुल्योदण्डः स्पृश्यते मिश्र भावात् ॥ ३४.७०

४ सुतीदण्डाः सम्प्रेक्ष्यपुरुषस्यबला बलम् ॥ वा.रामा.बा.कां. ७.१३; वा.रामा.सुन्दरकां. ३८.३७; माहा.शा.पर्व ५६.२१; ५९.६९; ८५.२१; ८९.२२

५ महा.शा.पर्व ६९.७६

६ सु प्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना। शा.पर्व १२१.११, ५१; अथर्व. ८.९.२४; महाबोधिजातक ५२८

७ महा.शा.पर्व २६७.१०

८ व्यंगत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात्। शरीरपीडास्तास्ताश्चदेह त्यागे निवासनम् ॥ ४ ॥ शा. पर्व. अ. १२२।

९ वा.रामा.उ.कां. ७९.९, १०; अर्थशा.चा.सू. १४३

को उसी व्यक्ति द्वारा दूसरी, तीसरी, चौथी बार करने पर प्रथम दण्ड का क्रमशः - दुगुना, तिगुना, चौगुना अर्थदण्ड दिया जाता था।[1] दण्ड राज्य की मूल प्रवृत्ति मानी जाती थी।[2] दण्ड में दयालुता वर्जित रही थी।[3] दयालुता के कारण अपयश मिलता था।[4] अपराधार्थ उत्तेजित कर्ता, अपराध में सहायक व्यक्ति एवं अपराधी तीनों को समान रूप में दोषी मान कर दंडित किया जाता था। अपराध में सहायता देने वालों को विशेषरूप से दण्डित करने की व्यवस्थायें जुटाई जातीं थीं।[5] एक ओर व्रत रहित को दण्ड देना आवश्यक था तो दूसरी और निरपराधी को दण्डित करना भी पाप समझा जाता था।[6]

दण्ड प्रकार

दण्ड

१. प्रशासनिक दण्ड	२. दैविक दण्ड	३. आत्मदण्ड
१. मधुरोपदेश	विभिन्न प्रकार के नरक तथा कीटपतंग जीव-जन्तु की योजि एव असाध्य-बिमारी निर्धनता, जड़ता आदि।	व्रत, उपवास, दान, पुण्य, पश्चाताप
२. कड़ी झिड़की		
३. अर्थ-दण्ड		
४. शारीरिक दण्ड		

स्मृतिकालीन दण्ड व्यवस्था को प्रशासिन दण्ड, दैविक दण्ड, एवं आत्मदण्ड के रूप में विभक्त किया गया था।

---

१ प्रथमे अपराधे प्रथमः द्वितीयेद्वितीयेद्विगुणः, तृतीयेत्रिगुणः, चतुर्थेयथाकामीस्यात्॥ अर्थशा. अधि. २, अध्याय २७

२ सेण्यजातक २८२, ग्रामणी चण्ड जातक २५७।

३ मनु. ७.१५७

४ मनु. ८.३१६

५ आ.ध.सू. १.२९.१, २

६ पारा.स्मृ. १.६६-६९; ३.१२, १३

१. प्रशासनिक दण्ड[1]

इन दण्डों का प्रयोग नृप, न्यायाधीश, दण्डधिकारी द्वारा किया जाता था। इन्हें मूलतः निम्नलिखित मुख्य तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था।

(अ) मधुर उपदेश
(ब) कड़ी झिडकी = अपमान, निन्दा, अधिकार, पदच्युति।
(स) अर्थ-दण्ड
(द) शारीरिक दण्ड।

२. दैविक दण्ड[2]

विभिन्न प्रकार के नर्कों की प्राप्ति, कीट-पतंग व जीवजन्तुओं की योनियों में जन्म, असाध्य रुग्णता, जड़ता व निर्धनता आदि को दैविक दण्ड के रूप में माना जाता था।

३. आत्म दण्ड

किये गये अपराध को, जप-तप-सन्ध्या-उपासना-वन्दना, यज्ञ करना, तीर्थ करना, दान देना, उपवास करना, व्रत करना, पश्चाताप करना आदि उपायों के द्वारा शान्त कर, पवित्र एवं पापरहित होनेहेतु भरपूर प्रयास किया जाता था।

१. प्रशासनिक दण्ड

(अ) मधुर उपदेश

शिक्षा के माध्यम से अपराधी को समझाना मधुर-उपदेश कहलाता था। ऐसा व्यक्ति जो आचार-विचार से पवित्र एवं आचरणशील, विद्वान मित्र, राष्ट्र कल्याण-चिन्तक, अथवा भावुक रहा हो; तथा उससे अनायास जाने या अनजाने में कोई अपराध हो गया हो तो, ऐसे पुरुष या नारी अपराधी को, यह कह कर कि, "तुमने

---

१ वाग्दण्डं प्रथमकुर्यादिग्दण्डंतदनन्तरम्। तृतीयं धनदण्डंतु वधदण्डमतः परम्॥ मनु. ८.१२९ योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे॥ याज्ञ. १.३६७ मित्रादिषु प्रयुन्जीतवाग्दण्डधिक्तपस्विनि। यथोक्तं तस्यतत्कुर्यादनुकतसाधुकल्पितम्॥ कात्या. मतसंग्रह ८०२ महा.शापर्व २६७.१८ से २०; विनय पिटक ७.३.५; मनु. ८.१३०, ३१०; महादुक्खक्खन्धसुत्तन्त १.२:

२ महा.अनु.पर्व ११.४४-१०७; वि.पुराण द्वितीयांश अध्याय - ६.१-२९ वि.स्मृ. नरकाणां संज्ञा तेषां वर्णनम् अध्याय।; असीस्मृ. ५७-१३२ तक; आप.स्मृ. १, ३, ४, ५, ७, ९; बौ.स्मृ. शिष्टधर्मवर्णन; पारा.स्मृ. १३४ से १४७; सम्वत्तस्मृ. १०८ से २२७ तक; वायु.पु.खंड - २, अ. ६ अश्विपुरवर्णन

यह उचित कृत्य नहीं किया है, तुम जैसे आचरणशील को ऐसा अपराध नहीं करना चाहिये । यदि तुम भी ऐसा पाप करोगे तो साधारण जनों के समक्ष तुम्हारी महानता व पवित्रता नष्ट हो जायेगी । तुम्हें अपने कृत्यों के प्रति सजग रहना चाहिये । जिससे तुम कलंकित व अपमानित होने से बच सको ।"[१]

इसके बाद अपराधी को मुक्त कर दिया जाता था । इस मधुर दण्ड के पीछे यह भावना कार्य करती थी कि ऐसे मित्र एवं विद्वान तथा भावुक व्यक्तियों को मधुर उपदेश दण्ड के द्वारा सन्मार्ग पर लाया जा सकता है । ऐसे व्यक्ति, जिन्होनें प्रथमबार अपराध किया है, और वे अपराधिक प्रवृत्ति के अभ्यस्त या प्रेरक भी नहीं हों, उनको भी मधुर उपदेश के माध्यम से अपराध से विरत करने का प्रयास किया जाता था ।

यह मधुर उपदेश परोक्ष रूप में शाब्दिक प्रताड़ना ही रही थी । बुद्धिमान् को इंगित करना ही पर्याप्त होता है ऐसा स्मृतिकालीन विधिशास्त्रियों को विश्वास रहा था । इसी कारण स्मृतिकाल में प्रथम बार मधुरोपदेशदण्ड का प्रयोग एक सर्वामान्य दण्ड परम्परा बन चुकी थी । आपराधिक प्रवृत्ति से विरत होकर सामान्य जीवन व्यतीत करने हेतु प्रभावित व प्रतिबाधित होता था ।

(ब) कड़ी झिड़की : या प्रत्यक्ष प्रताड़ना

दूसरी बार अपराध करने, या अपराधियों से संबंधित साधारण अपराधी को, न्यायधीश, न्यायालय में कठोर शब्दों के माध्यम से यह कह कर, "तुम जैसे कृतघ्न-पापी-नीच-अधम अपराधी को धिक्कार है; तुमने यह अपराध अधमकृत्य किया है । तुम समाज का संतुलन बिगड़ना चाहते हो, तुम पापाचार की मूल हो, तुम जैसे व्यक्ति राष्ट्र के नाम पर कलंक हैं", प्रत्यक्ष शाब्दिक प्रताड़ना या कड़ी अथवा रोषपूर्ण झिड़की देता था ।[२] जिससे अपराधी अपनी भूल को समझकर उसे सुधार सके तथा अपराध की पुनरावृत्ति करने का साहस भी न कर सके ।

प्रत्यक्ष प्रताड़ना के निम्नांकित मुख्य रूप प्रचलित रहे थे ।

१. अपमान करना :— दुष्ट प्रवृत्ति के व्यक्तियों, अधर्मों, दास परम्परा के पोषक, बंधन, जल, फल, मूल, कंद, फूलादि की चोरी करने वाले अपराधियों को तथा विपरीत न्याय देने वाले न्यायधीशों को अपमानित कर उसकी सामुहिक निन्दा व तिरस्कार किया जाता था ।[३]

---

१ मनु. ८.१२९; याज्ञ. १.२६७; यजु. १३.१३; का.मतसंग्रह ८०२

२ मनु. ८.१२९; याज्ञ. १.३६७; ऋग्वेद १०.८७.१३; महा.अनु.पर्व १४५.६४; कात्या.मतसंग्रह ८०२

३ ऋग्वेद १०.८७.१३; ४.२८.४; यजु. २४.२६; १५घ्.२; अथर्व. ८.४.४; सतधन्मजातक १७.९; आ प.ध.सू. १८.२९ तथा २८.११, उ.पर्व ३५.३१

२. ताड़ना-फटकारा :— मूर्खता, व दुष्टता, की अधिकता पर एवं गोहत्या करने पर, अपराधी को फटकारते हुए, निन्दा के साथ भय पूर्ण ताड़ना दी जाती थी।[१]

३. द्वेष व बहिष्कार :— वासनाओं में लिप्त रहने वाले, तथा ज्ञान से द्वेष करने वाले, नास्तिकों, मांसभक्षकों, अपशब्द का प्रयोग करने वालों को पतितों की कोटि में रखकर, उन्हें द्वेषपूर्ण दृष्टि से देखा जाता था। उनका सामाजिक बहिष्कार किया जाता था। ऐसे पतित व्यक्तियों को ग्राम से बाहर पृथक् दूसरी जगह पर एक साथ रहने के आदेश दिये जाते थे। कभी-कभी तो अपराधी को ग्राम से बहिष्कृत कर दिया जाता था।[२] जिससे अन्यजन इनसे प्रभावित न हो सकें।

४. भिक्षावृत्ति का आदेश :— स्त्रीसंग्रहण के साधारण अपराध में संग्रहण-कर्ता अपराधी को गदहे का चर्म उड़ाकर, उसके हाथ में लालरंग का पात्र देकर, सात गृहों में भिक्षा मांगने के लिये बाध्य किया जाता था।[३]

५. पदव्युति :— निन्दा, वाक्पारुष्य के अभ्यस्त राजकीय या गैरराजकीय अधिकारी, मूर्खता पूर्ण कर्म करने, धन अपहरण करने वाले, उत्कोच ग्रहणकर्ता अधिकारी को ताड़ना देते हुए पदावनत या पदच्युतकर दिया जाता था।[४]

इस प्रताड़ना से अपराधी की नैतिक अवमानना एवं अपमान को झेलना पड़ता था। फलतः वह जीवित होते हुए भी समाज में मृतप्रायः बन कर जीवन भार ढोते हुए निन्दित जीवन यापन करता था।

(स) अर्थदण्ड

तीसरी बार अपराध को पुनरावृत्ति करने, या अपराध करने आपराधिक प्रवृति का अभ्यास होने, तथा अपराधों में योग देने अथवा प्रेरणा देने वाले व्यक्ति को, शोधातिशीघ्र उच्छेदित करने हेतु, धर्मस्थीय न्यायधीश द्वारा अर्थ-दण्ड की घोषणा की जाती थी। यह दण्ड अपराधानुरुप दिया जाता था।[५]

---

१ यजु. ९.२३; अथर्व ८.४.१; ८.३.१; कात्या.मत. ८१९; आ.ध.सू. १.८.१९

२ ऋग्वेद १.४१८; अथर्व १२.३.४३; ८.४.२; गौ.ध.सू. २६.१५-१८; आ प.ध.सू. १.२८८

३ गौ.ध.सू. ३.५.१८

४ ऋग्वेद १.१२९.६; अर्थ. अधि.२, अध्याय-९; अधि.४, अध्याय-४; तन्दुलनालिजातक ५

५ मनु. ८.५८; १२९; याज्ञ. १.३६७; अर्थशा. ३.१०; ४.१, १०; गौ.ध.सू. २.३.१५; कात्यायन मतसंग्रह २८७

अर्थ-दण्ड का परिमाण

अग्निपुराण

तीन जों का कृष्णल, पांच कृष्णल का एक माष, बारह माह या साठ कृष्णल का आधवर्ष, २४ माष का एक कर्ष होता था। (अग्निपुराण अध्याय २२७.१, २) सोलह माष का एक सुवर्ण, चार सुवर्ण का एक निष्क दस निष्क का एक धरण होता था। यह मान तांबे, चांदी, सोने का मान था (अग्निपुराण २२७.२, ३), तांबे के कर्ष को कार्शिक या कार्षपण कहते थे (अग्निपुराण २२७४)।

मनुस्मृति

छः सरसों के दाने का एक मध्यदशा, तीन जों का एक कृष्णल या एक रत्ती, पांच कृष्णल या रत्ती का एक माशा, सोलहमाशे का एक सुवर्ण होता था (मनु. ८.१३४)। चार सुवर्ण का एक पल, दश पल का एक धरण होता था। (मनु. ८.१३५) यह मान तांबा, चांदी, सोने के सिक्कों का होता था (मनु. ८.१३१)। परन्तु स्मृतिकाल में प्रचलितरूपये की तोल निम्न अंकित होती थी।

दो रत्ती का एक माशा (मनु. ८.१३५), सोलह माशे का एक धरण या पुराण होता था। परन्तु सोलह माशे की मुद्रा को ताम्रिक तथा कार्षिकपण कहते थे। (मनु. ८.१३६)। दश धरण का एक शतमान, तथा चार सुवर्ण का एक निष्क होता था। (मनु. ८.१३७)।

अर्थ-दण्ड प्रकार

१. साधारण अर्थदण्ड

(अ) एक कष्णल से लेकर एक हजार पण तक का दण्ड (अग्नि. अ. २२७)
(ब) फसल नष्ट होने पर फसल उपज के बराबर दण्ड (गौ.ध.सू. २.३.२३)
(स) चोरी गये धन के आठ गुने से लेकर चौसठ गुने का दण्ड (गौ.ध.सू. २.३.१२, १३)
(द) एक माष से लेकर एक सौ पण का दण्ड[१]

मार्ग, देवालय, उदकस्थान, को गन्दा व अपवित्र करने, साधारण वाक्यपारुष्य, साधारण निषिद्ध कर्म करने, निर्दोषी कन्या पर दोष लगाने, फसल नष्ट करने, चोरी, फल, फूल, मूल, पुष्प, हरी सब्जी, की चोरी करने, आश्रितों का भरण-पोषण न करने, क्रमत्यागने, तथा अशुद्ध लिखने वाले पर, साधारण अपराध का दण्ड देय होता था।

---

१ अग्निपु. अ. २२७; गौ.ध.सू. २.३.६-९; १५, १९-२२; मनु. ९.२८२ याज्ञ. १.६६; अर्थशा. २.१, ७; महा.शा.पर्व ५७.२१

२. साहस-दण्ड[१]

(अ) प्रथम साहस (पूर्व साहस) का दण्ड - दोसो-पचास पण तक ।

(ब) मध्यम साहस का दण्ड - पांचसौ पण तक ।

(स) उत्तम साहस का दण्ड - एक हजार पण तक ।

परन्तु याज्ञवल्क्य ने २७० पण् को पूर्वसाहस, ५४० पण को मध्य मसाहस, तथा १०८० पण को उत्तम साहस की कोटि में रखा था । इस प्रकार २० पण, ४० पण, ८० पण अपने साहस दण्ड में अधिक रखकर, शीघ्र अपराध रोकने की व्यवस्था की थी ।

साहस दण्ड का प्रयोग देवप्रतिमा को तोड़ने, सीढ़ी व मार्ग तोड़ने, नियमविरूद्ध आचरण करने, असमय में सन्यास लेने, नकली मुद्रा ढ़ालने व उसे चलाने, बिना अनुमति दूसरे गृह में प्रवेश करने, अपेय पदार्थ पिलाने, द्रव्य अपहरण करने, ग्राम या उपवन की परिधि तोड़ने, बांध तोड़ने, शस्त्र से आक्रमण करने, दुर्ग एवं दुर्ग परिखा तोड़ने, मिथ्याबोलने हिंसा व गर्भपातं करने वालों को अपराध की मात्रानुरूप प्रथम साहस, मध्यम, साहस व उत्तन साहस का दण्ड दिया जाता था ।

२. सम्पत्ति हरण दण्ड[२]

महापापी अपराधी की सम्पूर्ण सम्पत्ति राज्य द्वारा छीन ली जाती थी । अपराधी को पूर्ण रूपेण रंक बना दिया जाता था । उसके घर को ढ़हा कर समतल कर दिया जाता था ।

इस दण्ड का प्रयोग दस्युओं, उत्कोच लेने वालों, धन अपहरण करने वाले अधिकारियों, कुमारी के साथा मैथुन करने वालों, विष देकर हिंसा करने वालों के विरुद्ध किया जाता था । अधिकांशतः जिन अपराधियों को देश निर्वासन का दण्ड दिया जाता था । उनकी सम्पत्ति का हरण राज्य प्रशासन करता था ।

---

१ पाणानां द्वेशतेसार्धै प्रथमः साहसःस्मृतः । मध्यमः पंचविज्ञेय सहस्रत्वेव चोत्तमः ॥ मनु. ८.१३८; ९.२४०, २७९, २८१, २८९; याज्ञ. १.३६६; २.७७; कात्या.मत. ६४६; वि.स्मृ.धनसंख्यावर्णनम्-अध्याय ।; अग्निपु. २२७.४५; अर्थशा. २.१, ५,७ ३४; ३.१; ४.११, १३

२ ऋग्वेद १०.८७.१०; १.६३.७; १.८४.७; अथर्व ७.९०.२; ८.३.१६; मनु. ७.१२४; ९.२४२; याज्ञ. द्रव्यहीनान्कृत्वाविवासयेत् ॥ १.३३९ अग्निपु. अ. २२७; बौ.ध.सू. १.१०.१८.१९; आ प.ध.सू. २.२६.२१; महा.शा.पर्व ८५.२०; २६७.१३; कात्या.मतसं. ६३७, ८१४; अर्थशा. अधि. २, अध्याय-९

(द) शारीरिक दण्ड[1]

बार-बार अपराध करने वालों, महापातकियों, एवं मधुर उपदेश, प्रताड़ना व अर्थदण्ड से नियन्त्रित न होने वाले के विरुद्ध इन अपराधियों को शारीरिक दण्ड दिया जाता था।

शारीरिक दण्ड के भेद

१. भोजन से वंचित[2]

अपराधी को भोजन से वंचित रखा जाता था। इस दण्ड की सीमा एक दिन से लेकर एक माह तक होती थी। केवल जीता रहे इस हेतु अत्यल्प जल, दूध व फलाहार दिया जाता था।

साधारण रूप में विपरीत न्याय देने वाले, या आंशिक रूप में लोकाचार का विरोध करने वाले अपराधी अधिकारी को यह दण्ड दिया जाता था। (गौ.ध.सू. २.६.१५ से १८ तक)। यह दण्ड मृत्यु से भी दूभर होता था।

२. परिभ्रमण पर प्रतिबन्ध[3]

अपराधियों के परिभ्रमण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाता था। इस प्रतिबन्धित दण्ड के कारण अपराधी को एक निश्चित सीमा में रहना पड़ता था। जिससे अपराधी के दोषों का प्रभाव साधारण पुरुषों पर न पड़ सके। इस दण्ड की स्थिति प्रतिरोधात्मक होती थी।

३. साधारण शारीरिक दण्ड

अपराधियों को साधारण शारीरिक दण्ड दिये जाते थे। अपराधी के नाक में नमक का पानी ड़ाला जाता था। कभी-कभी हाथ के नाखुनों में सुंई चुभोकर अपराधी को व्यथित किया जाता था। अंगुली के एक पोर (भाग) को अग्नि में जला दिया जाता था। अपराधी को घी या तेल पिलाकर, तेज धूप में या आग के पास बिठाने का दण्ड भी दिया जाता था। शीत ऋतु को रात्रि में जल से भीगी घास पर अपराधी को नंगे बदन लेटना या शयन करना होता था।[4] भूमि पर घसीटने, ऊंचे से पृथ्वी पर गिरा देने, अपराधी की, आखों पर पट्टी बांधकर भी दण्डित करने

---

१ मनु. ८.१२९, याज्ञ. १.३६७

२ महा.उ.पर्व ३५.३२

३ अर्थ. ८.४७

४ अर्थ. अधि. ४, अध्याय-८

की परम्परा विद्यमान रही थी ।[१] अपराधी के कान में शीशा व जस्ता भर कर बधिर बना दिया जाता था ।[२] तप्त सुरा पिला कर सुरापान कर्ता अपराधी को सुरापान करने जैसे दुर्गुण से विमुख किया जाता था ।[३] अनेकावसरों पर सिर मुन्डवा देने का दण्ड भी स्मृतिकालीन न्यायधीश देते थे ।[४] लपसी पिला कर, अपराधी को पेशाब करने की अनुमति कुछ निर्धारित समय तक नहीं दी जाती थी ।[५] अपराधी को सूर्य की धूप में तपाया भी जाता था ।[६]

४. बन्धन का दण्ड

अपराधियों को उनकी शारीरिक क्षमता के अनुरुप, रस्सी, सांकल, एवं बेडियों में कस कर बान्धा जाता था । जिससे अपराधी पलायन न कर सके ।[७] उद्दण्ड अपराधी के हाथ-पैर बांध कर उल्टा लटका दिया जाता था । कभी-कभी अपराधी के घुटने व मस्तक को एक साथ रस्सी से कुछ देर के लिये बान्ध दिये जाते थे । अनेकशः बायें हाथ को पीठ की ओर कर, बायें पैर से तथा दायें हाथ को पीठ की ओर कर दायें पैर के साथ मिलाकर बांध दिया जाता था । दोनों हाथों को बांधकर सीधा लटकाने एवं दोनों पैरों को बांध कर उल्टा लटकाने के दण्ड भी अपराधियों को दिये जाते थे[८] ।

इस बन्धन दण्ड का उपयोग, द्रोहकता, पापी, असत्यवादी, हिंसक, सेंध लगाने वाले, बटमार, मनुष्य घातक चोर, के विरूद्ध किया जाता था । यत्रतत्र भ्रमण्कर्ता अपराधी को भी बांध कर ही नियन्त्रित किया जाता था ।

---

१ खन्तिवादीजातक ३१३, निमी जातक ५४१, आप.ध.सू. २.२७.१७

२ गौतम ध.सू. २.३.४

३ गौ.ध.सू. ३.५.१; आ प.ध.सू. १.२५.३३; सुरांपीत्वोष्णयाकायं दहेत् ॥ बौ.ध.सू. २.१.१.१७; कर्मपुराण खंड-२, अध्याय-३२; सम्वत्र्त स्मृति ११६; ब्रह्मचर्यवर्णनम् ।

४ वा.रामा. सु.कांड ५२.१५

५ अर्थशा. अधि. ४, अध्याय-८

६ आ प.ध.सू. १.२६.११

७ ऋग्वेद १८७.११; २.२७.१६; यजु. ८.४४; अथर्व. ४.१६.६, ७; ५.६.३; ८.३.२, ३; ८.४.२; १.७.७; मनु. ८.३१०; कात्या. मतसं ८१५; सः दुरितेपाशेबद्धः नियुज्यताम् ॥ अथर्व २.१२.२; बन्धागारजातक २०१; खन्तिवादीजातक ३१३

८ अर्थशा. अधि. ४, अध्याय - ८

पीटना[१]

अपराधी को बेंत की छड़ी अथवा बेंत के डन्डे या लोहे की छड़ अथवा लोहे की साकंल, चाबुक, रस्सी, मूसल, विद्युत कोड़े, पत्थर, बांस की छड़ दांतेदार लाठी व कंटीली डाल या छड़, साधारण लकड़ी आदि से पीटकर व्यथित किया जाता था। यह पिटाई सार्वजनिक स्थानों पर जनसमूह के सम्मुख की जाती थी। पीटते समय अपराधी के मर्मस्थान, जैसे - कान, नाक, आंख, सिर, त्रिलिंग, पसली व रीढ़ की हड्डी को छूना व पीटना निषिद्ध था (अग्निपु. अ. २२७) ।

वे अपराधी जो अर्थदण्ड देने में सक्षम नहीं होते थे, उनको विकल्प दण्ड के रूप में बेंत के डन्डे से पीटा जाता था, एक पण के बदले में एक बेंत का दण्ड देय होता था। इस प्रकार जितने पण अर्थदण्ड अपराधी पर लगता था, उसे उतने ही बेंत के दण्ड को भुगतना पड़ता था — अर्थशास्त्र अधिकरण -४, अध्याय-१ : तेणमय: शुलेन यावतपणानभिवदेयु:, तावन्तशिफा प्रहारादण्डाः ॥

असत्यवादी, हिंसक, चोर, दृष्ट, क्रूर के विरूद्ध पीटने का दंड दिया जाता था।

कारागार का दण्ड[२]

अपराधियों को न्यायाधीश के अनुसार उनके आदेश से कारागार में रखा जाता था। अपराध की गुरुता के अनुसार या नृप व न्यायविद् के विवेकानुसार, निर्धारित समय तक, अर्थात् एक दिन से लेकर जीवनपर्यन्त, कारागार का दण्ड दिया जा सकता था।

---

१ ऋग्वेद १०.८७.५, १७; १.१२६; १.६३.५; अथर्व. ८.३.४, ६, ७; ८.४.२, ९, १४, १७, २०, २२, २४, २५; ८.४.१६; ७.१०८.१ आ प.ध.सू. २.२७.१५; २.२८.२, ३; गौ.ध.सू. २.३.४१; अग्निपु. अ. २२७; वा.रामा. सु.कांड - ५१.१५; महा.शा.पर्व ५७.२२; अर्थशा. अधि.४, अध्याय-१; षड्दण्डाः, सप्तवशा - अर्थशा. ४८; सम्वर्तस्मृतिब्रह्मचर्यवर्णनम् १२०; महादुकडकडग्रन्थसुत्तन्त १.२.३; अन्डदूतजातक ६२; शटकुशलमाण्वजातक ४३२; खन्तिवादीजातक-३१३;

२ ऋग्वेद १०.८७.११, १५; १.५४.३; यजु. १.२६; ८.४४; १३.४, ८, ९, १२, ५१; १६.६४; २२.५; अथर्व. ७.९.२; ८.३.२, ३, ११, १३, १४, ३५; ८.४.६; महा.शा.पर्व ८६.२२; २६७.१३; ८५.२०; उ.पर्व ३५.३.२; विनयपिटक ७.३.५; महा दुक्खक्खन्धसुत्तन्तु १.२.३; सेय्य जातक-२८२; छा.उप.प्रथमसं. प्रथम अध्याय, द्वितीय अध्याय, मं.२ छा.उप. द्वितीयखंड, प्रथमअध्याय, श्लोक-२ बन्धनानि च सर्वाणिराजमार्गे निवेशयेत् ॥ मनु. ९.२८७; कात्या.मतसंग्रह-३५२; अर्थशा. २.५; ४.९

अर्थदण्ड के विकल्प में भी कारागार का दण्ड देने की परम्परा विद्यमान थी (शा.पर्व ८५.२०) वे निर्धन अपराधी जो अर्थदण्ड देने की सामर्थ्य नहीं रखते थे, और शरीर से जीर्ण होते थे, उनको अर्थ दण्डानुसार कारागार का दण्ड दिया जाता था। इस विकल्प का निर्धारण, न्यायाधीश के विकल्प पर अवलम्बित होता था।

दण्डनीय अपराधियों के लिये कारागारों का निर्माण राजमार्गो पर किया जाता था जिससे बन्दीगृह में बन्द अपराधियों को जनसमूह देख-रेख कर निन्दित कर सकें। स्त्री-व-पुरुषों के लिये पृथक्-पृथक्, कारागार होते थे। कारागार व कैदी की सुरक्षा शासन द्वारा होती थी।[1]

हिंसक, वाक्यपारुण्य, अपकारी, चोर, राज्यविद्रोही, अन्यायपूर्ण निर्णय देने वाले न्यायाधीश एवं प्रत्येक प्रकार के दण्डनीय अपराधी को कारागार का दण्ड दिया जाता था। अपराधी को पाश में बान्धकर अन्धकारपूर्ण कारागार में ड़ाला जाता था।[2] परन्तु प्रसूता तथा गर्भिणी स्त्री को कारागार का दण्ड नहीं मिलता था, अपितु उसे डांट फटकार कर छोड़ दिया जाता था। थोड़ा अपराध करने वाले बालक वृद्ध, रोगी, नासमझ, पागल, भूखे-प्यासे-थके हुए तथा दुर्बल आराधी से कारागार में श्रम नहीं कराया जाता था।[3]

कारागार की व्यवस्था

शासन अपराधियों हेतु कारागार की व्यवस्थता करता था। धर्मस्थीय कारागार, प्रदेष्टा (फौजदारी) कारागार, नारीकारागार की पृथक्-पृथक् व्यवस्था होती थी। बन्धनागाराध्यक्ष नामक अधिकारी कारागार की प्रबन्धव्यवस्था करता था। कारागार कर्मचारी अथवा निरीक्षक अपराधी हेतु शय्या, आसन, मल-मूत्र त्याग का विशेष प्रबन्ध करता या कराता था तो उसे तीन पण का अर्थदण्ड भुगतना पड़ता था। कारागार व्यवस्था को स्थगति करने पर निम्नप्रकार से दण्ड विधान प्रभावी होता था।

अभियुक्त को कारागार से भगाने या भागने में सहायता कर्ता राजकीय कर्मचारी को प्रथम साहस के दण्ड के साथ अपराधी पर होने वाले अर्थ दण्ड की पूर्ति का दण्ड लगता था। प्रदेष्टा के कारागार से भगाने पर अभियुक्त की सम्पूर्ण सम्पत्ति हरण का दण्ड दिया जाता था। बन्दी से व्यक्तिगत कार्य कराने वाले अधिकारी पर ४८ पा का दण्ड, बंदी को खाने-पीने का कष्ट देने या कारागार में

---

१ मनु. ९.२८८ वन्धनानि च सर्वाणि राजामार्गेनिवशयेत्। मनु. ९.२८७; कात्या.मतसंग्रह-३५२; अर्थशा. २.५; ४.९

२ अथर्व. ८८८, १०

३ अर्थ ४८

निर्धारित स्थान से अन्यत्र रखने पर ९६ पण का दण्ड, शारीरिक दण्ड देने या उत्कोच लेने पर, मध्यम साहस का दण्ड, बन्दी की कारागार में मृत्यु होने पर बन्धनागाराध्यक्ष पर, एक हजार पण दण्ड, बन्दी दासी से बलात्कार करने पर प्रथम साहस का दण्ड, चोर स्त्री से बलात्कार करने पर मध्यम साहस का दण्ड, कुलीन स्त्री से (कारागार में बंदी रूप में रहने वाली) दुराचार करने पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था। कारागार में बन्दी के द्वारा, बन्धनागाराध्यक्ष द्वारा बलात्कार करने पर प्राणदण्ड, कारागार में बन्धनागाराध्यक्ष द्वारा दासी से बलात्कार करने पर उत्तम साहसका दण्ड, धर्मस्थीय कारागार एवं प्रदेष्टा कारागार की दीवार तोड़ कर कैदी को भगाने या भगाने में योग देने वाले कर्मचारियों को क्रमशः प्राण दण्ड तथा सर्वसम्पत्ति हीन कर मृत्युदण्ड दिया जाता था।[१]

शरीर दागने का दण्ड[२]

अपराधी के मस्तक पर, अपराध से सम्बन्धित चिह्न गर्म लोहे से दागा जाता था। यह चिह्न अपराधी द्वारा किये गये अपराध की घोषणा करता था। कुछ प्रचलित दन्ड निम्नवत् रहे थे:—

(अ) सुरापान कर्ता के माथे पर, मदिरालय के झण्डे का चिह्न; मद्यपात्र का चिह्न या मद्य गिलास का चिह्न, गुदवा दिया जाता था।

(ब) चोरी करने वाले के माथे पर कुत्ते का चिह्न या श्रृगाल का चिह्न।

(स) मानव-हत्या करने वाले के माथे पर, मनुष्य का धड़-चिन्ह।

(द) सत्रीसंग्रहण कर्ता के माथे पर, स्त्री की योनि का चिह्न, अंकित (गुरु पत्नी के साथ) किया जाता था।

अपराधी के चिह्न को देख कर समाज तत्क्षण निर्णय कर लेता था। कि अमुक व्यक्ति अमुक अपराध का अपराधी है। ऐसे अपराध से व्यक्ति सावधान रह कर दूसरों को भी सचेत कर दिया करता था।

८. अंगछेदन का दण्ड

जिस-जिस अंग से अपराधी अपराध करता था, उसका वह-वह अंग काटकर पृथक् कर, अपराधी को अपंग बना दिया जाता था। जिससे अपराधी

---

१ अर्थ ४.९

२ मनु. ९.२३७, २४० ; का.मतसं. ६३५; गौ.ध.सू. २.३.४४; बौ.ध.सू. १.१०.१८.१८; अग्निपु. अ. २२७; वा.रामा. सु.कां ५२.१५ अर्थशा. अधि. ४, अध्याय-८

अपराध की पुनरावृत्ति न कर सके। अंगछेदन का दण्ड अपराधी के हाथ, पैर, नाक, कान, ओष्ट, जिह्वा, व त्रिलिंग, को पृथक् कर आंख निकलवा कर, रीढ़ की हड्डी व पसली को तोड़कर अंगुलियों को काट कर, या शरीर का पैसे-पैसे भर मांस काट कर दिया जाता था। चतुर्थ बार या अनेक बार अपराध करने, हिंसा करने, मांस भक्षण कर्ता, स्त्रीसंग्रहण, गुणवानों को निन्दा, व शुद्रों द्वारा वेद मन्त्रों का उच्चारण करने, राष्ट्र के विरुद्ध विद्रोह पूर्ण भाषण देने, विष देने, आग लगाने, पति, ब्राह्मण, गुरु पुत्र की हत्याकरने, राजनिन्दा करने, अफवाहें फैलाने, वाले अपराधी को अंगछेदन दण्ड से दण्डित किया जाता था। परन्तु, गर्भवती नारी को प्रसवकाल पूर्ण होने पर ही दण्डित किया जाता था।दोनों आंख निकलवा कर अन्धा करने, दोनों पैर काट कर पंगु करने, दोनों हाथ काट कर हस्तहीन करने, मुख को कानों तक फाड़ कर विकृत करने, आदि तक का भी कठोर दंड अंगछेदन कर, अपराधी को दिया जाता था।[1]

९. निर्वासन का दण्ड

स्मृतिकालीन न्यायाधीश गर्हित कार्य करने वालों — जालीमुद्रा ढ़ालने वाले, नकली सोना बनाने, शुद्ध सोने का रंग उड़ाने वाले, कंजूस, धूर्त, हिंसक, घातक, दाहकर्ता, मानव शरीर को दुषित करने, स्त्रीसंग्रहण, राष्ट्रविद्रोह, ब्रह्म व भ्रूण हत्या करने, उत्कोष लेने वाले अधिकारी, निर्दयी व मिथ्याचारी, आग लगाने, अभक्ष्य खाने, अपेय पीने वाले गुरु अपराध के अपराधी, ब्राह्मण, व्याभिचारी, आमात्यों, जुआरी एवं नर्तक, अश्लील गायक, पाखण्डी, और मद्य बनाने वालों को देश से निर्वासित करने का दण्ड देते थे।[2]

अनेक बार अपराधी को निर्वासन-दण्ड देते समय, अपराधी की सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती थी। अंगछेदन किया जाता था। माथे पपर अपराध से संबंधित चिह्न भी दाग दिया जाता था।

---

१ येनयेनपरद्रोहं करोत्यङ्गेनतत्करः। छिन्द्यात्तत्तु नृपस्तस्य न करोति यथा पुनः॥ कात्या.मत. ६३३; ऋग्वेद १०.८७.५; ३.२०.८; यजु. ३०.१०; अथर्व. ८.३.३, ४, ६.७, १०, १४, १५, १७; ८.४.२, ४, ५, १९, २०, २२, २५; गौ.ध.सू. २.३.१, २, ४; ३.५.१०; कात्या.मतसं. ६१०, ६२९, ८१३, ८१७, ८१८; आ.ध.सू. २.२६.२०; २.२७.१४; वा.रामा. सु.कांड-५.२.१५; महा.शा.पर्व २६७.१३; अग्निपु.अ. २२७; अर्थशा. ४.११; विनयपिटक, ७.३.५; महादुक्खक्खन्थसुत्तन्त १.२.३; सेय्यजातक २८२; गामणीत्रण्ठ जातक २५७; खन्तिवादीजातक ३१३; मनु. ८.१२९ याज्ञ. २.२७९; आ.ध.सू. १.२५.१

२ ऋग्वेद १.३६.१५; यजु. ८.४४; अथर्व. ८.८४.१, ३, २३; आप.ध.सू. २/६.२१; २.२७८.२०; गौ.ध.सू. २.३.४४; २.४.२३; अग्निपु.अ. २२७; मनु. ७.१२४; ९.२२५, २४१; याज्ञ. १.३३९; आरव्धारस्तु हिंसायां गूढा जीवस्त्रयोदश। प्रवास्यानिष्क्रमार्थं वा दुष्टदोष विशेषतः अर्थ. ४.४.१; ४.४८, १३ बौ.ध.सू. १.१०.१८.१८; कात्या.मतसं. ८१४; महादुवसवसन्धतुत्तन्त १.२.३; महासलिवजातक ५१; महापलोभनजातक ५०७; सत्तुभक्त जातक-४०२

निर्वासन-दण्ड उन व्यक्तियों को दिया जाता था जो आपराधिक प्रवृत्ति के अभ्यस्त होतें थे। ब्राह्मण, राजकीय अधिकारी आदि जिन्हें मृत्यु दण्ड देना निन्दनीय माना जाता था उन्हें भी निर्वासन का दण्ड भुगतना पड़ता था।

१०. मृत्युदंड

स्मृतियुग में असत्य भाषण, हिंसा करने, मांस भक्षण करने, लुटमार करने, राजाज्ञा की उपेक्षा करने, अवेधशास्त्रों के संग्रहण, दास बनाने वाले, स्त्रीसंग्रहण, मन्त्रणा उद्घाटित करने, आग लगाने, सम्पत्ति हरण करने, स्तेय-आत्महत्या करने विष देने, वर्णसंकरता फैलाने, सेतु या बांध तोड़ने, राजकीय, शास्त्रागार व मन्दिर तोड़ने, तथा बार-बार अपराध करने पर मृत्युदंड दिया जाता था।[1]

मृत्यु दण्ड के प्रकार

१. साधारण वध दण्ड

(अ) वध दण्ड : अपराधी को शूली पर टांग कर, अपराधी का सिरछेदन कर, अपराधी को विष पिला कर, उसका जीवन समाप्त कर दिया जाता था। यह दण्ड शुद्ध वध दण्ड, या साधारण वध दण्ड कहलाता था।[2] वध दण्ड देने से पूर्व अन्य प्रकार का दंड अपराधी को नहीं दिया जाता था। भयंकर अपराधों में अपराधी को सपरिवार भी मृत्युदण्ड देने की परम्परा विद्यमान रही थी।[3]

---

१ ऋग्वेद १.५९.६; ७.२१८; १०.८७.५, १६; वृत्रं हतं। ऋग्वेद १.२३.९; यजु ८.४४; १२.३३; ३५.१९; अथर्व. ६.१३४.१ से ३; ८.३.१, ७, १३, २३, ३५; ८.४.१, ४, ७, ८, से १८, २० से २२, २५; साम. पूर्वावक् अध्या. ४ सातवीं दशतीं मन्त्र ४; गौ.ध.सू. २.३.२; ३.५.१५; आप.ध.सू. २.२७.९; १.२७.१६; निकृत्योपचरन् वध्य एव धर्मः सनातनः ॥ महा. वनपर्व १२.७; उ.पर्व ३७.१०, ११; ७५.६; अनु.पर्व १.३९, ४४; शा.पर्व २६७.२३; ३३.३०; ८५.२२; ८९८; याज्ञ. १.३६७; यजु. १३.७-९; दुष्टांश्चहन्यात्। वि.स्मृ.राजधर्म अध्याय; गौ.ध.सू. १.१०.१८.१९ मनु. ८.५८, १३०; ९.२४२, २७९; ८.१३०; अर्थशा. अधि. २, अध्याय-८; अधि. ८, अ.३, मं. १५; ८.४.२४ कात्यायनमतसंग्रह ३५६, ६३४, ६४४, ८१६

२ ऋग्. १.२३.९; १.५९.६; २.१२.१०; ३.३०.१५; अथर्व १.७.७; ४.३.३; ५.८.५; ८.६.१; ८.३.१५; ८.४.२४, २५; यजु. १३.७-९; साम. पर्वा.अ.-३ अष्टमृदशती, मंत्र-९; आप.ध.सू. १.२७.१; अग्नि.२२७; उ.प. ३७.११; वनपर्व ७.१२; शा.पर्व ६८.४४; ८५.२२; अनु. १.४४; कात्या.मत. ३५६, ६३४, ६४४; ८१६; ६५१; वि.स्मृ.राजध.सू. ३.५.१५; १.१०.१८.१९; अर्थ. १.१५; २८; महादुवखक्खन्धसुत्तन्त १.२.३ मनु. ८.५८३; १३०; ९.२४२; २७९, २८०; याज्ञ. १.३६७

३ महा.शा.पर्व ६८.४४; ८५.२२;

(ब) जल में डुबो कर वध दण्ड[१] : अपराधी के हाथ पैर बांध कर; या गले में शिलाखण्ड बांधकर, अपराधी को जल में फेंक दिया जाता था। या अपराधी के गले में रस्सी बांध कर, अपराधी को जल में फेंक दिया जाता था। या अपराधी के गले में रस्सी बांध कर उसे अनेक बार पानी में डुबो कर बाहर निकाला जाता था। यह प्रक्रिया तब तक चलती थी जब तक अपराधी का जीवन समाप्त नहीं हो जाये।

२. असाधारण मृत्यु दण्ड[२]

भयंकर अपराधों में अपराधी को विभिन्न प्रकार की कठोर यातनाओं के साथ मृत्यु दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार के मृत्यु दण्ड को असाधारण मृत्यु दण्ड (विचित्र वध) कहते थे। निम्न प्रकार के मृत्यु दण्ड विचित्र वध दण्ड कहलाते थे।

(अ) अग्नि में जलाने का दण्ड :— राष्ट्र में विद्रोहकर्ता, अनुशासनहीन, नियमों व परम्पराओं का अतिक्रमणकर्ता, दस्यु सुरंग लगातार चोरी कर्ता, कटुवचनी, मिथ्यावादी, तस्कर, घूर्त, कपटी, दम्भी, छली, निन्दक, क्रोधी तथा समाज को नष्ट करने वाले व्यक्ति को जीवित दशा में अग्नि में जलाया जाता था।[३]

चोर कों तपे हुए परशु से जला कर व्यथित व नष्ट दिया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् प्रथम खण्ड, प्रथमाध्याय अन्नक्षेत्र, खेत, ग्राम व गृह, काष्ठवन, हस्तिवन, को जलाने वाले अपराधी को सुखी घास से लपेट कर जलाया जाता था।[४]

अनाधिकार राज्य प्राप्त करने की चेष्टा करने वाले, अन्तःपुर को दूषित करने वाले, सेना व राजशत्रुओं को विद्रोह हेतु प्रेरित करने वाले, को अंगारों पर तपाकर नष्ट किया जाता था। (अर्थशास्त्र ४.११)। सम्पूर्ण शरीर या किसी विशेष अंग में कपड़ा लपेट कर, उस कपड़े को तेल में भिगोया जाता था। फिर अग्नि लगा दी जाती थी। अनेक बार कोहनी, घुटनों में कीलें ठोक कर अपराधी को जलाया जाता था। खोपड़ी (सिर के उपरी भाग) की छाल छील कर उस पर जलता हुआ अग्नि का गोला रख दिया जाता था।[५]

---

१ अर्थशा. ४.११; २.२७८

२ अर्थ. १.१५; अथर्व. ८.३.१५; ८.४.२४;, २५; अग्नि. २२७; महा.दु. १.२.३; का.मत १४५, ६४७

३ ऋग्. १.६५८; ४.२८.३; १०.८७८; यजु. ११.८०; १३.१२; अथर्व. ८.३.१२, १६, १९, २३, ३५; ८.४.१; ७.१०८.२; आ.ध.सू. १.२५.६ येस्तेना ये च तस्करास्तांस्ते अग्ने पिदं धाम्याम्ये। यजु. ११.७७ मिथ्योपचरिता राजा तदा भवति पावकः॥ महा.पर्व ६८.४२

४ अग्निपु.अ. २२७; अर्थशा. २.३४-प्रादीपिकोम्निनावध्यः॥ ४.११; याज्ञ. २.२८२

५ महसदुक्खवखन्धसुत्तन्त १.२.३

स्त्रीसंग्रह के अपराधी को तप्तलोह की नारी प्रतिमा का आलिंगन कराकर या तप्तलोहश्य्यापर लिटाकर नष्ट किया जाता था।[1]

(ब) हिंसक पशुओं के द्वारा :— अपराधी को हिंसक पशुओं या कुत्तों के सामने फेंक दिया जाता था।[2] जिससे हिंसक पापी आदि अपराधी का मांस नोंचनोंच कर खा जायें। इसके अतिरिक्त अपराधी को गाय आदि पशुओं के खुरों के नीचे दबा कर मार ड़ालने का दण्ड भी स्मृतियुग में दिया जाता था।[3]

(स) अन्या साधनों द्वारा :— १. अपराधी की हड्डी य पसलियां तोड़कर चूर-चूर कर दी जाती थीं। (अथर्व २.७.५; १६.७.११, १२)।

२.	अपराधी के शरीर को चीर कर नमक भर देना। अथर्व. ८.३.४, ५, ६, १७, ३५, २;	महादुक्खक्खन्तसुतन्त १.२.३ निमिजातातक ५४१
३.	सम्पूर्ण शरीर की खाल खींच देना।	अथर्व. ८.३.५, ६, ४, १७.३५.२
४.	कानों तक मुख फाड़ देना	
५.	तेल के तप्त कढ़ाह में अपराधी को भूनना	
६.	सन्डासी से थोड़ा-थोड़ा मांस नोचना।	अर्थशा. १.१५ निमिजातक : ५४१
७.	ग्रीवा को मरोड़ते जाना।	
८.	त्रिलिंगछेदन कर देना।	
९.	शरीर के विभिन्न अंगों में कीलें ठोंक देना। अथर्व. ८.३.२; ८.४.२	

अपराधी को व्यथित कर, समूल नष्ट करने के पूर्ण प्रयत्न स्मृतियुग में किये जाते थे।

---

१ गौ.ध.सू. ३.५८, ९; सम्वत्तस्मृतिब्रह्मधर्यवर्णनम् १२२, १२३; आ.ध.सू. १.२५.२; १.२७.१५

२ गौ.ध.सू. ३.५.१४

३ अर्थशा. ४.११; याज्ञ. १.२७९; सामवेद १३४३; आ.ध.सू. १.२५.१

(द) तीक्ष्ण हथियारों से स्वार्थी, हिंसकों व भक्षाकों, प्रजासंहारकों को नष्ट किया जाता था।[१] भोगी, कामुक, दास बनाने वालों को छिपकर सताने वालों को, दांतेदार लाठी से पीटा जाता था। या कुल्हाड़ी से अंगप्रत्यंग काट-काट कर पृथक् कर दिया[२] जाता था। कभी-कभी तो लोहे का अंकुश मुंहद्वार से अन्दर ड़ाल कर फिरबाहर खींच कर या दोनों कानों में कील ठोक कर, भूमि में गाड़ कर, पेठे की भांति घुमाकर, नष्ट करने की परम्परा रही थी। अनेक अवसरों पर मूंगरी से पीट-पीट कर, हड्डियों को चूर-चूरकर शरीर को मांसपिण्ड बना दिया जाता था। तेज हथियारों से काट-काट कर अपराधी को बलि भी चढ़ाया जाता था।[३]

२. दैविक-दण्ड

मनुष्य जाने-अनजाने में जो भी अकृत्य, अपराध या पाप करता है, उसमें योग देता है, या प्रेरणा देकर प्रेरक का कार्य करता है, तो, उसको देर-सवेर अपने पाप का प्रतिफल दैविक शक्ति के द्वारा भुगतना पड़ता है, ऐसा स्मृतिकारों का सर्वसम्मत मत रहा था। शारीरिक व्याधियां दारुण दुःख, निर्धनता, असाध्य रुग्णता, असफलता, विकलांगता, विभिन्न प्रकार के नरकों की प्राप्ति, विभिन्न प्रकार को योनि में जन्म आदि दैविक दण्ड, ईश्वर द्वारा कृत हैं, इन्हें मानव अपने अपराध के परिणामस्वरूप अवश्यमेव प्राप्त करता हैं।

(अ)

अपराध व पाप	दैविकदन्ड के रूप में योनि[४]
१. अधर्म कर्ता	पशु-पक्षी की योनि
२. ब्राह्मण द्वारा मोहवश दान लेने पर	पन्द्रह वर्ष तक गदहे की योनि, बाद सात वर्ष तक बैल की योनि, फिर तीन मास तक ब्रह्मराक्षस की योनिः क्रमशः अविरल।

---

१ ऋग्वेद १.९४.९; २.२०.६; ३.३०.१७; १०.८७.७;अथर्व. ५.६.१०; ७.८४.३; ८.३.५, ६, १२, १४

२ अथर्व. १.१९.३; ८.४.३, ५, १७; ७.१०८.१; २.१२.२, ३

३ महादुक्खक्खन्धसुत्तन्त १.२.३; दुम्मेधजातक ५०

४ महा.अनु.पर्व १११.४४; से १०७; वि.पुराण २.६.१-२९; निमिजातक-५४१; वि.स्मृ. नरकाणां संज्ञा तेषां वर्णनम् अध्याय। बौ.ध.सू. १.१०.१९.१८; याज्ञ. ३.२०९.२११; ३.१३२-१४०; मनु. ९.४९-५२; १२.५४-७२; वसिष्ठ २०.४४; शातापस्मृति १.३-११

३. ब्राह्मण द्वारा पतित पुरुष का यज्ञ करने पर	पन्द्रह वर्ष तक कीडे-मकोडे की योनि, फिर पांच वर्ष तक गदहे की योनि, फिर पांच वर्ष तक सुअर,पांच वर्ष तक मुर्गा, पांच वर्ष तक सियार, एक वर्ष तक कुत्ते की योनि में (अविरल)।
४. अध्यापक का अपमान करने वाला शिष्य	प्रथम कुत्ता, फिर राक्षस, फिर गदही की योनि, फिर प्रेतावस्था में नाना दुःख प्राप्त करता है।
५. गुरु-पत्नी के साथ रमण कर्ता शिष्य	तीन वर्ष कुत्ता, एक वर्ष कीड़ा-मकौड़ा की योनि।
६. माता-पिता का अपमान कर्ता, सन्तति	प्रथम दस वर्ष तक गदहा, एक वर्ष घडि-याल, चौदह माह कुत्ता, सात माह बिलाव, दस वर्ष कछुआ, तीन वर्ष साही छः मास सर्प, की योनि अविरल।
७. राजद्रोह कर्ता	दस वर्ष वानर, पांच वर्ष चूहां, छःमास कुत्ता की योनि अविरल।
८. धरोहर अपहरणकर्ता	सौपतित योनियां, तत्पश्चात् १५ वर्ष कीट योनि।
९. दोषारोपणकर्ता	मृग योनि।
१०. विश्वासधातकर्ता	आठ वर्ष तक मछली की योनि, चार मास तक मृग, एक वर्ष बकरा, फिर कीट की योनि अविरल।
११. अन्न, दाल, तिलहन का चोर	क्रमशः चूहा, सुअर, कुत्ता की योनि।
१२. परस्त्रोगमन मोहवश व कामनापूर्ति हेतु (भ्रात, मित्र, गुरु नृप पत्नी के साथ)	भेड़िया, कुत्ता, सियार, गीध, सांप, बगुला, कोयल की योनि; सुअर पांच वर्ष, भेडिया दस वर्ष, बिलाव पांचवर्ष मुर्गा दस वर्ष, चींटी तीन मास, कीडा एक मास, कीट चौदह मास, तक योनियां।
१३. यज्ञ व दान में अव-रोधकता	पन्द्रह वर्ष तक कीड़ा व कीट।

१४. अग्रज भ्रात का अपमान कर्ता	एक वर्ष तक क्रोंच, फिर चीरक पक्षी की योनि।
१५. ब्राहमणी के साथ रमण कर्ता शूद्र	कीड़ा, सुअर कुत्ता, चूहा फिर यमदूतों के द्वारा दण्ड - मुद्गर से दंडित, फिर कांटेदार मछली, फिर १५ वर्ष तक कीड़ा, फिर एक सो बार शिशु रूप में गर्भपात, फिर कछुआ।

१६.दही चुराने पर बगला, मछली चुराने पर काराडव, मधु चोर डांस या मच्छर, फलचोर चींटी, खीर चोर तीतर, आटे के पुए चुराने पर उल्लु, लोहा चुराने वाला कोआ, कांसे की धातु चुराने पर हारीत, रजत (चांदी) चोर कबूतर, स्वर्ण चोर कीड़ा, ऊनी वस्त्र चोर गिरगिट, रेशमी वस्त्र चोर बत्तख, महीन वस्त्र चोर तोता, दुकूल (उत्तरीय वस्त्र) चोर हंस सुतीवस्त्र चोर क्रोंच पक्षी, विभिन्न रंग के वस्त्र चुराने वाला मोर, लाल वस्त्र चोर चकोर, चन्दन चोर छछुन्दर, दुग्ध चोर बगुली, तेल चोर तललपाई पक्षी, तिल चोर चूहां घी चोर सींगवाले जल-पक्षी, मांस चोर कौवा, नमक चोर चीरीकाक पक्षी, धरोहर हड़पने वाला मत्स्य की योनि प्राप्त कर दुःख भोगता है। असहाय व निहत्थे पुरुष का वध कर्ता दो वर्ष तक गदहे की योनि तत्पश्चात् मृग, मछली, भेड़िया, व्याघ्र व चीते की योनियां क्रमशः अविरल पाता है।

मनुस्मृति के अनुसार अपराध-योनि[1]

१. ब्रह्महत्या	कुत्ता, सुअर, गदहा, ऊंट, गाय, बकरा, भेडा, हरिन, पक्षी, चाण्डाल, पुपफ (१२.५५)
२. सुरापानकर्ता	कृमि, कीट पतंग, बिट्ज, भक्षणकर्ता पक्षी। (१२.५६)
३. स्वर्णचोर ब्राह्मण	मकड़ी, सांप, गिरगिट, जैलजीव, पिशाच, हिंसक की योनियों में सहस्रबार (१२.५७)
४. माता से रमणकर्ता	कीट, गिद्ध, सिंह, बाघ की योनि में एकसौ बार। (१२.५८)
५. हिंसक	बिलाव (१२.५९)

१ मनु. १२.५५ से ७२ तक; याज्ञ. प्रयश्चित्ताध्याय २०७ से २१६

मांसभक्षक	कीट (१२.५९)
चांडालस्त्री से रमणकर्ता	प्रेत (१२.५९)
६. पतितों से मैत्री परस्त्रीगमन, स्वर्ण-चोर	ब्रह्मराक्षस की योनि (१२.६०)
७. मोती, मूंगा चुराने पर	स्वर्णकार (१२.६१)
८. धान्य, कांस्य, जल, शहद, दूध, रस, धृत चोर	क्रमशः चूहा, हंस, प्लव नामक प्राणी, वन की मक्खी, कौवा, कुत्ता, नेवला की योनि प्राप्त करता है। (१२.६२)
९. मांस, चरबी, तेल, नमक, दही चोर	क्रमशः गृद्ध पानी पर तैरने वाला पक्षी, तेलपक पक्षी, झिंगुर, बलाका पक्षी की योनि।
१०.रेशम, छाल-वस्त्र, सूत-वस्त्र, गाय व गुड़ चोर	क्रमशः तीतरी-पक्षी, मेढ़क, क्रोंचपक्षी, गोह, गोबरा पक्षी की योनि। (१२.६४)
११. खाद्यान्न चुराने पर	छछुन्दर, मोठ, साही, की योनि (१२.६५)
१२.गुहोपयोगी वस्तु चुराने पर	बगुला, बिल्ली, चकोर की योनि (१२.६६)

१३.मृग, हाथी चोर, बगुला, अश्व चोर बाघ फलपुष्प चोर बन्दर, स्त्री चोर रीछ, पेयजल चोर पपीहा, वाहन चोर ऊंट, पशु चोर बकरा की योनि (१२.६७), धन चोर व अपहरणकर्ता रेंगने वाला कीड़ा, (१२.६८), उक्त पापों को करने वाली स्त्री उक्त योनियों में प्राप्त प्राणियों की स्त्री होती है (१२.६९), आचार-विचारों को त्यागने पर निकृष्ट शरीर (१२.७०), स्वधर्मच्युत ब्राह्मण वमन कर्ता उल्कामुख प्रेत, स्वधर्मच्युत क्षत्रिय मलमूत्र खाने वाला कठपूतनप्रेत की योनि, (१२.७१), स्वधर्मच्युत वैश्य पीप एवं रक्त पीने वाला मेताक्षज्योति नाम प्रेत, स्वधर्मच्युत शूद्र कीट भक्षीचैलाश्क नाम प्रेत की योनि (मनु. १२.७२) प्राप्त करता है।

(ब) विभिन्न प्रकार के नरक

वर्णाश्रम एवं धर्मविरुद्ध कार्य करने वाले का विभिन्न नरकों को, पाप व अपराधनुसार भुगतना पड़ता था। नरक भोगने के पश्चात् क्रमशः स्थावर, कृमि, जलचर, पक्षी, पशु की योनि को प्राप्त करता था।

नरक प्रकार[1]

१. रौरव, २. सूकर, ३. ताल, ४. विशसन, ५. रोध, ६. महाज्वाल, ७. तप्तकुम्भ ८. लवण, ९. विलोहित, १०. रुधिराम्भ, ११. वैतरणी, १२. कृमीश, १३. कृमिभोजन, १४. असिपत्रवन, १५. कृष्ण, १६. लाभक, १७. दारुण, १८. पूयवह, १९. वह्निज्वाल, २०. अधःशिरा, २१. सन्दंश, २२. कालसूत्र, २३. तमस्, २४. आवीचि, २५. श्वभोजन, २६. अप्रतिष्ठ, २७. अप्रचि, २८. विभिन्न प्रकार के महाभयंकर नरक।

मनु. ने निम्नांकित इक्कीस प्रकार के नरकों का उल्लेख किया है

१. तामिस्र (अन्धकार), २. अन्तामिस्र (अन्धा बनाने वाला अन्धकार) ३. महारौरव, ४. रोरव (जलते हुए तलों वाले मार्ग), ५. काल-सूत्र (जहां सूत्र द्वारा शरीर को दो भागों में कर दिया जाता है), ६. महा नरक, ७. संजीवन (जहां जीवित कर पुनः मार डाला जाता है), ८. महावीचि, (उठती हुई लहरियों में मनुष्य का डुबोया जाता है), ९. तपन (अग्नि के समान जलता हुआ), १०. सम्प्रतापन, ११. संघात (छोटे-छोटे स्थानों में अनेकों को रहना), १२. काकोल (औरतों का आहार बनना) १३. कुडमल (बंद कली के समान बांध देना), १४. पूतिमृत्तिक (जहां दुर्गन्धपूर्ण मिटटी हो), १५. लोहशंकु (लोहे की कीलों से बींधना), १६. ऋजीष (गरम बालू से पूर्ण), १७. पन्था (लगातार इधर-उधर घूमना), १८. शाल्मलि (महीन शूलों से बींधा जाना), १९. नदी (वेतररणी नदी) २०. असिपत्रन (तलवार की धार वाले पत्र से काटना), २१. लोहदारक (अंगों को लोहे से काटना)। (मनु. ४.८८ से ९० तक)।

कूटसाक्षी एवं मिथ्याभाषण अपराध पर रौरव नामकनरक, भ्रूण हत्या, ग्राम नाश, गोहत्या पर रोध नरक (श्वास रुकना), मद्यपान, ब्रह्माती एवं इनके प्रेरक व सहयोगियों को सूकर नरक, स्तेय मे सूकर नरक व विलोहित नरक, क्षत्रिय-वैश्य-राजदूत के वधिक व गुरुपत्नी-भगिनी के साथ मैथुन कर्ता तथा स्त्रीविक्रेता को तप्तकुण्ड नरक, पुत्रवधु व पुत्री के साथ मैथुन कर्ता को महाज्वाल नरक, गुरुजनों का अपमान करने, दुख दुर्वचन कहने पर कृमिभक्ष नरक, चुगली करने, स्त्री से वैश्यावृत्ति कराने, घरों मे आग लगाने, मित्रवध करने एवं मदिरा विक्रय करने वाले को रुधिरअन्ध नरक, ग्राम को नष्ट करने वाले को वैतरणी नरक, खेतों की बाढ़ तोड़ने, छलवृत्ति करने, व्यर्थ में वनों को काटने वाले को असिपत्रवन नरक की प्राप्ति में स्मृतिकार विश्वास करते थे।[2]

इसके अतिरिक्त अन्य आस्था भी दृष्टव्य है :—

१. दुर्बलों को कष्ट देने पर — वेतरणी नरक (ऐसी नदी हो उबल रही हो, कांटे हों, अग्नि के समान तप्त)।

---

१ याज्ञ. ३.२२२-२२५; आप.ध.सू. १.४.१२.१२; वेदान्तसूत्र ३.१.१५; मनुस्मृति ४८८-९०; वि.ध.सू. ४.३.२.२२; अग्निपु.अ. ३७१.२०; नारद प्रकीर्णक अध्याय ४४

२ विष्णुपुराण द्वितीयांश, अध्याय ६, याज्ञ. ३.२१७

२. कंजूस, कामुक श्रेष्ठ पुरुषों का उपहास करने पर	—	कुत्ते, कौवे, गीध आदि खाते हैं
३. सदाचारी व स्त्रियों को कष्ट देने वाले	—	जलते तनों से पीटे जाते हैं, तथा लोहें की कुम्भी में उलटे गिरते हैं।
४. असत्य साक्षी से धन नष्ट कर्ता	—	अंगारयुक्त गड्ढों में गिरते हैं।
५. हिंसक	—	गरदन मरोड़ी जाती है।
६. मांसभक्षक व मांसविक्रेता	—	गरदन से बांध दिया जाता है। शरीर का मांस काट दिया जाता है।
७. मिलावटकर्ता	—	गरम-गरम पानी पीना पड़ता है।
८. चोरी व ठगी करने पर	—	बाणों व भालों से बींधा जाता है
९. राजविद्रोही, हिंसक एवं शिकारी	—	पेशाब पीना व पाखाना खाना पड़ता है।
१०.मातृ-पितृ विरोधी, सेवा न करने वाले	—	गन्दा रक्त व पीप पीना पड़ता है।

इस प्रकार की आस्था स्मृतियुग के जनमानस में व्याप्त रही थी।[१] इसके अतिरिक्त अन्य भी दृष्टव्य है :—

रुग्णता एवं विकलांगता

अपराध		रोग
१. स्वर्णचोर, मद्यपी, ब्रह्महत्यारा, गुरुपत्नी से रमणकर्ता	—	क्रमशः कुनरखी,, कालेदांत, कुष्ठरोग व गर्हित त्वचा पाता है। (मनु. ११.४९)
२. पिशुन (चुगलखोर)	—	नासिका दुर्गन्ध अंगहीन,
धान्यचोर	—	अंगहीन

१ निमिजातक ५४१ के अनुसार

मिलावटकर्ता	—	अधिक अंग से युक्त होता है। (मनु. ११.५०)
३. वस्त्रचोर	—	रोगी, जानते हुए चुप रहने वाला गुंगा, अश्वचोर पंगु (मनु. ११.५१)
४. तस्कर	—	अन्धा, बधिर होता है तथा हिंसक रुग्ण होता है। (मनु. ११.५१)

५. कुकर्मी सदैव घृणा योग्य, जड़, अन्धा, बधिर एवं विकृत होता है। (मनु. ११.५२)

आदि विभिन्न प्रकार की रुग्णता व विकलांगता को दैविक दंड माना जाता था।

दैविक दण्ड की कल्पना के द्वारा मानव मनोवैज्ञानिक रूप में, प्रभावित होकर, पाप व अपराधो से विरत हो सका था। सामाजिक अनुशासन, देशभक्ति, मर्यादापालन, उद्दण्डता का परित्याग, सहिष्णुता (कष्ट सहने की शक्ति), जैसे गुणों का समावेश सम्भव हो पाया था। दैविक दन्ड मानव अन्तः स्थल को कम्पायमान कर व्यथित करते हैं। फलतः मानव अपने भविष्य को पवित्र बनाने की कामना लेकर, सात्विक, शुद्ध जीवन व्यतीत करने हेतु उदृघत हुआ था। दैविक दण्ड भय ने मानव के हृदय को मथ कर निर्मल व विशुद्ध कर दिया था।

३. आत्मदण्ड या प्रायश्चित

प्रशासनिक व दैविक दण्ड से उन्मुक्त होने हेतु, आत्मदण्ड का अवलम्ब लिया जाता था। विभिन्न प्रकार से स्वातमा व शरीर को दंडित करना आत्मदण्ड कहलाता था। आत्मदण्ड, प्रायश्चित्त की संज्ञा से स्मृतियों में जाना जाता है। प्रायश्चित्त की परिसीमा में उपवास, व्रत दान, अरण्यवास, आत्मचिन्तन, कष्टपूर्ण जीवन-यापन, तथा संसार परित्याग आदि उपाधान सम्मिलित रहे थे। पापों से निवृत्त होने हेतु, यज्ञ, जप, तप, होम, उपासना, दानादि का अवलम्ब लिया जाता था। तप, दान एवं यज्ञादि श्रेष्ठ कृत्यों से मानव अपने पापों को नष्ट कर, स्वयं में पवित्र हो जाता है। इसी कामना के वशीभूत स्मृतिकालीन जन-प्रायश्चित के माध्यम से आत्मदण्ड[१] का योजन करते थे।

---

१ आप.ध.सू. १.३.४.५.७ व ९ अध्याय; मनु. ११.५३; २२७; अत्रिस्मृति ५७ से १३२; बौ.स्मृ.शिष्टधर्मवर्णन; बौ.ध.सू. २.१.१.१ से १८ तक; ३.३.६ संपूर्ण खण्ड; पारा.स्मृ. १३४ से १४७; (अनेकविधि प्रकरण प्रायश्चित); २७२ से ३२४ तक उभक्ष्यभक्ष्य प्रायश्चित; स्मपर्वस्मृ. १०८ से २२७; गौ.ध.सू. ३.१.११; महा.शा.पर्व ३५.४२ १६.१५. १६; वि.पुराण द्वितीयांश अध्याय-६; वेदपाठ, विष्णुपाठ ३५ अग्निपुराण अ. १६८.१

अपराध परिमार्जनार्थ प्रायश्चित व्यवस्था, सार्वजनिक दण्ड व्यवस्था से परे एकाकी दण्ड व्यवस्था थी। मानव अधिकांशतः छिपकर अपराध करता है। जिससे दूसरों को अपराध का भान न हो सके। समाज की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा न गिर सके, वह पतित न माना जाये। परन्तु किये गये अपराध उसकी आत्मा को कचोटते रहते थे। दैविकंदण्ड भय उसे भयभीत करता था। अतएव पाप के शमनार्थ वह प्रायश्चित के उपाधनों का सहारा लेता था। अनजाने में किये गये पापों को शमन प्रायश्चित से ही सकता था। जानबूझ कर किये गये पापों[1] का नही।

वृद्ध संयोग व इन्दियजय के द्वारा आन्तरदण्ड (आत्मदण्ड) की व्यवस्था थी। व्रत-उपवास-दान, अरण्य निवास, पश्चात्तापकी कड़ी थे।[2] कर्म बुरा हो या अच्छा, उसके कर्ता को उसका फल भुगतना ही पड़ता है। कर्म कभी भी क्षीण नहीं होता है।[3] जिस प्रकार से सहस्रो गायों के मध्य में एक बछड़ा अपनी माता (गाय) को खोज लेता है, उसी प्रकार पूर्व जन्म के कर्म अपने कर्ता के पास स्वयं पहुंच जाते हैं।[4]

एक वर्ष, छः मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, चौबीस दिन, बारह दिन छः दिन, तीन दिन, तथा एक दिन व एक रात तक का समय प्रायश्चित का समय होता था। (गौ.ध.सू. ३.१.१७)। कृच्छ-अतिकृच्छ, एवं चान्द्रायणव्रत प्रायश्चित के साधन थे (उक्वत्)। बड़े पापों के शमनार्थ बड़ा प्रायश्चित, तथा छोटे पापों के शमनार्थ छोटा प्रायश्चित; अर्थात् पाप व अपराध परिणामस्वरूप प्रायश्चित किया जाता था। बड़े पापों में सभी प्रकार के प्रायश्चित करने अनिवार्य थे। छोटे

से २३ तक; मनु. ११.७२ से ८२; ८८ से ९३; १०३ से ११६ तक; १२८ से १५३ तक; १५४ से १५७ तक, १५८ से १९६ तक; २११ से २१९ तक; शातातपस्मृति ८९ से १६३ तक; आंगिरसस्मृति १ से ४५ तक याज्ञ. ३.२१९, २२०, २२१; यमस्मृति १ से ७५; कात्या.स्मृ. २५ वां खंड १ से १८; २७ वां खंड १ से १९; विष्णु स्मृति प्रायश्चितानि अध्याय; कूर्मपुराण खंड-२, अध्याय-३०, ३२, ३४; अथर्व. ८.४.१५; अग्निपुराण १६८.१ से २३ तक याज्ञ. ३.२२६, मनु. ११.४५ आप. १.२४

१ याज्ञ. ३.२२६; मनु. ११.४५; आपस्तम्ब १.२४; वशिष्ठ २०.१ अनभिसंधिकृते अपराधप्रायश्चित्तम्।

२ याज्ञ. प्रायश्चित अध्याय।

३ न हि कर्मक्षीयते। गौ. १९.५; मार्कण्डेयपुराण १४.४७; बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४ एवं ६.२; छा.उप.३.१४; एवं ५.३, १०, कठो. ५.६, ७

४ आपस्तम्ब ध.सू. २.१.२-७; विष्णु ध.सू. २०.४०

छोटे पापों में से एक-एक प्रायश्चित ही करना पड़ता था। भारी और हलके पापानुसार ही उसके प्रायश्चित का विधान था।[१]

प्रायश्चित का प्रयोग काल-स्थान-वय की परिस्थितियों के अनुरुप होता था। सोलह वर्ष से कम वय के बालक एवं अस्सी वर्ष या इससे अधिक वय के वृद्धों एवं स्त्रियों को निर्धारित प्रायश्चित का आधा प्रायश्चित करना होता था। याज्ञवल्क्य (३.२४३ परमिताक्षरा) स्त्रियों के लिए प्रायश्चित की चौथाई भाग ही पर्याप्त मानता है[२] परन्तु योजनाबद्ध तरीके से किये गये अपराध पर निर्धारित प्रायश्चित का दुगुना प्रायश्चित किया जाता था।[३] परन्तु याज्ञवल्क्य के (३.२२६) के अनुसार जाने वा अनजाने में किये पापों में एक समान प्रायश्चित की ही व्यवस्था रही थी। आश्रमों के अनुरुप प्रायश्चित की गुरुता व हलकेपन का निर्धारण होता था। गृहस्थी की अपेक्षा ब्रह्मचारी वानप्रस्थी-सन्यासी को क्रमशः दुगुना, तिगुना, चौगुना प्रायश्चित करना पड़ता[४] था। गुप्त पाप होने पर गुप्त प्रायश्चित, प्रकट पाप होने पर प्रकट प्रायश्चित करने का विधान था।[५] ।-शास्त्रोक्त विधि से प्रायश्चित करके सम्पूर्ण पापों से निवृत हो सकता था।[६] प्रायश्चित का निर्धारण वेदज्ञ व धर्मशास्त्रज्ञ तीन पण्डित करते थे।[७] गौतम (१९.१८-२०) ने प्रायश्चित के अभाव मे मन्त्रपाठ तप-उपासना-होम-दान को विकल्प के रूप में मान्यता दी थी। पराशर (११.५५-५६) ने गायत्री का दस हजार बार जप, सब पापों की निवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ प्रायश्चित माना था; जबकि मनु (११.११७) ने चान्द्रायण व्रत की व्यवस्था की थी।

ब्राह्मण पूर्ण प्रायश्चित, क्षत्रिय तीन चौथाई प्रायश्चित, वैश्य आधा प्रायश्चित (दो चौथाई), शूद्र एक चौथाई प्रायश्चित करता[८] था। वर्णों की श्रेष्ठता-योग्यता को देखते हुए ही इस प्रकार का निर्धारण किया गया था। इसी प्रकार यदि ब्राह्मण के लिए चार दिन के उपवास का विधान था, तो क्षत्रिय तीन दिन,

---

१ एकः सुगुरुषु गुरुणि लघुषुघूनि। १९ गौ.ध.सू. ३.१.१९; मनु. ११.५३ जानता तु कृतं पापं गुरुसर्वं भवत्युत। अज्ञानात्स्वल्पकोदोषः प्रायश्चितं विधीयते॥ महा.शा.पर्व ३५.४५; (जानबूझकर किया हुआ सारा पाप भारी होता है और अनजाने में पाप होने पर कम दोष लगता है) इस प्रकार भारी और हलके पाप के अनुसार ही उसके प्रायश्चिति का विधान है बौ.ध.सू. १.१०.१९१ से ८ तक; मनु. ३.२२७; अग्नि.अ. १७० से १७४

२ बि.ध.सू. ५४.३३; देवलस्मृ. ३०; आप.स्मृ. ३.३; याज्ञ. ३.२४३ परमिताक्षरा; मनु. ११.२०९; विष्णु. ५४.३४; पराशर ४.५५-५७

३ अग्निपु. १७३.९; याज्ञ. ३.२९३

४ मनु. ५.१३७, १३६; वसिष्ठ ६.१९; विष्णु ६०.२६, २५; शंख १६.२३, २४

५ अग्निपुराण १७३.२०

६ शक्यतेविधिनापापं यथोक्तेन व्यपोहितुम्॥ महा.शा.पर्व ३५.६४

७ दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः। यद् ब्रयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मोधर्मसंशये॥ महा.शा.पव्र ३५.२० मनु. ११.४५

८ अग्निपुराण अ. १६८.१ से २३ तक

वैश्य दो दिन, शूद्र एक दिन का उपवास करता था।[1] परन्तु बारम्बार अपराध का कोई प्रायश्चित नहीं था।[2] प्रायश्चित करते-करते प्रायश्चित कर्ता की यदि मृत्यु हो जाये, तो ऐसा प्रायश्चित कर्ता इहलोक व परलोक से मुक्त हो जाता था।

गौतमधर्मसूत्र, वसिष्ठ धर्मसूत्र, मनु (११ वें अध्याय), याज्ञवल्क्य (तीसरे अध्याय), अंगिरा, अत्रि, देवल, शातातपस्मृति आदि ने प्रायश्चित की सार्थकता को प्रमाणित किया था।[3]

आत्मदण्ड या प्रायश्चित के प्रकार

१. व्रत व्यवस्था[4]

१. कृच्छव्रत

तीन दिन केवल प्रातः भोजन करने, तीन दिन केवल सांय भोजन करने, तीन दिन बिना मांगे भोजन पर निर्वाह करने, तथा तीन दिन भोजन न करने पर कृच्छ व्रत होता है। — बौ.ध.सू. २.१.२.२५; बौ.ध.सू. ४.५.५.६

२. अर्द्ध-कृच्छव्रत

एक दिन एक बार, एक दिन संध्या काल, दो दिन बिनामांगे, दो दिन पूर्ण उपवास — अर्द्धकृच्छव्रत होता था। (आप.स्मृ. ९.४३-४४)

३. बालकों का कृच्छव्रत

उक्त विधि से एक-एक दिन अपना कर, इसी क्रम में तीन बार करने पर बारह दिन का बालकों का कृच्छव्रत होता था। — बोधायनः १४.५.५.७; याज्ञवल्क्य ३.३१८; वसिष्ठ २३.४३; गौतम २६.५

---

१ महा.शा.पर्व ३५.३२

२ महा.शा.पर्व ३३.३५, ३६

३ गौ. २२.२ से १०; आप.ध.सू. १.९.२४.१०-२५; १.९.२५-१२, १३ वसिष्ठ २०.२५ से २८; विष्णु. ३५.६; एवं ५०.१ से ६ तक; मनु. ११.७२ से ८२ तक; याज्ञ. ३.२४३-२५०; अग्निपु. १६९.१ से ४; तथा १७३.७,८ सम्वर्त ११० से ११५ तक

४ ऋग्वेद १०.१९०.१५३; विष्णुस्मित - कृछाणि तथा चान्द्रायणम् अ. वसिष्ठ २६८; गौतमस्मृति २४.११; बौ.ध.सू. ४.२.१९.२० शंखस्मृति १८.१-२; आपस्तम्बधर्मसूत्र १.२६.१२; याज्ञ. ३.३०१; पराशर ११.५४-५५; मनु. ११.२११-२२०; २५९-२६०; याज्ञ. ३.३१४ से ३२७ तक

४. अतिकृच्छव्रत

कृच्छव्रत के क्रम में केवल मोर के अण्डे के बराबर भोजन का ग्रास ग्रहण करना अतिकृच्छव्रत होता था । (बौधायन ४.५.५.८; मनु. ११.२१३; याज्ञवल्क्य ३.३१९; गौ. २६.१८, १९; विष्णु ५४-३०; परा. ११.५४५५५)

५. कृच्छातिकृच्छ व्रत

तीन दिन तक प्रथम तीन कालों में केवल जल पीकर रहना, उसके बाद अन्तिम तीन दिन केवल वायुभक्षण करना — बौधायन ४.५.५.९; मनु. ११.२०८ इक्कीस दिन दूध पीकर बिताने पर कृच्छतिकृच्छव्रत (याज्ञवल्क्य ३.३२०, गौ. २६.२०; वसिष्ठ २४.३)

६. तप्तकृच्छव्रत

तीन-तीन दिन क्रमशः उष्ण दूध, उष्ण घृत तथा कुश के साथ उबाले गये उष्ण जल का पान, अन्तिम तीन दिन वायु का भक्षण कर व्रत करना, तप्तकृच्छव्रत होता है — बौ. ४.५.५.१०; मनु. ११.२१४; वसि. २१.२१; विष्णु. ४६.११; शंखस्मृ. १८.४१; अग्निपु. १७१.६, ७; अत्रि. १२२-१२३; पराशर ४.७

७. सान्तपन कृच्छव्रत

एक-एक दिन क्रमशः गौमूत्र, गाय का गौबर, दूध, दही, धृत, कुशोदक ग्रहण करे, तथा एक दिन रात्रि उपवास करने पर सान्तपन व्रत होता है — बौधायन ४.५.५.११; इसे तीन बार क्रम से दोहराना - महासान्तपन कृच्छव्रत होता है । — बौधायन ४.५.५.१६; अग्निपुराण १७१.१०; विष्णु ४६.२१; याज्ञ. ३.३१५; याज्ञ. ३.३१५, मनु. ११.२१२; शंख १८.८; अत्रि ११८५११९; देवल-८२

८. पंचगव्य व्रत

गौमूत्र, गौ-गोबर, दूध, दही, धृत तथा कुशोदक इनका पांच दिन व पांच रात्रि आहार कर्ता पंचगव्य से शुद्ध होता है । बौधायन ४.५.५.१४; ऋग्वेद ७.९९.३; मनु. ११.१६५; अग्निपुराण १६९.३०; याज्ञवल्क्य ३.२६३; देवल ६१, पराशर ११.३

९. पराक कृच्छव्रत

इन्दियों परसंयम रखकर सावधान होकर बारह दिन तक भोजन न करना । — ४.५.५.१५; मनु. ११.२१५; याज्ञ. ३.३२०; शंख १८.५; अत्रि २८; अग्निपुराण १७०.१०; विष्णु ४१२.१८ पराक कृच्छ व्रत है ।

१०. चान्द्रायण व्रत

शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक मास आहार बढ़ाना, और कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एकग्रास कम करना, दोनों पक्षों में दो दिन उपवास करना चान्द्रायण व्रत होता है । — याज्ञ. ३.३२३; मनु. ११.२२१; गौ. २७.१८ बौधायन ४.५.५.१७

११. पर्णकृच्छ व्रत

पलाश, उदुम्वर (गूलर), बिल्वपत्र कमल में से एक को एक-एक दिन पानी में उबाल कर, उबले पानी को पीवे, फिर पांचववे दिन कुशा का जल पीना — याज्ञ. ३.३१६, देवल ३८, अत्रि ११६ पर्णकृच्छ व्रत होता था ।

१२. पादकृच्छ व्रत

प्रथम दिन एक बार, दूसरे दिन केवल रात्रि एक बार में, तीसरे दिन बिना मांगे मिला भोजन एक बार, चौथे दिन निराहार रहना, याज्ञ. ३.३१८; देवल ८५ पाद कृच्छव्रत कहलाता है ।

१३. प्राजापत्यकृच्छव्रत

उपरोक्त पादकृच्छव्रत का तिगुना व्रत प्राजापत्यकृच्छव्रत होता है याज्ञ. ३.:९; विष्णु. ४७.१०; अत्रि ११९-१२०; शंख १८.३; बौ.ध.सू. ४.५.६; वसिष्ठ २३.४३; मनु. ११.२१३

१४. सौम्यकृच्छव्रत

तिल की खली, भात का मान्ड, मट्ठा, जल व सत्तु का क्रमशः एक दिन खाकर कुल पांच दिन ऐसा करने पर सौम्यकृच्छव्रत होता है । याज्ञ. ३.३२१

१५. तुलापुरुष व्रत

उक्त सौम्यव्रत (सौम्यकृच्छव्रत) में वर्णित अवधि के तिगुना करने पर अर्थात् ३ दिन खली, ३ दिन मान्ड, ३ दिन मट्ठा, ३ दिन जल, ३ दिन सत्तु सेवन कुल १५ दिनि का तुलापुरुषव्रत होता है, याज्ञ. ३.३१२; शंख १८.९, १०; विष्णु ४६.२२; अत्रि १२९-१३०

१६. पुष्पकृच्छव्रत

एक मास तक पुष्पों को उबाल कर पिया जाता है । (अग्निपु. १७१.१२; याज्ञ. ३.३१६; परमिताक्षरा) ।

२. आत्म अपराध स्वीकृति

व्यक्ति अपने द्वारा किये गये अपराध को स्वीकार कर, अपने दुष्कृत्यों को जनसमूह के सामने घोषणा करता था। जीवन यापनार्थ वह अनेक गृहों में भिक्षा मांगता था। तथा अपने अपराध को भिक्षा देने वालों के सम्मुख प्रकट करता जाता था। इस प्रकार पाप या अपराध का भार हल्का या नष्ट होता था — ऐसा स्मृतिकारों का विश्वास रहा था।[१]

३. अनुताप : पश्चाताप करते हुए भूल मानना

व्यक्ति अकृत्य करने के पश्चात, निशदिन यह चिन्तन करे कि "मैने स्वतः घृणित कार्य किया है। मेरा इससे व्यक्तित्व पतन हुआ है। मैं भविष्य में ऐसा जघन्य अकृत्य नहीं करूंगा।" ऐसा चिन्तनयुक्त अनुताप करने से मानव पापमुक्त हो सकता था।[२] हिंसा के अपराध से मुक्त होने हेतु बन में कुटी बनाकर वाणी को रोकर कुण्डे के ऊपर मानव खोपड़ी रख कर, शरीर का नाभी से घुटनों तक का भाग, सन के वस्त्र से ढ़क कर, बारह वर्ष तक शिष्टाचार के साथ पश्चाताप किया जाता था — (आप.ध.सू. १.२४.११, २०;), परन्तु गुरु, पिता व आचार्य एवं वेदज्ञ का वध करने पर जीवनपर्यन्त पश्चाताप करना पड़ता था — आप.ध.सू. १.२४.२४

४. प्राणायाम : श्वासअवरोध

प्रतिदिन ओंकार शब्द के साथ प्राणायाम करने से मानव, उपपातकों, अपराधों से छूट कर, पवित्र वनिर्मल हो जाता है। प्राणायाम के द्वारा रात-दिन किये गये पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं। सोलहप्राणायामों से लेकर वर्षभर के लिये अनेक प्राणायामों की व्यवस्था धर्मशास्त्रकारों ने की थी।[३]

५. तप

तप स्वर्गप्राप्ति का एकमात्र सर्वोत्तम साधन है। तप को यज्ञ से भी उच्च माना जाता रहा था।[४] एक दिन व एक रात्रि, तीनदिन छः दिन, बारह दिन, चौबीस

---

१ मनु. ११.१२२; गौतम ध.सू. २३.१८; आप.ध.सू. १.९.२४.१५; १.१०.२८.१९

२ मनु. ११.२२९, २३०; ब्रह्मपु. २१८.५; वि.पुराण २.६.४०

३ मनु. ११.२४८; वसिष्ठ २६.४; अत्रि २.५; शंखस्मृति १२.१८, १९; बौ.ध.सू. ४.१.३१; वसिष्ठ २६.१-३; गौ.ध.सू. ४.१.५-११; याज्ञ. ३.३०५

४ ऋग्वेद १०.१५४.२; छा.उप. ५.१०.१, २; मुण्ड.उ. १.२.१०, ११; आप.ध.सू. १.२५.७

दिन, एक मास, दो मास, तीन मास, छः मास, एक वर्ष का समय तप का समय निर्धारित था ।[१] पापानुसार इसका प्रयोग किया जाता था ।

ब्रह्मचर्य, सत्यवचन, प्रतिदिन स्नानः, मध्याह्न एवं सायं गीले वस्त्र धारण करना (जब तक वह शरीर पर ही न सूखे जाय), उपवास अहिंसा, गुरु सेवा आदि साधन तप के अंग रहे थे[२]

६. यज्ञ या होम

मानव जीवन को परिशुद्ध करने हेतु, यज्ञों का अपना विशिष्ट महत्त्व रहा है । मांस का सेवन न करना, सम्भोग न करना, असत्य न बोलना, शैय्या पर न सोना, आदि नियम यज्ञकर्ता के लिये विशिष्ट प्रतिबन्ध थे ।[३]

यज्ञ सभी विपत्तियों से छुटकारा दिला सकता है, किये गये पापों से निवृत्ति हेतु यज्ञ करने की परम्परा का परिचलन स्मृति युग में था ।[४]

७. जप : प्रार्थना, स्तुति, वैदिकमत्रों का पाठ

किये गये पापों का मार्जन, वैदिक मन्त्रों की प्रार्थना से नष्ट होता है ।[५] वैदिक मन्त्रों को जप यज्ञों से दस गुने से लेकर हजार गुने तक श्रेष्ठ माना जाता रहा था ।[६] वैदिक ऋचाओं का पाठ पापों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार अग्नि हरी घास को जलाकर नष्ट कर देती है ।[७] अतएव स्मृतिकारों ने पापमोचनार्थ वैदिक ऋचाओं के पठन की एकमत होकर पुष्टि की है ।[८] ब्रह्मपुराण (अध्याय), में विष्णु स्त्रोत्र, विष्णुपुराण (१.६.३९) में द्वादशाक्षर मन्त्र (ओं नमो भगवते वासुदेवाय), नृसिंहपुराण (अध्याय १८) में अष्टाक्षर (ओं नमो नारायणाय) के अनेकशः जाप से

---

१ गौतम १९.१७

२ बौ.ध.सू. ३.१०.१३; गौतम १९.१५

३ याज्ञ. ३.३०९; बौ.ध.सू. ३.७.१

४ मनु. ८.१०५; ११.३४; वसिष्ठ २६.१६; याज्ञ. २८३; श.ब्रा. २.५.२.२०

५ मनु. ११.४६

६ मनु. २८५. ८७; वसिष्ठ २६.९-११; विष्णु. ५५.१०-२१ तक

७ मनु. ११.२६१, २६२; वसिष्ठ २७.१-३; अंगिरा १०१

८ मनु. ११.२४९, २५७; विष्णु. २७४.४-१३; वसिष्ठ २६.५-७; २८.१०-१५; विष्णुस्मृति ५६.३-७; संवर्त २२७, २२८; बौ.ध.सू. ४.२.४-५; ४.३.८; ४.४.२-५; याज्ञ. ३०२ व ३०५; अथर्व. ५.१४.१ से १३ तक; ४२४.१ से ७ तक; १०.१.१ से ३२ तक

मानव पापमुक्त हो जाता है । लिंगपुराण (पूर्वार्द्ध अध्याय-८५), में पंचमाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) को पापों का विनाशक स्वीकार किया है ।

गौतम के अनुसार (१९.१३) जप के समय, जपकर्ता को केवल दूध शाकाहार, फलाहार, एक मुट्ठी सत्तु या लप्सी, घृत या सोम को ग्रहण करने की भी व्यवस्था दी है । सभी नदियां, सर्वपर्वत, पवित्र सरोवर, तीर्थस्थल, ऋषिआश्रम, देवमन्दिर व गौशालायें पाप के नाशक थे । (गौतम १९.१४)

जप-प्रकार :— वाचिक — स्पष्ट उच्चारण

उपांशु — अस्पष्टउच्चारण

मानस — मनसे उच्चारित

इनमें प्रत्येक बाद का अपने पहले से दस गुना श्रेष्ठ है । प्रत्येक प्रकार के जप के लिए मन की पवित्रता, निष्कामता, या मोह-रहिता, तथा परमात्मा में आत्म-सम्पर्ण की भावना का होना आवश्यक होता है । यज्ञ की परितुलना में वाचिक जप १० गुना, उपांशु जप १०० गुना तथा मानस जप १००० गुना उत्तम है ।[१]

८. दान

स्वर्ण, गौ, परिधान, घोड़ा, भूमि, तिल, घृत, एवं अन्य इस प्रकार के दान से मानव का पाप भी दान से नष्ट हो जाते हैं ।[२] आपस्तम्ब धर्मसू९ के अनुसार हिंसा तक की निवृत्ति दान से की जाती थी, उदाहरणत :—

क्षत्रिय वध के पाप से मुक्त होने हेतु एक हजार गायों का दान (१.२४.१) वैश्य वध के पाप से मुक्त होने एक सौ गायों का दान (१.२४.२) शूद्र वध के पाप से मुक्त होने हेतु दस गायों का दान (१.२४.३) इसी पर नारी वध का प्रायश्चित वर्ण को देख कर ही होता था । क्षत्रिय नारी के वध पर एक हजार गाय, वैश्य नारी के वध पर सौ गाय और शूद्र नारी के वध पर दस गायों का दान (आप.सू.ध. १.२४.५) । इन गायों के साथ एक सांड भी दिया जाता था । (आप.ध.सू. १.२४.४) ।

---

१ मनु. २८५; वसिष्ठ २६.९; विष्णु. ५५.१०-२१; ऋग्वेद ३.६२.१०

२ हिरण्यं गौर्वासोऽश्वीभूमिरितलाघृतमन्नमितिदेयानि । एतान्येवाना देशेविकल्पेनक्रियेरन् । गौ. १९.१६; विष्णु. ९२.४; संवर्त २०४

९. उपवास

बिना अन्न ग्रहण किये दिन व्यतीत करना उपवास कहलाता था। उपवास में एक समय हल्का भोजन, फलाहार, शाकाहार, दूध की व्यवस्था दी है। नमक, मांस, भारी भोजन, बार-बार जलपान को निषिद्ध ठहराया गया है। अन्यथा ऐसा करने पर उपवास का फल नष्ट हो जाता है। उपवास में पान खाना, सम्भोग करना, दिन में सोना, पुष्प आभूषण, चन्दनलेप एवं अंजन निषिद्ध माने जाते थे।[१]

उपवास को तप के समान श्रेष्ठ व उच्च माना जाता था। सूर्य ग्रहण व चन्द्रग्रहण के समय रातदिन उपवास करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। मनु. (११.१६६), अग्निपुराण (१६९.३२), महाभारत अनुशासनपर्व (१०६.१), उपवासों की अनिवार्यता पर बल दिया है। जिस प्रकार गन्दा वस्त्र धोने से वह स्वच्छ तथा पवित्र हो जाता है।[२] भोजन न कर जीवन को समाप्त करने की निराहार परम्परा का प्रचलन भी उस काल में रहा था। उसी प्रकार पापात्मा उपवासों से निर्मल व पवित्र हो जाती है।[३]

१०. तीर्थ-यात्रा

तीर्थयात्रा करने व पवित्र नदियों में नहाने, से मानव पाप से छूट कर पवित्र हो जाता है। अपारसुख की प्राप्ति होती है।[४] ऐसा स्मृति का मत था।

इस प्रकार पूर्वोक्त दस प्रकार के आत्मिक दण्ड प्रायश्चित व्यवस्था के प्रमुख अंग थे। इनको प्रायश्चित का साधन व आधार माना जाता था। इसके अतिरिक्त घोर अपराधों में एक वर्ष तक निरन्तर कृच्छ व्रत करना पड़ता था। या तीन वर्ष तक दिन में खड़े होकर, रात्रि को बैठ कर बिताना पड़ता था। भोजन न्यून-से-न्यून मात्रा में किया जाता था। (आप.ध.सू. १.२५.९, ११)। साधारण पशु-पक्षियों की हत्या पर शूद्र वध का प्रायश्चित ही पर्याप्त था (आप.ध.सू. १.२५.१४)। अपंग करने पर भी शूद्र वध का प्रायश्चित करना पड़ता था। (आप.ध.सू. १.२६.६); बिना कारण सदाचारिणी पत्नी का त्याग करने पर बारह दिन का कृच्छव्रत करते हुए, छः मास तक यह कहकर भिक्षा मांगनी पड़ती थी कि "पत्नी का त्याग करने वाले को भिक्षा दो"। यही प्रायश्चित बिना कारण पति का त्याग करने वाली नारी को करना पड़ता था। (आप.ध.सू. १.२७.१९, २०)। स्त्रीसंग्रहण,

---

१ मनु.४.३४; गौतम १९.११; कोशकसूत्र १.३१; बृहद.उप.४.४.२२ गत्थ पुराण १.१२८.६; भविष्यपुराण १.१८४.२७

२ जैमिनि ३.६.९-११, शा. पर्व ३२३.१७,

३ आप.ध.सू. १.२५.६

४ विष्णु. ३५.६; पराशर १२.५८; मत्स्यपुराण १८४.१८; कर्मपुराण (पूर्वार्द्ध, २९.३)

शूद्रा के साथ उच्चवर्णीय पुरुष द्वारा विवाह करने, मदिरापान शरणागतत की हिंसा, विद्वानों को प्रताड़ित करने अथवा सेवक बनाने, तथा ब्राहमणों की जीविका नष्ट करने वाले को भी प्रायश्चित का अवलम्बलेना अनिवार्य था।[१] वेतन लेकर वेद पढ़ाने, वध करने, आग लगाने, वाले का परिमार्जन प्रायश्चित के द्वारा ही किया जाता था। इसी प्रकार ब्रह्महत्या निन्दा, कुपात्र को दान देने अथवा सुपात्र को दान न देने वाले, तथा मांस विक्रेता के लिए भी आत्मिक शुद्धि का एकमात्र उपाय प्रायश्चित ही[२] था। अभक्ष्य का भक्षणकर्ता की पवित्रता भी प्रायश्चित से ही पुनः स्थिर हो सकती थी।[३] परन्तु आश्रम, कुल व धर्म का त्याग करने पर किसी भी प्रायश्चित से मुक्ति नहीं मिल सकती थी।[४]

प्रायश्चित के सम्बन्ध में स्मृतिकालीन व्यवस्थाकारों में प्रबल मत भेद भी रहा है। अनजाने में किये गये अपराध का शोधन प्रायश्चित से किया जाता था।[५]मनु. ११.४५; याज्ञ. ३.२२६; याज्ञ. ३.२२० परन्तु सचेत अथवा नियोजित व्यवस्था में किये गये पाप व अपराधों का फल प्रायश्चित से शान्त नहीं हो सकता था।[६] ऐसे अपाराधों में जीवनपर्यन्त प्रायश्चित करना अपेक्षित था।[७] जीवनपर्यन्त किए गए प्रायश्चित के कारण मृत्यु के समय पापी पाप से मुक्त हो जाता है, उसे अग्रिम जन्म में पाप का फल नहीं भुगतना पड़ता, ऐसा स्मृतिकार मानते थे। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को विनिष्ट कर आलोक फैला देता है, उसी प्रकार प्रायश्चित का सूर्य पापों के अन्धकार को विच्छिन्न कर, मानव को शुद्ध कर देता है। प्रायश्चित की भावना आध्यात्म को उत्पन्न करती है और आध्यात्म ज्ञान की अग्नि पापों को जलाकर भस्म कर देती है।[८]

प्रायश्चित का निर्धारण करते समय निम्न स्थितियों का निराकरण अवश्यंभवी होता था :—

१. दोष जानकर किया है अथवा अनजाने में।
२. प्रथम बार हुआ है अथवा पुनरावृत्ति हुई है।

---

१ महा. उ.पर्व ३७.१२.१३

२ महा.शापर्व ३४.४ से ८

३ महा.शापर्व ३४.२१

४ महा.शापर्व ३६.१९

५ मुन ११.४५, याज्ञ. ३.२२० एवं ३२६

६ गौतम १९.३, ६, वसिष्ठ २२.२ से ५; याज्ञ. ३.२२६

७ आप.ध.सू. १.९.२४.१०.३२; मनु. ११७३, ९०, ९१, ९९, १००; गौतम २२.२, ३; २३.१, ८, ११; याज्ञ. ३.२४७, २४८; ३.२२५

८ भगवद्गीता ४.३७

३. दोष का समय, स्थान, दोषी व्यक्ति की जाति, आयु योग्यता एवं आर्थिक स्थिति कैसी है ?[१]

जिन पापों के व्रत का विधान नहीं किया गया है, उन सर्व पापों से निवृत्ति पाने हेतु चान्द्रायण व्रत प्रामाणिक रहा था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि धर्म हेतू चान्द्रयण व्रत कर्ता चन्द्रलोक को प्राप्त करता हो।[२]

प्रायश्चितों के लिए सभी नर-नारी अधिकृत थे। शूद्र पापी तक प्रायश्चित कर पवित्र हो जाते थे।[३]

विभिन्न प्रकार के अपराधों पर मुख्यतः निम्नवत् प्रायश्चित विधान निश्चित था

१. ब्रह्महत्या

१. बारह वर्ष तक भिक्षा मांग कर एक समय आहार करना।हाथ में खप्पर एवं खाट का एक पाया लेकर भ्रमण करना; ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करते हुए जमीन पर सोना[४] पड़ता था।
२. अपने शरीर को जलती हुई अग्नि में जला देना या वेदपाठ करते हुए सौ-सौ योजन की तीन बार यात्रा करना। या वेतवेत्ता ब्राह्मण, को अपना सर्वस्व र्अपत करना अपने को शास्त्रधारी पुरुष के शस्त्र का लक्ष्य बना देना;[५] निर्जन स्थान में रहकर परिमित आहार करते हुए तीन स्म्पूर्ण वेदों की संहिताओं का जप करने पर पापमुक्त हो सकता था।[६]
३. एक-एक मास में एक-एक कृच्छ तीन वर्ष तक करना या एक मासे में तीन कृच्छव्रत एक वर्ष तक करने से पापमुक्ति मान ली जाती थी, या अवश्मेध यज्ञ

---

१ बौ.ध.सू. १.१.१६; याज्ञ. ३.२९३; अत्रि २४८; अग्निपु. १७३.६; अंगिरा १४३; मनु. ८.३७३

२ अनादिष्टेषु पापेषु शुद्धश्चान्द्रायणेन च। धर्मार्थयश्चरेदेतश्चन्द्रस्येति सलोक्ताम्॥ याज्ञ. ३.३२६; मनु. ११.२१५

३ मनु. ११.४४; याज्ञ. ३.३१९; २६२

४ महा.शा.पर्व ३५.२,३; अग्निपुराण १६० से ४; मनु. ११.७२; गौ. २२.४; याज्ञ. ३.२४३; आप.ध.सू. १.९.२४.१४

५ आप.ध.सू. १.९.२५.१३; वसिष्ठ २०.२५-२६; गौतम २२८; मनु. ११.७४; महा.शा.पर्व ३५.४-६; गौ.ध.सू. ३.४.२; मनु. ११.७३-७६ याज्ञ. ३.२४७, २४८, २५०

६ याज्ञ. ३.२४९

करना, या ब्राह्मण रक्षार्थ अपने प्राण गवां देना, अथवा सुपात्र ब्राह्मण को एक लाख गायों का दान देना।[१] बारह गायों की रक्षा करना या अश्वमेध यज्ञ करने से ब्रह्महत्या दोष से मुक्त हो सकता था (याज्ञवल्कय ३.२४४)।

क्षत्रिय वध पर छः वर्ष तक ब्रह्मचर्य तथा एक हज़ार गायों और एक सांड का दान; वैश्य वध पर तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य तथा एक सौगाय़ वएक सांड का दान, शूद्रवध पर एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य तथा दस गायों का व एक सांड का दान;[२] नपुंसक, सर्प एवं व्यभिचारिणी स्त्री के वध पर क्रमशः एक माष शीसा, एक लोहे की छड़, नील वृष का दान दिया जाता था। (गौ.ध.सू. ३.४.२४ से २६ तक)। ब्राह्मण हत्या पर, मृतब्राह्मण की खोपड़ी को हाथ में लेकर, दूसरी खोपड़ी को बांस के दण्ड में बांधकर, दूसरे हाथ में लेकर, स्वकर्म की घोषणा करते हुए, अल्पहार के साथ बारह वर्ष तक समय व्यतीत करने पर शुद्ध होता था। (याज्ञ. ३.२४३)। सभी प्रकार के वध पर चान्द्रायणव्रत की व्यवस्था भी थी — (याज्ञ. ३.२६२)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर शूद्र हत्या व्रत या दस गायों (नईव्यात) का दानकरना अनिवार्य था। धनु तथा बकरे का दान दिया जाता था।[३] यदि क्षत्रिय वैश्य या शूद्र ब्रह्महत्या का दोषी होता था, तो उसे पाप मुक्त होने के लिए निर्धारित प्रायश्चित का क्रमशः, दुगुना, तिगुना, चौगुना प्रायश्चित करना पड़ता था।

गौवध

एक मास तक यव पान, सिर का मुन्डन कराकर, गौचर्म ओढकर एक मास तक गोशाला में निवास, लवणहीन भोजन, पंचगव्यपान, फिर दो मास तक इन्द्रियसंयम करते हुए गोमूत्र में स्नान, दिन में गायों के पीछे खड़े रहना - दो मास तक[४]। तत्पश्चात् १० गाय व एक सान्ड का दान[५] यदि रोकने, बांधने पर गौवध हो जाये तो क्रमशः उक्त प्रायश्चित का १/४, व १/२ भाग प्रायश्चित (अग्निपुराण १६९.५ से १४ तक), तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य तथा एक सौ गायों व एक सांड का दान (गौ.ध.सू. ३.४.१८), गौवध पर स्मृतिकारों ने विस्तारपूर्वक व्यवस्था दी है।[६]

---

१ महा-शा.पर्व ३५७-११; मनु. ११८२; याज्ञ. ३.२४४-२४६

२ गौतम ध.सू. ३.४, १४-१६; मनु. ११.१२७-१३५; याज्ञ. ३.२५१, २६७, आप.ध.सू. १९.२५-१२; गौ. २२.३, १४, १६

३ याज्ञ. ३.२६८

४ मनु. ११.१०८, १०९, ११०; याज्ञ. ३.२६३, २६४; गौतम २२.१८

५ मनु. ११.११६

६ अग्निपुराण १६८.२९-३७; गौतम २२.१८; आप.ध.सू. १९.२६.१; वसिष्ठ २१.१८; मनु. ११.१०८ से ११६; विष्णु ५०.१६-२४; सम्वर्त १३०-१३५; पराशर ८.३१-४१; याज्ञ. ३.२६३-२६४

यदि बच्चा जनते, दवा देते समय गाय की मृत्यु हो जाती थी, तो यह स्थिति पापरहित होती थी (याज्ञवल्क्य ३.२८४; अग्निपुराण १६९.१४; सम्पर्त १३७)। परन्तु गाय या बैल नियन्त्रित करते समय, बांधते समय या हल जोतते समय मर जाये तो उनके मरने का प्रायश्चित क्रमशः १/४, १/५, ३/ भाग करना पड़ता था। एक रात का उपवास एवम् सामवेद का पाठ करना आवश्यक होता था। (सामवेद १.१.३.२)।

भ्रूण हत्या पर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित, क्षत्रियवध पर ब्रह्महत्या के प्रायश्चित का १/४ प्रायश्चित, वैश्य व शूद्र वध पर क्रमशः १/८, १/१६ भाग प्रायश्चित (ब्रहमहत्या का किया जाता था। नारी तथा अन्य पशु व पक्षियों के वध पर भी शूद्रहत्या का प्रायश्चित किया जाता था। (अग्निपुराण १६९.१८ से २८ तक) तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य (गौ.ध.सू. ३.४.१९) विभिन्न पशु-पक्षियों पर विभिन् प्रकार से प्रायश्चित का विवरण मनु ने दिया है।[१] अन्य स्मृतिकारों ने भी इसका उल्लेख किया है। इस के अतिरिक्त व्यर्थ में वृक्ष, गुल्म, लता, पुष्प काटने-तोड़ने पर एक-सौ बार गायत्री का जाप करना प्रायश्चित स्वरूप दिया है[२]।

सुरापान

गर्म-गर्म (अतिउष्ण) मदिरा का पान करने, या जलविहीन देश में पर्वत से गिरने या जलती अग्नि में प्रवेश करने; अथवा हिमालय में गलकर प्राण गवांने; — से सुरापान पाप से मुक्ति मिल सकती थी।[३] अथवा बृहस्पति स्वयज्ञ करना या भूमिदान करना — इससे भी सुरापान दोष से निवृत्ति हो जाती थी।[४] जलती सुरा या तप्त गोमूत्र का पान[५] सुरापान करने वाले ब्राह्मण का पुनः संस्कार होता था।[६] (याज्ञ. ३.२५५) सुरापान कर्ता ब्राह्मण अपने भार के बराबर स्वर्णदान देने पर भी सुरापान के पाप से मुक्त हो जाता था। याज्ञ. ३.२५८ अभक्ष्य एवं भक्ष्य पर मनु ने विस्तृत व्यवस्था प्रदान की थी।[७]

---

१ याज्ञ. ३.२६९-२७३; आप.ध.सू. १.९.२५.१४; गौतम २२.१९२२; मनु ११.१३३-१४२; विष्णु ५०.२५-३२; पराशर ६.१-५

२ याज्ञ. ३.२७६; मनु. ११.१४२; वसिष्ठ १९.११-१२

३ महा.शा.पर्व ३५.१६, १७; मनु. ११.९०; याज्ञ. ३.२५३

४ महा.शा.पर्व ३५.१८१९; याज्ञ. ३.२५३

५ अग्निपुराण १६९.१८; मनु. ११.९१; याज्ञ. ३.२५३

६ मनु. ११.१४६; याज्ञ. ३.२५३

७ मनु. ११.१४६-१६०

३. स्त्रीसंग्रहण

१. गुरुपत्नी-गमनकर्ता को लोहे की गर्म लाल शैय्या पर शयन करना पड़ता था या जननेन्द्रिय (मुत्रेन्द्रिय) को काटकर, ऊपर देखते हुए, तब तक आगे बढ़ते जाना, जब तक पृथ्वी पर गिर कर प्राण न छूट जायें।[१] स्त्रियों को एक वर्ष तक संयमपूर्वक रहना पड़ता था अथवा महाव्रत (एक मास तक जलपान न करने) का पालन अपेक्षित था। या ब्राह्मणों को अपना स्र्वस्व समर्पित करना पड़ता था।[२]

२. ब्रह्चर्यव्रत खण्डित होने पर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित या छः माह तक गौचर्म ओढ़ना[३]

३. समागम के अयोग्य स्त्रियों से मैथुन करने पर छः माह तक गीलावस्त्र पहन कर घूमना तथा राख के ढ़ेर पर सोना अनिवार्य था[४]। चान्द्रायणव्रत करना[५] वेदज्ञ ब्राहमण की पत्नी से सम्भोग करने पर तीनवर्ष ब्रह्मचर्य (गौ.ध.सू. ३.४.३०), परस्त्रीगमन पर दो वर्ष ब्रह्मचर्य (गौ.ध.सू. ३.४.२९); माता, पुत्री, पुत्रवधु के साथ रमण करने पर अग्निप्रवेश (विष्णु ३४.२); तप्तलोहप्रतिमा का आलिंगन करना (मनु. ११.१०३), प्रजापत्य यज्ञ करना (मनु. ११.१०५); स्त्रीसंग्रहण को लेकर मनु. ने विस्तृत रूप से लिखा है — (११.१७० से १७८ तक)।

गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने वाले को तीनवर्ष तक प्राजापत्य कृच्छव्रत या तीन वर्ष तक वेदसंहिता का जप करते हुए चान्द्रायणाव्रत करना पड़ता था (याज्ञ. ३.२६०)। वृषली (चाण्डाल नारी) के साथ सम्भोगकर्ता को तीन वर्ष तक भीख मांग कर खानी पड़ती थी तथा गायत्री मंत्र का जाप करना होता था।[६] पर-पुरुषों के साथ रमण करने वाली स्त्रियों को भी पापानुसार पुरुषों के समान दण्ड भोगने पड़ते थे। परंन्तु यदि नारी अज्ञानता में पुरुषरमण कर बैठे तो उसे निर्धारित प्रायश्चित का आधा प्रायश्चित करना पड़ता था।[७] प्रायश्चित न करने वाली स्त्री

---

१ महा.शा.पर्व ३५.२०; अग्निपु. १६९.१८-१९; मनु. ११.१०३, १०४; गौ. २३८-११; गौतम २५०; याज्ञ. ३.२५९; वसिष्ठ २०.१३, १५; नारद १२.७५; आप.ध.सू. १.९.२५.१-२; बौधा.ध.सू. २.१.१४-१६; पराशर १०.१०-११

२ महा.शा.पर्व ३५.२१,२२

३ महा.शा.पर्व ३५.२४

४ महा.शा.पर्व ३५.३६

५ अग्निपुराण १६९.३४-४१; मनु. ११.१०६

६ . मनु. ११.१.१७८; विष्णु ५३.९; अग्निपु. १६९.४१; शा.पर्व १६५.२९

७ मनु. ११.१७६; याज्ञ. ३.२६०; परमिताक्षरा

का त्याग कर दिया जाता था। उसे घासफूंस की बनी झोपड़ी में रहना पड़ता था। सूक्ष्म आहार व फटे-पुराने वस्त्र ही जीवनयापनार्थ दिये जाते थे।[१] महापापियों के संसर्ग में रहने वाले व्यक्ति महापापी समझे जाते थे। उन्हें भी दोषमुक्त होने हेतु महापापियों के समान निर्धारित प्रायश्चित करने पड़ते थे।

पर नारी रमण का दोषी, स्वपत्नी के साथ किये गये व्रत से च्युत माना जाता था। ऐसे पुरुषों को गदहे के चर्म को पहन कर सात घरों में भिक्षा मांगते हुए कहलाया जाता था कि "मुक्षे भिक्षा दीजिये मैंने स्वपत्नी के प्रति वचन भंग किया है। ऐसा छः माह तक करना अनिवार्य होता था।[२]

कामपिपासा में अनुरक्त वैदिक ब्रह्मचारी को, मिट्टी के पात्र में सात घरों से प्रतिदिन एक वर्ष तक भिक्षा मांगनी चाहिये, और अपने दुष्टकृत्य का उद्‌घोष भी करना चाहिये।[३] उसे वन में रह कर अग्नि जला कर भात की आहुति देनी चाहिये। और चार आहुतियां देकर कहना चाहिये, "कामदिपपासाकोस्वाहा:"। उसको, जो उसकी कामपिमासाका अनुसरण करता है, "स्वाहाः, नित्रऋतिको स्वाहाः, राक्षसदेवताकोस्वाहाः", ऐसा करने से ब्रह्मचारी-वासना के पाप से मुक्त हो जाता है।

४. गुरु अपमान

गुरु अपमानकर्ता को गुरु हेतु मनपसंद वस्तु देनी पड़ती थी। (शा.पर्व ३०.२३) जो व्यक्ति उचित समय पर उपनयन संस्कार नहीं करते थे, उन्हें भी दो मास तक लप्सी, एकमास तक दूध, आधेमास तक जामिक्षा, आठ दिनों तक घी पान करना पड़ता था। छः दिनों तक भिक्षा या बिना मांगे, तीन दिनों तक जल में रहना पड़ता था तथा एक दिन पूर्ण उपवास करने का विधान था।[४] यदि संन्यासी पुनः गृहस्थाश्रम को लौट जाता, तो उसे छः मास कृच्छव्रत करना पड़ता था।

५. धन अपहरण

एक वर्ष तक कठोर व्रत का पालन करना पड़ता था (शा.पर्व ३५.२५; या अपहरत धन के बराबर धनराशि लौटानी पड़ती थी (शा.पर्व ३५.२७)।

---

१ मनु. ११.१०६; याज्ञ. ३.२९६; वसिष्ठ २१.१०

२ आप.ध.यू. १.१०.२८.१९-२०

३ गौतम २३.१७-१९; मनु. ११.११८-१२३; बौ.ध.सू. २.१.३४-३५; याज्ञ. ३.२८०; अग्निपु. १६९.१५-१८; पारस्करगृ.सू. ३.१२

४ आश्व.गृ.सू. १.१९.५-७; वसिष्ठ ११.७१-७५; मनु. २.३६-३९; या . १.३७,३८

गर्हित व्यक्ति से दान ग्रहण करने पर तीन हजार बार गायत्री का जाप करना पड़ता था। (मनु. ११.१९४, विष्णु ५४.२४); अपात्र को दान देने, शिक्षा देने, वर्जित पदार्थबेचने पर पाप से मुक्त होने हेतु सिर मुन्डा कर १ वर्ष तप्तकृच्छव्रत करना पड़ता था। दिन में तीन बार जल प्रवेश करना, एक ही गीलावस्त्र पहने रहना, मौनव्रत धारण करना, रात में बैठना, दिन में खड़े रहना, और गायत्री का जाप करते रहना पड़ता था। (मनु. १०.१०९)

६. परिवेत्ता होने पर

बड़े और छोटे भाई को बारह रात कृच्छव्रत करना पड़ता था। (शा.पर्व ३५.१२४)

जानबूझ कर जातिच्युत करने पर सान्तपन कृच्छव्रत तथा अनजान से करने पर प्राजापत्य प्रायश्चित की व्यवस्था की थी (११.१२४; विष्णु ३८.७)।

७. पशु-पक्षी का वध व वृक्षों का उच्छेद करना

इस प्रकार के अपराध पर तीन दिन व तीन रात केवल हवा पान करना, और अपना पापकर्म लोगों में प्रकट करना होता था (महा.शान्तिपर्व ३५.३३, ३४)

८. अकरणीय कर्म करने पर

छः मास तक गीला वस्त्र पहन कर भ्रमण करना तथा राख के ढ़ेर पर सोना होता था (महा.शा.पर्व ३५.३६)

९. अज्ञानतावश अपराध करने पर

दिन में खड़े रहना, रात में खुले आकाश के नीचे सोना, तथा तीन बार दिन में और ती बार रात्रि में वस्त्रों सहित जल में प्रवेश कर स्नान करना होता था (महा.शा.पर्व ३५.३८, ३९)।

१०. प्रत्येक अपराध पर

मिताहारी, अहिंसक, राग-द्वेष-मान-अपमान रहित होकर मौन भाव से गायत्री मन्त्र का जाप करना (शा.पर्व ३५.३७); वेदाभ्यास करने तथा पंचयज्ञ क्रिया में तत्पर व्यक्ति महापाप से मुक्त रहता है (याज्ञ. ३.३१०)। जप-होम-उपवास-पवित्रपुरुषों का संसर्ग, पर्वत तथा सोने का स्पर्श, पवित्र जल का पान, रत्नादि से मिश्रित जल में स्नान, देवस्थानों की यात्रा, एवं घृतपान से दोषमुक्त होने पर विश्वास किया जाता था (शा.पर्व ३६.६-८; मनु. ११.२११-२१४)। दिन में उपवास करने रात्रिभर जल में रहकर सूर्योदय के हो जाने पर सहस्रवार गायत्री का जाप करने पर ब्रह्महत्या के अतिरिक्त अन्य सभी महापातकों से छुटकारा मिल जाता था। (याज्ञ ३.११)।

११. गर्व या दम्भ करने पर

तीन रात तप्तकृच्छव्रत की विधि से गर्म-गर्म दुग्ध या घृत अथवा जल पीना पड़ता था। (शा.पर्व ३६.९)।

१२. दण्डनीयपुरुष को दण्डित न करने पर

नृप अथवा न्यायधीश को एक दिन व एक रात्रि का उपवास करना पड़ता था। (शा.पर्व ३६.१७)।

१३. उचित सलाह न देने पर

तीन रात्रि का उपवास अनिवार्य था (शा.पर्व ३६.१७)।

१४. आत्महत्या का विचार करने पर

तीन रात्रियों का उपवास किया जाता था (शा.पर्व ३६.१८)।

१५. चोरी करने पर

बारह दिन तक कणमात्र खाकर रहना (अग्नि. १६९.३४-१४); स्वर्ण चुराने पर ब्रह्महत्या का प्रायश्चित (मनु. ११.१०१); पृथक्-पृथक् सामान की चोरी पर पृथक्-पृथक् प्रायश्चित (मनु. ११.१६२-१६८)करणीय रहे थे। सोना चुराने पर अग्निप्रवेश (आप.ध.सू. १.९.२५.६-७); ब्राह्मण को बारह वर्ष तक चीथड़ों में लिपटकर ब्रह्महत्या व सुरापान का प्रायश्चित करना पड़ता था (मनु. ८.१३४; ११.१०१);(याज्ञ. १.३६३); चोर अपने बराबर सोना देकर भी पाप मुक्त हो सकता था (याज्ञ. ३.२५८) मिताक्षरा; आप.ध.सू. १.९.२५.८ के अनुसार एक वर्ष का कृच्छव्रत भी इसका विकल्प समझा जाता था। अनाज, पके भोजन, या धन चुराने पर एक वर्ष का कृच्छव्रत, पुरुषों व दासियों को भगा ले जाने, भूमिअपहरण, कूप वजलाश्यों के जल की चोरी पर चान्द्रायण व्रत, कममूल्य की चोरी पर सान्तपनव्रत, भोज्य पदार्थों, गाड़ी, शय्या, आसन, फल, मूल, की चोरी पर पंचगव्य पान का प्रायश्चित, घास, लकड़ी, पेड़, सुखा भोजन, खांड, वस्त्र, चर्म, मांस की चोरी पर तीन दिन व तीन रात का उपवास, रत्न व धातु चुराने पर १५ दिन तक चावलों का भोजन करना पड़ता था। रेशम, रूई, पशु-धन, औषध, सुगन्धित पदार्थ चुराने पर दुग्धपान का प्रायश्चित का विधान था।[1] साहस में दुगुना व तिगुना प्रायश्चित करना पड़ता था।

---

१ मनु. ११.१६२-१६८; मत्स्यपु. २२७-४७; वि.स्मृ. २५.५-१३

१६. असत्य भाषण् व असत्य साक्षी पर

सरस्वती देवी का यज्ञ करना पड़ता था (मनु. ८.१०५); ब्रह्महत्या का प्रायश्चित (मनु. ११.८८) एवं गायत्री मन्त्र का जाप भी इस हेतु करना पड़ता था (याज्ञ. ३.२७९)।

प्रायश्चित के सम्बन्ध में समय-काल-व्यवस्था-नियमों-उपनियमों का प्रतिपादन हुआ है (मनु. ११.२४८ से २६५; याज्ञवल्क्य ३.३०१-३०५ विष्णु. ५५; गौंतम २४.१-११; वसिष्ठ २५.१-३; मनु. ११.२२६)।

दण्ड : स्वभाव : परिमाण

स्मृतिकालीन दण्ड विधान अपने में निश्चित है। उसमें विखराव व शंका को कहीं भी स्थान नहीं है। न्यायविदों को सुनिश्चित विधि के अनुरुप न्याय करने हेतु प्रतिबन्धित किया गया है। न्यायविद अपराधी के अपराध में किसी भी प्रकार का सुधार, कमी अथवा बढ़ोतरी नहीं कर सकते थे। अपितु अपने विवेक का अवलम्ब लेकर अपने व्यक्तिगत निर्णय को देने में स्वतन्त्र रहते थे। स्मृतिकालीन दण्ड विधान के साथ न्यायविद का विवेक सन्निहित होते हुए वैधानिक महत्व रखता था।

दण्ड का परिमाण सुनिश्चित करने से पूर्व स्मृतिकालीन विधिशास्त्रियों ने निम्न बातों पर बल दिया था।

१. गौतम — अपराधी पुरुष की क्षमता, अपराध की सीमा एवं अपराध की पुनरावृत्ति (१२.५१)।

२. वशिष्ठ — देश, काल, कर्तव्य, अवस्था, स्थिति (१९.९)।

३. मनु. — देश, काल, विद्या, क्षमता (७.१६; ८.१२६)।[1]

४. याज्ञवल्क्य — अपराध, देश, काल, बल, वय, कर्म, वित्तीय स्थति (१.३६६, ३६८)।

५. आपस्तम्ब — अपराधी, प्रयोजिता, परामर्शदाता :— प्रयोजयिता, मन्ता, कर्तेतिस्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनः॥ २.२.२९.१

६. बृहस्पति — वातावरण और अपराध को ध्यान में रखते हुए दण्ड निर्धारण को स्वीकार किया है (२.२२)।

---

१ अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालो च तत्त्वतः। सारापराधौ चालोक्य दण्डं दन्ड्येषु पातयेत्॥ मनु. ८.१२६

७. विष्णु — आपराधिक मनोवृत्ति, स्थान, समय, शक्ति के अनुसार दन्ड के परिमाण को स्वीकारा है। (३.६५; ३.३६)

८. अर्थशास्त्र — अनुबन्ध, काल, देश, वातावरण वैयक्तिक एवं सामाजिक क्षमता के साथ अपराध की सीमा को ध्यान में रखकर दण्ड परिमाण का निर्धारण किया है : पुरुषंचापराधं च कारणं गुरुलाध्वम् । अनुबन्धंतदात्वं च देशकालौसमीक्ष्य च ॥ - ४.१०

९. नारद — अपराध स्वीकार कर लेने पर दण्ड का परिमाण अपराध में निर्धारित दण्ड परिमाण को सुनिश्चित करने की बात कही है । नारद १.२४५ व २४६

सभी स्मृतिकारों ने अपराधी की अवस्था, देश, वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षमता के साथ अपराध की गुरुता के अनुरुप दन्ड परिमाण को सुनिश्चित करने की बात कही है ।

दण्ड सिद्धान्त

१. प्रतीकारात्मक :

प्राचीन हिन्दु समाज में प्रतिशोध की भावना विद्यमान थी । स्मृतियुग में ऐसे नियमों का निर्माण हो चुका था । जो बदले की भावना की पुष्टि करते थे । आंख के बदले आंख, हाथ के बदले हाथ, दांत के बदले दांत लेने का दण्ड प्रचलित एवं परम्परित हो चुका था ।[1] अपराधिक प्रवृत्ति पर सीधा अंकुश लगाना, इस दण्ड सिद्धान्त का मूलउद्देश्य था । अपराधी आतंक्ति व भयात्तुर होकर आपराधिक प्रवृत्ति से विलग हो जाता था । इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष प्रभाव अपराधी एवं तत्कालीन समाज पर पड़ता था ।

२. अवरोधक

अवरोध के अन्तगर्त भय और प्रदर्शन के स्वरूप को विकसित करते हुए ऐसी व्यवस्थाओं का नियोजन किया गया, जिससे अपराधी पुनः अपराध न कर सके । उदाहरणतः जिस-जिस अंग से अपराधी अपराध करता उसका वही-वही अंग कटवा दिया जाता था ।[2] यहां तक प्राणदन्ड को भी अवरोध सिद्धान्त का अंग

---

१ पाणिमुद्यम्य दन्डं वा पाणिच्छेदनमर्हति । पादेनप्रहरन्कोपात्पादच्छेदनमर्हति ॥ मनु. ८.२८०; नारद (पारुष्यश्लोक-२५); याज्ञ. २.२१५; वि.ध.सू. ५१९

२ येन येन यथाङ्गेनस्तेनोनृषुविचेष्टते । तत्तदेवहरेत्तस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ मनु. ८.३३४

मान लिया था ।[१] दण्ड लेने की भावना के पीछे, अवरोध सिद्धान्त की पुष्टि निहित रहती थी ।

स्मृतिकारों ने दण्ड देने के लिये जिन शारीरिक अंगों का उल्लेख अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में किया है उनसे स्पष्ट होता है कि इन अंगो को दण्डित करने के पीछे अपराध अवरोध की मूल भावना निवास करती थी ।[२]

अवरोधक दण्ड सिद्धान्त की परिसीमा में, अपराधी को सार्वजनिक स्थानों पर दण्ड देना, अंगहीन करना, चिह्न दाग देना, या खुले स्थानों पर मृत्युदण्ड देना, अंगहीन करना आदि मुख्य थे । इन भयंकर दण्डों को भुगतने वाला या अवलोकनकर्ता पुनः अपराध करने का साहस नहीं कर सकता था । अपराध प्रवृत्ति के जगने से पूर्व दण्ड की क्रूरता सा कार हो उठती थी ।

कारागार को गणना भी अवरोध दण्ड की परिधि में ही की जाती थी ।[३] आजीवन कारागार को इसी का अंग माना जाता था ।[४] इन कारागारों का निर्माण सार्वजनिक स्थानों पर किया जाता था ।[५] जिससे इन कारागारों में रहने वाले पापकर्ताओं के दुःख बेड़ी एवं हथकड़ियां पहने हुओं को देख कर अन्य व्यक्ति भी अकृत्य एवं पाप से विरत रह सकें ।

३. निरोधक सिद्धान्त

निरोधक सिद्धान्त में अपराध की पुनरावृत्ति रोक कर अपराध कर्ता को सुधारवादी मार्ग की ओर उन्मुख करने की भावना निहित रहती थी । अभिष्ट की स्थापना में बाधक तत्त्वों को दूर करना इसका लक्ष्य होता था । निरोधक का आधार भय व दमन ही था । बदले की भावना नहीं । अपराधी पर नियन्त्रण कर अपराध निवृत्ति हो सकती थी ।[६]

अपराधी से सड़क स्वच्छ कराना, सार्वजनिक स्थानों में कार्य कराना या सश्रमकारागार का दण्ड देना निरोधक सिद्धान्त के मुख्य अंग रहे थे ।

---

१ बृहस्पति २२.२७-२८

२ उपस्थमुदरं जिह्वाहस्तौपादौ च पन्चमम् । चक्षुर्नासा च कर्णो च धनं देहस्तथैव च ॥ मनु. ८.१२५

३ शुक्र. ४७३; अर्थशास्त्र ४.९

४ विष्णु. ५.७१

५ बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् । दुखितायत्रदृश्येरन्विकृता पापकारिणः ॥ मनु. ९.२८८

६ मनु. ९.२३०

४. सुधारात्मक सिद्धान्त

सुधारात्मक सिद्धान्त के द्वारा अपराधी के नैतिक-कल्याण की कठिनाइयों का समाधान तथा असामाजिक वृत्तियों का मूलोच्छेदन किया जाता था। इस सिद्धान्त के द्वारा रोग का निदान किया जाता था, न कि रुग्ण की समाप्ति। अर्थात् असत्य आचरण की समाप्ति की जाती थी।[१] दण्ड एक प्रकार की पापनिष्कृति है जो पापकर्ता या अपराधी को पापकर्म न करने की प्रेरणा देती है। अपराधी का चरित्र दण्ड से सुधारा जाता है।[२] दमन और नियन्त्रण ही सुधारवादी दृष्टिकोण को जन्म देते हैं। स्मृतियों में वर्णित कठोर दण्डव्यवस्था का उद्देश्य आपराधिक मनोवृत्ति का उन्मूलन कर सुधार की ओर उन्मुख करना ही था। सुधारात्मक सिद्धान्त मनोवृत्ति और स्वभाव पर बल देता है। दण्ड देना अपराधी पर कृपा कर उसे पवित्र बनाकर उचित मार्गपर लाना था। सिद्धान्त के आधार पर चरित्र, नैतिकता एवं मानवीय गुणों का विकास होता था। भविष्य में अपराध न करने की प्रतिज्ञा करने वाले बन्दियों को मुक्त करना, इसी सिद्धान्त का प्रतीक रहा था।[३]

दण्ड प्रक्रिया

अभियोग का निर्णय होने पर, न्यायाधीश पराजित या अपराधी पक्ष पर दण्ड का निर्धारण करता था। पराजित पक्ष को ही दोनों पक्षों (पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष) के साक्षियों का पूर्ण व्यय, भोजन व्यय तथा न्याय से सम्बन्धित अन्य सम्पूर्ण व्यय वहन करने का दण्ड दिया जाता था।[४]

किसी भी अपराधी को दण्ड देते समय धर्मस्थ एवं प्रदेष्टा, न्यायविभाग का अमात्य आदि अपने सहयोगी न्यायधीशों एवं विधिज्ञ परामर्श दाताओं के साथ बैठ कर, अपराधी पुरुष, अपराध का कारण; भविष्य मे सम्भावित परिणाम के साथ देश एवं काल का सम्यक् अवलोकन करने के उपरान्त, ही अपराधी को उत्तम, माध्यम या प्रथम साहस दण्ड से दण्डित करता था।[५]

दण्ड देते समय अपराधी पुत्र तक को दण्डित किया जाता था।[६] दण्ड प्रक्रिया में निम्नांकित सिद्धान्त प्रभावी व परम्परित रहते थे।

---

१ मनु. ८.१२

२ मनु. ८.३१८; ऋग्वेद ७.१८.९, १६, १८, २०, २४

३ अथर्व ४.९.४५-६३

४ अथर्व ३.१

५ पुरुषं चापराधं च कारणं गुरुलाघवम्। अनुबन्धं तदात्वं च देशकालो समीक्ष्य च॥ उत्तमावरमध्यत्वं प्रदेष्टा दण्डकर्मणि। नाज्ञश्च प्रकृतीनां च कल्पयेदन्तरास्थितः॥ अर्थशा. ४.१०

६ महा.शा.पर्व ९२.३२

१. प्रथमवार अपराधकर्ता को शालीनता के साथ धिक्कारा जाता था।

२. द्वितीय बार अपराध करने पर अपराधी को कटु व तीखे वचनों से निन्दित करना ही पर्याप्त था।

३. तृतीय बार उसी अपराधी द्वारा वही अथवा अन्य अपराध करने पर अपराधानुरुप आर्थिक दण्ड से दण्डित किया जाता था।

४. चतुर्थ बार अपराधी द्वारा अपराध की पुनरावृत्ति करने अथवा अन्य अपराध करने पर अंगछेदन या वध दण्ड देकर अपराधी का मूलोच्छेद न कर दिया जाता था। ऐसे अपराधी जो विधि और दण्ड का तिरस्कार कर अनियन्त्रित या स्वच्छन्द रहते, तो उनको भी राज्य और समाज का प्रबल शत्रु समक्ष कर मृत्युदण्ड ही दिया जाता था। या चारों दण्ड एकसाथ दे दिये जाते थे।[1] महा.शा.पर्व २६७.१५-२०; विष्णुस्मृति राजधर्माध्याय। वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्रिग्दण्डंतदनन्तरम्। तृतीय धनदण्डं तु वधदन्डमतः परम्॥ मनु. ८.१२९ वधेनापि यदा त्वेतान्निग्राहीतं चतुष्ट्यम्॥ मनु. ८.१३० मित्रादिपुप्रयुन्जतिवाग्दण्डंधिवतपस्विनि। यथोक्तं तस्नुतत्कुर्यादनुवतसाधुकल्पितम्॥ कात्या.मतसंग्रह ८०२ दण्ड देते समय अत्यन्त सावधानी बरती जाती थी। यदि अपराधी दण्डाधिकारी के हाथ से छूटकर अन्यत्र भाग जाता, तथा अन्वेषण पर न मिलता, तो ऐसे फलायनवादी अपराधी का समस्त दण्ड, उस दण्डधिकारी को वहन करना पड़ता था जिसके नियन्त्रण से अपराधी ने पलायन करने का साहस किया था।[2]

दण्ड प्रक्रिया की परिधि में स्मृतिकारों ने जहां अपराध परिमार्जनार्थ अपराधी हेतु कठोरतम दण्डों की व्यवस्था की थी, वहीं पर दूसरी ओर निष्क्रय दण्ड का भी विधान था, अर्थात् कठोरतम दण्ड के बदले में निश्चित धनराशि का दण्ड भी दिया जाता था। ऐसी व्यवस्था के पीछे मानवीय दृष्टिकोण का आदर्श उपस्थित किया गया था। व्यवस्थापकों अथवा व्यवस्थाकरों का उद्देश्य अपराध का परिमार्जन करना था, अपराधी का मूलोच्छेदन करना नहीं। इस निष्क्रय दण्ड से अपराधी को सुनागरिक बनाने का प्रबल प्रयास किया जाता था।

---

१ महा.शा.पर्व २६७.१५-२०; विषणुस्मृति राजधर्माध्याय।
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विग्दण्डंतदन्तरम्।
तृतीय धनदण्ड तु वण दन्ड यतः परम्।
मनु १२९ अ.८
वधोनापि यदा त्वेतानि नग्रहीतुं शवनुयात्।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुजीतचतुष्टम् मनु. १३०
मित्रादिप्रयुतिवाग्दण्डंधिक्तपस्विनि।
यथोक्तं तस्यतत्कुर्यादनुक तसाधुकल्पितम्॥ कात्या.मतसंग्रह ८०२

२ अग्निपुराण अ. २२७

वास्तविक अपराधी को दण्डित करना दंण्ड प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य होता था। उदाहरणतः महावतः की उदासीनता के कारण, हाथी द्वारा किसी की मृत्यु होने पर, महावत दण्डित होता था। इसी प्रकार पालतु पशु व पक्षियों द्वारा की जाने वाली हानि पर, पालतुपशु या पक्षी का स्वामी दण्ड के उपयुक्त समझा जाता था।[१] विशेष प्रदेश हित को ध्यान में रखते हुए, सार्वजनिक अपराध पर, राजा सम्पूर्ण नगर या ग्राम को सामूहिक रूप मे दन्डित भी कर सकता था। इस प्रकार दण्ड प्रक्रिया का क्षेत्र व्यक्तिगत रूप में व्यक्तिगत अपराधी से लेकर सामुहिकजन समूह तक को प्रभावित कर सकता था।[२]

उपस्थ (मूत्रस्थान), उदर, जिह्वा, दोनों हाथ, दोनों पांव दोनों कान, दोनों आंख, नाक धर्म तथा शरीर अदि स्थान दण्ड देने के लिए निर्धारित समझे जाते थे।[३] साधारण व्यक्तियों को जिस अपराध में एक कार्षापण दण्ड दिया जाता था, उसी अपराध मे राजा या न्यायविदों को एक हजार कार्षापण का दण्ड, दण्डप्रक्रिया के अन्तर्गत, परम्परित रहा था।[४]

प्रत्येक अपराधी के दोषो को पृथक्-पृथक् बतलाकर, स्मृतियों के अनुरूप अपराध का दण्ड दिया जाता था। जिससे कहीं अन्याय न हो जाये[५] अन्यायपूर्वक अर्थदण्ड करने पर, अर्थदण्ड लौटा दिया जाता था। तथा साथ-साथ इसी दण्ड का तीसगुना धन वरुण देवता का संकल्प कर, पश्चाताप के रूप में ब्राह्मणों को दान कर दिया जाता था।[६]

समुचित निर्णय के अभाव में अपराध का १/४ भाग अपराधी पर १/४ भाग साक्षी पर, १/४ भाग न्यायाधीश पर, १/४ भाग नृप पर पड़ता है, ऐसा स्मृतिकारों का मत रहा था।[७] पाप व अन्याय से पूर्ण निर्णय नरक एवं पतन का कारण बनता था।[८] अतोंन्यथाकर्तपत्यम्॥ जिस दोष में शूद्र को दंड दिया जाता

---

१ अर्थ.अधि. ४ अ. १३

२ महाअस्सारोहजातक

३ उपस्थमुदरं जिह्वांहस्तौपादौ च पंचमम्। चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनदेहस्तथैव च॥ मनु. ८.१२५

४ कार्णपणं भवेद्दण्डयोयात्रान्यः प्राकततोजनः। तत्रराजा भवेद्दण्डयः सहस्रमिति धारणा॥ मनु. ८.३३६

५ अपराधनुरुपं च दण्ड दण्डयेषुदापयेत्। सम्यग्दंडप्रणयनं कुर्य्यात्॥ वि.स्मृराजधर्माध्याय; मनु. ९.२६२

६ राजान्यायेन यो दण्डोगृहीतोवरुणाय तम्। निवेद्यदद्याद्विप्रेभ्यः स्वयंत्रिशदगुणीकृतम्॥ याज्ञ.व्य.अ. ३०७

७ बौधायन १.१०.१९.९

८ बौधायन १.१०.१९.१८; अतोऽन्यथाकर्त्तपत्यम्।

था, उसी दोष में, उससे दुगुना दण्ड क्षत्रिय को, क्षत्रिय से दुगुना दण्ड ब्राह्मण को दिया जाता था।[1] इस दण्ड की समीकरण के पीछे अपराध की अज्ञानता या वर्ण व्यवस्था में पद की गुरुता का अंकन होता था। अपराधकर्ता व्यक्ति जितना बड़ा (श्रेष्ठ) होता था, उसे उतना ही अधिक दण्ड दिया जाता था। जिससे श्रेष्ठ पुरुष भावुकतावश आपराधिक प्रवृत्ति के अनुगामी न बन सकें। स्मृति में विपरीत आचारणकर्ता को अपराधनुरुप दण्डित करना दण्ड प्रक्रिया का लक्ष्य[2] होता था।

दण्ड से विमुक्त

स्मृतिकरों ने दण्ड देने से पूर्व अपराधी की परिस्थिति व वय एवं व्यक्तित्व पर विचार करना आवश्यक समक्षा था। न्यायधीश उक्त आधारों पर अपने विवेक का अवलम्ब लेकर कुछ अपराधियों के दण्ड में छूट प्रदान कर सकता था इन दण्ड विमुक्तों का उद्देश्य सुधारात्मक होता था।

स्त्री, रुग्ण ८० वर्ष से अधिक वृद्ध तथा १६ वर्ष से कम आयु के बालक का दण्ड निर्धारित दण्ड से आधा कर दिया जाता था। पांच वर्ष से ग्यारह वर्ष तक के बालक को दण्डमुक्त रखा जाता था।[3] नारद ने आठ वर्ष से सोलह वर्ष तक बालक को दण्ड मुक्त रखने को कहा था। (नारद ४.८५१); जबकि शंख ने अपराधमुक्ति की आयु पांच वर्ष; तथा माण्डव्य ने चौदह वर्ष तक मानी थी।[4] अल्पव्यस्क अपराधी के साथ यदि व्यस्क उपस्थित रहता था तो, उस अपराध का पूर्ण दायित्व व्यस्क पर जाता था। यदि अल्पव्यस्क रथ चालक के साथ रथ पर व्यस्क चालक के बैठे रहने, रथ चालन के अपराध का दायित्व चालक पर ही पड़ता[5] था। इस प्रकार स्त्री, बालक, रुग्ण, उन्मत्त, वृद्ध व निर्धन दण्ड से मुक्त रहते थे। अज्ञान के कारण अपराध होने पर दण्डमुक्त करने का विधान नहीं था।[6] कुछ स्थलों पर शूद्र की अपेक्षा उच्चवर्ण के व्यक्तियों में विशेषकर ब्राह्मणों को दण्ड

---

१ येन दोषेण शूद्रस्यदण्डो भवति धर्मतः। तेन चेतक्षत्राविप्राणां द्विगुणो द्विगुणो भवेत्॥ कात्या. मतसंग्रह ३५५

२ याज्ञ. आचाराध्याय ३३८

३ गौतम २.६; याज्ञ. ३.२४३ परमिताक्षरा

४ महा.आदिपर्व १०७, १०८

५ अर्थशास्त्र ४.१३

६ मनु. ९.२३०; याज्ञ. २.२१३, २१४; अर्थशा. ३.१९

से मुक्त रखा गया था।[१] परन्तु याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण को भी मृत्युदण्ड का विधान किया था।[२]

माता-पिता अपराधी होने पर भी सदा अवध्य होते हैं[३] अपराध को स्वीकार करते हुए पुनः न करने की क्षमायाचनाकर्त्ता तथा प्रत्याभूति प्रदान करने वाले अपराधी को भी दण्डमुक्त कर दिया जाता[४] था। ब्रह्मचारी, पूज्य, एवं महान् व्यक्ति, तथा गुरु भी दण्डमुक्त हीरहते थे।[५] परन्तु याज्ञवल्क्य ने धर्मविचलित भाई, पुत्र, आचार्य, पूज्यव्यक्ति श्वसुर तथा मामा को दण्ड से दण्डित करने पर बल दिया था।[६]

दण्ड और जाति

सम्पूर्ण न्याय एवं दण्डव्यवस्था पर वर्णव्यवस्था का सीधा प्रभाव विद्यमान था। शूद्र न्यायाधीश नहीं हो सकता था।[७] दास एवं भृत्य भी अधिकारों से वंचित रहते थे।[८] क्षत्रिय की हत्या पर दोष निवारण हेतु एक हजार गाय एक बैल का दण्ड; वैश्य की हत्या पर एक सौ गाय व एक बैल का दण्ड; शूद्र की हत्या पर दस गाय और एक बैल का दण्ड दिया जाता था।[९] शपथ और दिव्य भी वर्णानुसार भिन्न[१०] भिन्न होते थे। शूद्र व श्वान के मारने का दण्ड एक समान होता[११] था। निम्न वर्ग का व्यक्ति उच्च वर्ग के व्यक्ति को जिस अंग से हानि पहुंचाता, तो उसका वही अंग काट कर पृथक् कर दिया जाता था।[१२]। यह विषमता (गौतम १२.११), स्तेय (विष्णु ९.११); उत्तराधिकार के धरातल पर जड़ जमाये हुए

१ गौ. १२.१५, १६; मनु. ८.३३८, ३३९; याज्ञ.व्य.अ. २०६, २०७

२ याज्ञ. २.२८१

३ आचार्यस्यपितुर्मातुर्बान्धवानांतथैव च। एतेषामपराधेपुदण्डोनैवविधीयते। कात्या.मतसंग्रह३५३; अवध्या हि सदा मातापिता चाप्ययकारिणा॥ महा.शा.पर्व १०८.२०

४ शा.पर्व २६७.१४; अर्थशा. २.३६

५ आश्रमी यदि वा वर्णीपूज्यो वाऽथ गुरुमहान्। नादण्ड्यानामराज्ञोऽसि यः सव्धर्मेणष्ठिति॥ मत्स्यपु.अ. १०३.५

६ याज्ञ. आचाराध्याय-३५८

७ मनु. ८.२०, २१; याज्ञ. २.३; विष्णु ३.७२

८ मनु. ८.७०

९ बौधायनध.सू. १.१०.१९.१-३; आप.ध.सू. १.९.२४.१-४

१० मनु. ८.८८; याज्ञ. २.९८; बौ.ध.सू. १.१०.९९.२

११ मनु. ११.१३२, बौ.ध.सू. १. १०.१९.६

१२ मनु. ८.२७९; गौतम १०.३१; वसिष्ठ १७.५८, ५९

थी ।[१] लिंगगत विषमता के जन्मते ही दण्डव्यवस्था वर्गीय बन कर रह गई थी ।[२] इस प्रकार स्मृतिकारों ने समभाव की उपेक्षा कर असमानता को दण्ड धरातल पर लाकर खड़ा किया था ।जिससे मानव बट कर रह गया ।

स्तेय अपराध मे शूद्र को अन्य वर्गो की अपेक्षा चार गुना अथवा आठगुना दण्ड दिया जाता था । (मनु. ८.३३८, ३३९), शूद्र द्वारा अपमानजनक शब्द कहने पर १५० पण के साथ शारीरिक दण्ड, यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को अपशब्द कहता तो ब्राह्मण पर क्रमश ५०, २५, १२ पण दण्ड होता था । (याज्ञ. २.२०६, २०७) । गौतम (१२.१३) के अनुसार शूद्र का अपमान करने पर ब्राह्मण अदण्डय समझा जाता था ।[३] शूद्र द्वारा व्यभिचार करने पर शूद्र को मृत्युदण्ड, ब्राह्मण द्वारा ऐसा करने पर ब्राह्मण को चिह्न दागने य देश निर्वासन का दण्ड दिया जाता था ।[४]

ब्राहमणों को सुविधओं के साथ कठोरतम दण्ड भी दिये जाते थे मध्यम् साहस, देश निर्वासिन, सम्पत्ति हरण, चिह्न अंकित कराने के दण्ड से ब्राहमण भी दण्डित होता था ।[५] अधिकतर ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड से मुक्त रखने का प्रयास किया जाता था । (मनु. ८.१२५ — पर मेधातिथि)[६]

मनु का विचार रहा था कि सम्मानजीवी ब्राह्मण को, उसका सम्मान छीन कर देश-निष्कासन, शिरमुन्डन तथा चिह्न अंकित कर, उसे दीन होकर मांगने पर भिक्षा भी नहीं मिल सकती थी । उसका सम्मान नष्ट हो जाता था । यह दशा, फांसी व कारागार से भी भयंकरतम होती थी ।[७] परन्तु उसे मृत्युदण्ड नहीं देना चाहिये ।[८] वास्तव में वेदशास्त्रज्ञ आचारशील ब्राह्मण ही दण्ड से मुक्त रहता था ।[९] अपराध

---

१ मनु. ९.१५१; याज्ञ. २.२१५; गौतम १०.३१; वशिष्ठ १७.५८,५९; बौ.ध.सू. २.३.३.१०

२ मनु. ८.१४२, १७३, २६७-२७९, २८७, ३२३, ३२५; याज्ञ. २.३७-४१; आप.ध.सू. १.११.२४.१-४१; गौतम ध.सू. २२.६४.१६; बौ.ध.सू. १.१०.१९.३; आप.ध.सू. २.२७.१४, १५; महा.शा.पर्व ५६.२२; बौ.ध.सू. १.।०.१८.१७

३ याज्ञ. २.२८६; मनु. ८.१२४, १२५; विष्णु. ५.१-८; अर्थशा. ४८; याज्ञ. २/७०; गौतम १२.४३; नारद (साहस ९-१०); आप.ध.सू. २.२७८, ९; सापराधानपि हितान् विषयान्तेसमुत्सृजेत् ॥ महा.शा.पर्व ५६.३१

४ मनु. ९.२४०; २४१; गौ.ध.सू. २.३.४४; महा.शा.पर्व ५६.३२, ३३ विधीयते न शरीरं दण्डमेषा कदाचन । शा.पर्व ५६.३३

५ गौतम ध.सू. १८.१२.१३; २.३.४३;

६ मनु. ९.२३८, २३९

७ मनु. ८.१२५, ३८०, ३८१; याज्ञ. २/७०; विष्णु. ४.१-८; नारद (साहस) ९, १०

८ याज्ञ. २.४; गौ. ८.४ से ११ तक

९ मनु. ८.१२३; ३७८; याज्ञ. २८१ पर मिताक्षरा

की आवृति साक्ष्यदोष, व्यभिचार ओर बलात्कार जैसे अपराधों में ब्राह्मण को अधिक दण्ड देना पड़ता था।[१] मृत्युदण्ड भी दिया जाता था।[२] वैदिक काल से ही ब्राह्मण को कुछ विशेष दायित्वों से मुक्ति प्रदान कर दी गई थी उदाहरणतः — राजा को ब्राह्मण की सम्पत्ति का अपहरण नहीं करना चाहिये।[३] ब्राह्मण को वेदना देने वाले को सपरिवार हिंसक पशुओं को खिला दिया जाता था।[४] इसके साथ शमशान झाड़ने वाली कांटेदार झाड पर सोने का आदेश दिया जाता था। शव के स्नान से बचा जल, या दाढ़ीमूंछ भिगोकर वचा गंदा जल उसे पीने को दिया जाता था।[५]

शूद्र द्वारा वध, चोरी, बलपूर्ण अधिकार करने पर उसकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था।[६]

यदि ब्राह्मण उक्‌ अपराध करता तो उसकी आंख पर जीवन भर ही बांध दी जाती थी।[७] गौतम धर्मसूत्रानुसार जातिगत प्रभाव अत्याधिक प्रभावी रहा था। यदि शूद्र जानबूझकर ब्राह्मण का अपमान करता था, अथवा हानि पहुंचता था, तो शूद्र के उस अंग को काट दिया जाता था जिससे वह अपमान या हानि करता था।[८] जबकि क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण का वैश्य द्वारा ब्राह्मण का अपमान किये जाने पर अपराधी वैश्य एक सौ पचास कार्षापण का दण्ड देय था।[९] परन्तु स्थितिविपर्यय हो जाने पर; ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय, वैश्य का अपमान करने पर अपराधी ब्राह्मण पर क्रमशः पचास कार्णपण, पच्चीस कार्णपण का दंण्ड देय होता था। शूद्र का अगमान करने पर ब्राह्मण दण्डमुक्त[१०] रहता था। शूद्र द्वारा द्विज वर्ण की नारी के साथ

---

१ आप.ध.सू. २.११.।

२ . . . .

३ ऋग्. १०.१०९.१

४ अथर्व. ५.१९.२, ३

५ अथर्व. ५.१९.४, १२, १३, १४

६ आप.ध.सू. १.२७.१६

७ आप.ध.सू. २.२७.१७

८ शूद्रोद्विजातीनाभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामगंमोच्योयेनोपहन्यात॥ गौतम ध.सू. २.३.१

९ शतंक्षत्रियोब्राह्मणक्रोशे॥ गौ.ध.सू. २.३.६,७

१० गौ.ध.सू. २.३.८.९, १०

सम्भोग करने या उसकी रक्षा न करने पर दोनों अवस्थाओं में वधदण्ड भुगतना पड़ता था।[१] शूद्र द्वारा वेदपाठ सुनने, वेदमन्त्रों का उच्चारण करने, वेदमन्त्र धारण करने पर क्रमशः कानों में सीसे भरने का, जिह्वा काट लेने, सम्पूर्ण शरीर को नष्ट करने का दण्ड दिया जाता था।[२] शूद्र उच्चवर्ण के पुरुषों के साथ आसन, शयन, वार्तालाप, एवं मार्ग में समानता प्राप्त नहीं कर साकता था। ऐसा करना दुरसाहस मान कर शूद्र को दण्डित किया जाता था।[३] स्तेय के क्षेत्र में शूद्र को चोरी के धन का आठगुना, वैश्य द्वारा चुराये गये धन का १६ गुना, क्षत्रिय द्वारा चुराये गये धन को ३२ गुना, ब्राह्मण द्वारा चुराये गये धन का ६४ गुना दण्ड दिया जाता था।[४]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र एक समान अपराध किये जानेपर इन्हे क्रमशः वाणी से अपमान कर, भोजन मात्र से वंचित कर, अर्थदंड देकर, तथा सेवाकार्य लेकर दण्डित किया जाताथा।[५] आचारहीन ब्राह्मण की हत्या करने पर दोष नहीं लगता था। इसी प्रकार बड़े भ्रात के संन्यासी हो जाने पर छोटे भाई का विवाह कर लेना भी दण्डमुक्त एवं पापरहित माना जाता था।[६]

आहार, और पेय पदार्थो के क्षेत्र में भी यही जातिगत प्रभाव विद्यमान था। यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को कोई अपेय पिला देता था, तो ऐसे अपराधी व्यक्ति पर ब्राह्मण को अपेय पिलाने के कारण उत्तम साहस का, क्षत्रिय को पिलाने पर मध्यम साहस, वैश्य को पिलाने का प्रथम साहस का तथा शूद्र को पिलाने पर ५४ पण का अर्थदंड देय होता था।[७]

महापाप के अपराधी क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को जहां सम्पूर्ण सम्पत्ति हरण के दण्ड से दण्डित किया जाता था, वहीं पर ब्राह्मण को केवल मध्यम साहस का दण्ड ही पर्याप्त समझा जाता था।[८] न्याय दंड की असंगति आगे चल कर अहितकर सिद्ध हुई। स्मृतिकारों द्वारा अपनाया गया यह भेदभाव समूचे जनसमाज को ध्वस्त कर बैठा।

---

१ गौ.ध.सू. २.३.२, ३

२ गौ.ध.सू. २.३.४

३ गौ.ध.सू. २.३.५

४ गौ.ध.सू. २.३.१२ : अषटापाद्यंस्तेयकिल्विषं शूद्रस्य। गौ.ध.सू. २.३.१३ : द्विगुणोत्तराणीतरेषांप्रतिवर्णनम्॥ येव येनदोषेण शूद्रस्यदण्डो भवति अर्भृतः। तेन् चेत् क्षत्रविप्राणं द्विगुणोद्विगुणो भवेत्॥ कात्या.मतसंग्रह ३५५

५ महा.शा.पर्व १५.९

६ महा.शा.पर्व १९, ३४

७ अर्थशा. ४.३

८ मनु. ९.२४१, २४२

पुनर्विचार

न्याय को लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर न्यायाधीश घोषित करने से पूर्व अपने तैयार व अघोषित निर्णय पर एक बार पुनः विवेकपूर्ण विचार करते थे। उनकी यह प्रक्रिया पुनर्विचार कहलाती[१] थी।

कहीं ऐसा न हो कि मित्र या श्रेष्ठ पुरुष तो मारा जाये, तथा अपराधी या शत्रु बच निकले अथवा दण्डमुक्त रह जाये; इस भावना से प्रेरित होकर न्यायधीश नृप निर्णय देने से पूर्व उस पर पुनविर्चार करते थे। बलपूर्वक या भयपूर्वक निष्पन्न व्यवहारों पर भी पुनः विचारकरने की परम्परा थी।[२]

मनु. ने पुनः विचार को अन्तिम निर्णय कह कर इसका परीक्षण किया था।[३] वृद्ध, अल्पवयस्क, रुग्ण, व उन्मत्त पक्षों[४], विस्तृत दान एवं विक्रय संबंधी प्रक्रिया पर पुनः विचार किया जाता था।[५] इस के अतिरिक्त विवाद न्याय प्रक्रिया मे अनुपस्थित रहने वाले उत्तर पक्ष के उपस्थित हो जाने पर भी पुनर्विचार करना पड़ता था।[६] भले ही पूर्वपक्ष को जयपत्र भी दे दिया गया हो। परन्तु अपने ही प्रमाणों से पराजित होने वाले व्यक्ति के विषयों पर पुनर्विचार नहीं होता था।[७]

अल्पव्यस्क तथा बीमारी के कारण अनुपस्थिति एवं राष्ट्रीय हित के कार्यो में संलग्नता के कारण अनुपस्थिति पक्ष के निर्णय पर पुनःविचार-तर्कपूर्ण माना जाता था।[८] पराजित पक्ष को यह संशय हो उठे कि निर्णय में पक्षपात हुआ है, तो वह दन्ड का दुगुना अग्रिम धन प्रत्याभूति (जमानत) देकर अपने निर्णय का पुनर्निरीक्षण कराने के लिये सक्ष्म व अधिकृत था।[९] नृप स्वयं में भी किसी भी अभियोग का पुनः निरीक्षण कर सकता था।[१०]

इस प्रकार न्याय की पवित्रता की स्थापना के निमित्त अभियोग प्रक्रिया तथा अधोषित निर्णय पर पुनः विचार करना आवश्यक समक्षा जाता था।

---

१ ऋग्वेद १.८.३

२ याज्ञ. २.३१

३ मनु. ९.२३३

४ मनु. ८.१६३; अर्थशा. ३.१; याज्ञ. २.३१; परमिताक्षरा

५. याज्ञ. २.३२

६ कात्यायन (उद्धृत व्यवहारनिर्णय के पृष्ठ १०० पर रंगास्वमिसंस्करण)

७ नारद २.४०

८ याज्ञ. २.३१, ३२; नारद १.४३

९ याज्ञ. २.३०६; नारद १.६५

१० याज्ञ. २.३०६ पर मिताक्षरा

स्मृतिकालीन विवादों अथवा अपराधों पर दण्डव्यवस्था का नियोजन निम्नवत् रहा था।

१. वाक्पारुण्य : कठोरवचन

अपशब्दों के माध्यम से किसी अन्य को मानसिक कष्ट देना या किसी की व्याजस्तुति करना, तथा व्यंग्य रूप से उपहास करना, देश, जाति, कुल का उपहास करना, हुंकार करना, लोकगृहित अनुकृति करना वाक्पारुण्य कहलाता था।[१]

वाक्यपरुण्य शत्रुता की मूल समझी जाती थी।[२] फलतः कटुवचन उच्चारण निषिद्ध एवं पापपूर्ण कृत्य माना जाता था।[३] स्मृतिकारों के मत से वाक्पारुण्य को निम्न तीन कोटियों में विभाजित किया गया था।[४]

१. निष्ठुर — झिड़की देना, निष्ठुर, मूर्ख या दुष्ट कहना
२. अश्लील — अपशब्द कहना (मां-बहिन को गाली)
३. तीव्र — भीषण आरोप लगाना, झूठा दोषारोपण करना।

दण्ड

सत्य या असत्य वचन द्वारा आक्षेप लगाने पर साढे बारह पण का अर्थदण्ड, बहिन की गाली देने पर पच्चीस पण, ब्राह्मण को कटुवचन कहने वाले क्षत्रिय व वैश्य पर क्रमशः एकसौ पण तथा एकसौपचास पण का अर्थदण्ड, ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय, वैश्य शूद्र को कटुवचन कहने पर वाक्पारुण्य के अपराधी ब्राह्मण को क्रमशः पचास पण, पच्चीस पण, साढेबारह पण अथवा बारह पण का दण्ड दिया जाता था। वाणी द्वारा आंख फोडने, गर्दन मरोड़ने, बांह उखाड़ने, जंघा तोड़ने की धमकी देने वाले पर एक सौ पण, नाक-कान-हाथ-पैर तोड़ने की ताड़ना देने वाले को ५० पर्ण अर्थदण्ड, मिथ्या दोषारोपण करने पर प्रथम साहस का अर्थदण्ड देने की परम्परा रही थी।[५]

---

१ नारद १८.१; याज्ञ. २.२०४; महा.सभापर्व ६६.६७; अनु.पर्व १०४.३१ अर्थ. ३.१८; अग्निपु. २५३; उ.पर्व ३४.७४, ७८ कात्या.मतसं. ६१०; मनु. ८.२६६; परा.स्मृ. १.३३

२ महा.सभापर्व ६४.५

३ महा.शा.पर्व ६६.६, ७; उ.पर्व ३३.५४; ३४.७९, ८०; शा.पर्व २९९८, ९ अनुशा.पर्व १०४.३१, ३६

४ नारद १८.२, ३; अग्निपुराण अ. २५८

५ अग्निपुराण अ. २५७; याज्ञ. २.२०५, २०६, २०८; मनु ८.२६८, २७४; महा.शा.पर्व ९०.३५

अपंग अर्थात् काने व लंगड़े को काना व लंगड़ा कहने वाले को तीन पण, या एक कार्षापण; स्वस्थ वित्त व सम्पूर्ण अंग वाले पर विकलांगता के आरोपणकर्ता को छः पण, काने, लंगडे पर व्यंग्य कर्ता अथवा ब्याजस्तुति कर्ता को बारहरण दण्ड, परनारी का उपहास करने वाले को चौबीस पण के अर्थदण्ड से दंडित किया जाता था। शूद्र निंदक चाण्डाल पर तीन पण, वैश्यनिन्दक शूद्र पर छःपण, क्षत्रियनिन्दक वैश्य पर नौ पण ब्राह्मण निन्दक क्षत्रिय पर बारह पण अर्थदण्ड देय होता था। परन्तु यदि ब्राह्मण द्वारा चाण्डाल-शूद्र-वैश्य व क्षत्रिय की निन्दा की जाती तो ऐसे निन्दक ब्राह्मण पर जातिगत प्रभाव को ध्यान में रखते हुए क्रमशः २ पण, ४ पण, ६ पण, एवं ८ पण दण्ड देने का विधान रहा था।[१] स्व देश व ग्राम की निन्दा करने वाले निन्दक को प्रथम साहस (२५० पण) जाति अथवा संघ-निन्दक पर मध्यम साहस (५०० पण); देवता व देवालय, राजा या विद्वान की निन्दा करने वाले को उत्तम साहस (१००० पण) का अर्थदण्ड भुगतना पड़ता था।[२]

माता-पिता-गुरु को निन्दा करने वाले को जिह्वा-छेदन का दण्ड दिया जाता था।[३] वर्णों की प्रतिलोमता का दोष लगाने पर व तिगुना दण्ड (याज्ञवल्क्य २.७); कटु बोलने वाले शक्तिहीन पर दस पण; शक्तिवान् के कटु बोलने पर एकसौ पण का अर्थदण्ड स्मृतियुग में प्रचलित था।[४] विकलेन्द्रिय तथा रोगी पर असत्य निन्दा-परक वचनों से आक्षेप करने पर साढेतेरह पण अर्थदण्ड (याज्ञवल्क्य २.०४); ब्रह्महत्या का मिथ्या दोष लगाने पर मध्यम साहस तथा गौवध दोष लगाने पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था।[५] अनृत आख्यान पर जिह्वाछेदन का दण्ड प्रचलित रहा था।[६]

वाक्पारुण्य की परिधि मे दण्डव्यवस्था पर वर्णव्यवस्था का विशिष्ट प्रभाव व्याप्त था। उदाहरणतः ब्राह्मण का अपमान करने वाले क्षत्रिय, वैश्य, व शूद्र को क्रमशः सौ पण, डेढ़ सौ पण, व शारीरिक दंड दिया जाता था।[७] परन्तु सवर्ण द्वारा सवर्ण का अपमान करने पर १२ पण दण्ड दिया जाता था।[८]

---

१ अर्थशास्त्र ३.१८; विष्णु ५.२७; मनु. ८.२७; नारद १८.१८

२ स्वदेशग्रामयोः पूर्वमध्यमं जातिसंख्योः। आक्रोशाद्देव चैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति॥ अर्थ.अधि.३ अध्याय-१८.१ याज्ञ. २.२११

३ अर्थशा. ४.११; मनु. ८.२७०

४ याज्ञ. २.२०७ व २०९

५ याज्ञ. २.१०

६ कात्या.मतसं. ६१०

७ मनु. ८.२६७

८ मनु. ८.२६९

शूद्र द्वारा विद्वान, ब्राह्मण, सैनिक (क्षत्रिय) व्यापारी का अपमान करने पर जिह्वाछेदन का दण्ड[१]; द्विजों का अपमान करेन पर, उस शूद्र के मुख में तप्त लोहे की कील ठोकने का दण्ड[२]; शूद्र द्वारा अहंकारवश विद्वान ब्राह्मण को उपदेश देने का दुस्साहस करने पर शूद्र के कान व मुख में गरम तेल डालने का दण्ड[३] देय होता था।

सवर्ण यदि अहंकारवश किसी का अपमान करता था तो दो सौ पण का अर्थदण्ड[४]; माता-पिता-गुरु के लिये मार्ग न छोड़ने पर भी एक सौ पण दण्ड[५] ब्राह्मण का अपमान करने वाले क्षत्रिय पर मध्यम साहस का दण्ड, तथा क्षत्रिय का अपमान करने वाले ब्राह्मण पर पूर्वसाहस का दण्ड, स्वजाति का अपमान करने पर शूद्र व वैश्य को जिह्वाछेदन दण्ड के साथ सभी दण्ड दिये जाते थे।[६]

२. दण्ड पारुण्य

शारीरांग पर आहत करना, शरीरांग को क्षति पहुंचाना, लड़ाई झगड़ा, मार पीट करना, आक्रोशपूर्ण धमकी देना, शस्त्र, लाठी से प्रहार या आक्रमण करना, पत्थर, ढेला, मिट्टी, धूल, कीच आदि फेंकना, दंड पारुण्य कहलाता था।[७]

पशुधन एवं वनस्पति (वृक्ष) को अकारण पीड़ा पहुंचाना या वृक्ष काटना भी दण्डपारुण्य की परिसीमा में समाविष्ट किया गया था।[८]

दण्डपारुण्य का परीक्षण तीन भागों[९] में रखकर किया जाता था।

१. प्रथम दण्डपारुण्य — दण्डपारुष्य के सम्बन्ध में की गई प्रत्येक तैयारी या स्पर्श करना।

२. मध्यम दंडपारुण्य — आक्रमण कर देना।

---

१ मनु. ८.२७०; आप.ध.सू. २.१०.२७.१४

२ मनु. ८.२७१

३ मनु. ८.२७२

४ मनु. ८.२७३

५ मनु. ८.२७५

६ मनु. ८.२७६, २७७

७ नारद १८.४; अर्थशा. ३.१९; अग्निपुराण अ. २५८; मनु. ८.२७९ से २८७; याज्ञ. २.१२; महा. आदिपर्व १६०.७; हस्तपाषणलगुडैर्भस्मकर्दमपांशुभिः। आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारुण्यमुच्यते॥ बृह.उद्.वि.रत्नाकार, पृ. २५९ याज्ञ. २.२१२

८ याज्ञ. २.२१२

९ नारद १८.५, ६; अर्थशा. ३.१९

३. उत्तम दंडपारुण्य — मारना, पीटना, क्षतिपहुचाना, रक्तनिकाल देना, हिंसा करना आदि ।

न्यायालय में पूर्वपक्ष द्वारा किये गये निवेदन पर कि, "मुझे पीटा गया है", इस बात की प्रामणिकता को चिह्न, युक्तियों एवं दिव्य के आधार पर परखा जाता था । निश्चय करते समय यह भी सावधानी रखी थी कि कहीं कपटपूर्ण तरीके से घाव के चिह्न तो नहीं बना लिये हैं ।[1]

स्मृतिकार जीवहिंसा को निषिद्ध मानते थे । स्त्री-बालक-तपस्वी की हिंसा करना पाप व अपराध था । व्यर्थ में पशुवध निन्दनीय समझा जाता था । सर्वथा हिंसा का प्रतिरोध किया जाता था । परन्तु दुष्ट पुरुषों की हिंसा करना प्रमाणिक व न्यायसंगत रहा था । प्राणियों की हिंसा न करना सर्वश्रेष्ठ धर्म माना जाता था । प्रार्णरक्षार्थ, हिंसा के प्रतिरोध निमित्त यदि असत्य भी कहना पड़ता तो ऐसा असत्य धर्म माना जाता था । व्यर्थ में वृक्ष व अन्य वनस्पति का काटना भी हिंसा की कोटि में रखकर परीक्षण किया जाता था । पशु-पक्षी वध एवं वनस्पति विनाश निन्दनीय अपराध रहा था ।[2]

दण्ड

जिस अंग को क्षति पहुचाई जाती थी, उस क्षति पहुंचाने वाले का वही अंग काटकर पृथक् करने का दण्ड या वध दण्ड; अथवा पशु हिंसा करने पर मृत्युदण्ड, ब्रह्महत्या के अपराधी के भाल पर नरमुंड माल का चिह्न गुदवाने का दण्ड दिया जाता था ।[3] राख, कीच, धूल के फेंकने पर तीन पण का दण्ड अथवा दस पण का दण्ड; थूक एवं मल एवं अन्य अपवित्र वस्तुयें फेंकने पर ६ पण से २० पण का दण्ड; मस्तक पर अपवित्र वस्तु लगाने पर ४८ पण का अर्थदण्ड; ब्राह्मण को व्यथित करने पर अंगछेदन (जिस अंग से पीड़ा या व्यथा दी गई है) का दण्ड; हाथ-पैर-वस्त्र या बाल पकड़ कर खीचनें, घसीटने या पैरों से आघात पहुंचाने पर ६ पण से एकसौ पण तक का दण्ड; हाथ-पैर तोड़ने तथा नाक-कान, काटने, आंख व जिह्वा को क्षति पहुंचाने, भुजा या कन्धा तोड़ने पर जमीन पर घसीटने पर, पटक कर बैठने पर, मुख

---

१ अग्निपुराण अ. २५८

२ ब्रह्मवध्यापरं पापं ॥ महा.आ.पर्व १६०.७; वनपर्व २०७.३२; शा.पर्व १५.४९; ३४.२८; १३५.१३, १४; मनु. ८.२८१, २८५, २९७; प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान्मतोगम । अनृतां वा वदैद्वाचं न तु हिंस्यात्कथनं ॥ कर्णपर्व अ. ६९.२३; ऋग्वेद १.४४.२; १.११२.१३; अथर्व. ३.१९; ४.१०; याज्ञ. व्य.अ. २२६, २२७, २२८

३ अग्निपु अ २२७; अर्थशा. २.२९; मनु. ८.२७९, २८२; गौ. १२.१ अर्थ. ३.१९; याज्ञ. २.२१५

पर काजल पोतने पर पांचसौ पण का अर्थदण्ड देकर दण्डपारुष्य को नियंत्रित किया जाता रहा था ।[१] ब्राह्मण पर प्रहार कर्ता शूद्र को अंगछेदन (जिस अंग से प्रहार किया है, उस अंग को काटने) का दण्ड, मारने हेतु हाथ उठाने पर तीन पण् से बारह पण का अर्थदण्ड; पैर से मारने पर चौबीस पण का अर्थदंड नुकीले शस्त्र से प्रहारकर्ता पर प्रथम साहस (२५० पण) का दण्ड, तीक्ष्ण व प्राणिनाशक शस्त्र से मारने पर मध्यम साहस का दन्ड लाठी, ढेले, पत्थर, रस्सी से मारने पर, २४ पण से ४८ पण का दण्ड; अधमरा या अपंग करने पर प्रथम साहस का दण्ड तथा स्वस्थ होने तक पूर्ण व्यय वहन करने का दण्ड; अनेक व्यक्तियों के द्वारा उक्त अपराध करने पर प्रत्येक पर उकृदन्ड का दुगुनादन धक्का देकर दरवाजा हिलाने परतीन पण दण्ड; तथा किवाड़ तोड़ने पर ६ पण दण्ड; किवाड़ व दरवाजा दोनों को तोड़ने पर ११ पण दण्ड तथा दरवाजा व किवाड़ की क्षर्तिपूर्ति का दण्ड देय होता था ।[२] लाठी से छोटे पशुओं को मारने पर १ पण दन्ड, उपवन के फल, फूल नष्ट करने पर ९ पण दन्ड, वृक्ष की शाखा तोडने पर १४ पण दन्ड, वृक्ष काटने पर प्रथम साहस से मध्यम साहस का दन्ड दिया जाता था[३] परन्तु सीमानिर्धारण के वृक्ष, देवालय, राजचिह्नित वृक्ष, राजभवन के वृक्ष को क्षति पहुंचाने पर उक्त वर्णित दण्ड का दुगुना होता था; अर्थात् फल, फूल, पत्ते, पुष्प नष्ट करने पर १८ पण दण्ड; शाख तोड़ने पर २८ पण दण्ड; आधा पेड़ काटने पर मध्यम साहस का दण्ड; पूर्ण पेड़ काटने पर उत्तम साहस का दण्ड निश्चित किया जाता था ।[४] परन्तु याज्ञवल्क्य ने फलदार वृक्षों के नष्टकर्ता को ८० पण का दण्ड; न्यूनवृक्षों के नष्टकर्ता को २० व ४० पण का दण्ड; धार्मिक स्थानों के वृक्ष (पीपल आदि) काटने पर १६० पण के अर्थ दण्ड से दण्डित करने को कहा था ।[५]

छोटे पशुओं की हिंसा करनेपर दोसौ पण दण्ड; मृग तथ पक्षियों की हिंसा करने पर पचास पण दण्ड; गधा, भेड़, बकरी, की हिंसा पर पांच मासे चांदी का दण्ड; कुत्ता व सुअर के मारने पर एक माष का दण्ड देने की परम्परा स्मृतियुग में व्यवस्थित थी ।[६] परन्तु याज्ञवल्क्य का मत पशुहिंसा को लेकर कुछ भिन्न था । उदाहरणतः

---

१ अग्निपुराण अ. २५८; अर्थशा. ३.१९; याज्ञ. २.२१७; २१९; २२०; मनु. ८.२८२

२ अर्थ. ३.१९; मनु. ८.२७९, २८०; याज्ञ. २.२१५, २१६, २१८, २२१, २२२; वि.ध.सू. ५.७३

३ अर्थ. शा. ३.१९, मनु. ८.२८५

४ सोमवृक्षेषु चेत्येषुद्रुमेष्वालक्षितेषु च । त एव द्विगुणदंडाः कार्यराजवनेषु च ॥ अर्थ. ३.१९.१

५ याज्ञ. २.२२७, २२८

६ मनु. ८.२९७, २९८

छोटे पशुओं को मारने या उनके अंग काटने पर दो पण से आठ पण तक का दंड तथा पशुमूल्य मूल्यवान पशुओ को क्षति पहुचाने पर १६ पण की व्यवस्था रही थी।[१]

मुद्गर आदि से दीवार तोड़ना, छेद करना, या दीवार गिराने पर क्रमशः पांच-दस-बीस पण का अर्थदण्ड[२]; दूसरे के घर में प्राणघातक द्रव्य व जीव फेंकने वाले पर १६ पण दण्ड[३]; मुर्गे, न्योले, विलार पालतु कुत्ते, पालतु सुअर की हिंसा करने पर ५४ पण का दण्ड या अपराधी के नाक का अग्रभाग काटने का दण्ड; मृग व शुकादि पक्षियों की हिंसा पर २०० पण का दण्ड निर्धारित था।[४]

काम-क्रोध या पापकर्म से प्रभावित होकर आत्महत्या करने वाले पुरुष व स्त्री के पैर में रस्सी बांध कर राजमार्ग पर घसीटा जाता था; अथवा शूली पर चढ़ा कर मृत्युदण्ड दिया जाता था। उनका दाहसंस्कार करना जलांजलि देना, प्रेत क्रिया करना, निषिद्ध था। यदि कोई प्रेत क्रिया करता तो उसे जातिच्युत कर, अध्यापन व विवाह आदि कार्यों से वंचित कर दिया जाता था।[५]

स्त्री-पुत्र-दास-भृत्य-अनुज एवं शिष्य द्वारा अपराध होने पर रस्सी एवं बांस की छड़ी से ताड़न का दण्ड[६] हिंसावृत्ति को रोकनेहेतु मांस आहार का पूर्णतः निषेध[७] हिंसक के माथे पर सिरहीन पुरुष का चिह्न गुदवा दिया जाता था।[८] स्त्री-पुरुष की हत्याकरने वाले को प्राणदण्ड[९], गुरु, बालक, वृद्ध एवं ब्राह्मण तथा विद्वान, यदि अपराधी या आततायी होते थे तो सबको अपराधनुसार दण्ड; एवं मृत्युदण्ड तक देने का विधान था।[१०] अभक्ष्य मांस को विक्रय करने वाले अपराधी का बांया हाथ व दोनों पैर काटने का दण्ड था अथवा ९०० पण का निष्क्रय अर्थदण्ड, मनुष्य का मांस बेचने पर प्राणदण्ड, श्रेष्ठ मानव को ताड़ित व तापित करने एवं नृपरथ, नृपअश्व पर सवारी करने वाले को अपराधी माना जाता था। उसका एक हाथ एवं एक पैर काटने का दण्ड अथवा सात सौ पण का निष्क्रय दण्ड[११]; श्रेष्ठ

---

१ याज्ञ. २.२२५, २२६; मनु. ८.२८६

२ याज्ञ. २.२३

३ याज्ञ. २.२२४

४ अर्थ. ४.१०

५ अर्थ. ४.७, ११

६ मनु. ८.२९९

७ याज्ञ .१.१७२-१८१; मनु. ५.११-१८; ४८, ५६

८ मनु. ८.२३७

९ मनु. ९.२९०; अर्थ. ४.११

१० मनु. ८.३५०

११ अर्थ. ४.१०

पुरुषों के आसन पर बैठने वाले नीच पुरुष की कमर में दाग देकर देश निष्कासन का दण्ड या अपराधी के नितम्ब वाले भाग के मांस को कटवा दिया जाता था।[१]

अधम पुरुष द्वारा श्रेष्ठ पुरुष के ऊपर थूकने, पेशाब ड़ालने, वायु (पाद) निकालने पर, अधम पुरुष को क्रमशः दोनों ओष्ठछेदन लिंगेन्द्रि छेदन, गुदा छेदन का दण्ड[२] ब्राह्मण या श्रेष्ठ पुरुष के बाल, ग्रीवा, पैर, दाढ़ी, एवं अण्डकोष पकडने वाले शुद्र या अधम पुरुष पर दोनों हस्त-छेदन का दण्ड[३] किसी व्यक्ति के लिंग एवं अण्डकोष्ष पकडने वाले अपराधी को संडासी से मांस नोच कर मृत्युदंड दिया जाता था।[४]

त्वचाछेदन, रक्तनिकालने पर सौपण दण्ड; मांसकाटने पर छःनिष्क का दण्ड हड्डी तोड़ने वाले को देश निष्कासन का दण्ड[५]; तथा शारीरिक क्षति पहुंचाने वाले को क्षतिग्रस्त का सम्पूर्ण व्यय वहन करने का दंड[६] लड़ाई व संघर्ष करके किसी व्यक्ति को मारने वाले अपराधी को विचित्रवध का दण्ड; शस्त्र प्रहार से मारने पर शुद्ध वध दण्ड, शास्त्रप्रहार से १५ दिन के भीतर मृत्यु होने पर अपराधी को उत्तम साहस वा दण्ड, एक मासान्तर पर मरने पर अपराधी को मध्यमसाहस का दण्ड व चिकित्सा व्यय का दण्ड, दिया जाता था। शस्त्र से प्रहार कर्ता को उत्तम साहस का दण्ड; बलदर्प से प्रहारकर्ता को हस्तछेदन का दण्ड; क्रोध वश प्रहारकर्ता पर २०० पण का दण्ड, प्रहार से वध कर्ता को प्राणदण्ड, प्रहार से स्त्रीगर्भ गिराने पर उत्तम साहस का दण्ड; औषधि आदि से गर्भपात कराने पर मध्यम साहस दण्ड; माता-पिता-पुत्र-भ्राता-आचार्य तथा तपस्वियों की हत्या करने वाले अपराधी के शरीर को जिंदा अग्नि में जलाने का दण्ड, माता-पिता का शरीर नरवादि से नोच डालने परं, उस अंग को पृथक् कर देने का दण्ड जिससे अकृत्य किया है। पति, गुरु, स्वसंतान की हत्या करने वाली स्त्री को गौओं के खुर से नीचे दबवाकर मार ड़ालने का दण्ड; दण्डपारुण्य को नियन्त्रित करने हेतु दिया जाता था।[७]

---

१ मनु. ८.२८१; नारद १८.२६-२८

२ मनु. ८.२८२

३ मनु. ८.२६३

४ अर्थ. ४.११

५ मनु. ८.२८४; नारद १८.२९

६ मनु. ८.२८७

७ कलहेध्नतः पुरुषं चित्रोघातः। सप्तराजस्यान्तः मृते शुद्धवधः। पक्षस्यान्तरुत्तमः। मासस्यान्तः पंचशतःसमुत्थानव्ययश्च। शस्त्रेणप्रहरत उत्तमोदण्डः। मदेनहस्तवर्धः। मोहेन द्विशतः। वधे वधः। प्रहारेण गर्भपातयत उत्तमोदण्डः। भेषज्येनमध्यमः। परिक्लेशेन पूर्वः साहसदण्डः। — अर्थशा. ४.११ अथर्व. ११.२.२१

शारीरिक क्षति पहुंचाने वाले अपराधी को, औषध, भोजन, एवं अन्य व्ययों की व्यवस्था तब तक करनी पड़ती थी, जब तक आहत व्यक्ति स्वस्थ न जाये।[१] आततायियों को नष्ट करने, प्राणभय से अपनी रक्षा करने, धार्मिक कार्यों को नष्ट करने वालों, ब्राह्मण व स्त्री की रक्षा करने पर होने वाली हिंसा अपराध की कोटि में नहीं मानी जाती थी। आग लगाने वाले, सार्वजनिक व राजकीय सम्पत्ति को क्षति पहुंचाने वाले को मार ड़ालना अपराध नहीं था।[२]

३. साहस

'सहस्' शब्द से साहस की व्युत्मत्ति मानी ज़ाती है[३]। सहस् का अर्थ है 'बल'। अर्थात् जिन कार्यो का सम्पादन बल पूवक या शक्ति अभिमान से किया जाये तो उन्हें साहस कहा जाता था। इस प्रकार, स्पष्ट रूप में, कहा जा सकता है कि जनसमूह या स्वामी, या अन्य जनों की उपस्थिति में बलपूर्वक किया गया कार्य साहस की कोटि में आता था।[४] साहस मे शक्ति व हिंसा का प्रयोग निहित रहने के कारण, इसे निषिद्ध माना जाता था, क्योंकि साहसपूर्ण कृत्य, दुस्साहसिक अकृत्य माना जाता था। दुःखों की मूल होने के कारण साहस अपने में गंभीर अपराध होता था।[५]

साहस के अन्तर्गत लूट, खसोट, डाका, अशिष्ट आचरण व कृत्य बलपूर्वक, स्त्रीग्रहण, हत्या, बलात्कार की गणना होती थी। शेष जिन कृत्यों में साहस का योग सन्निहित होता था, वे सब साहस अपराध कहलते थे। साहस की लघुता एवं गुरुता को दृष्टिगत् रखते हुए स्मृतिकारों ने साहस का विभाजन निम्न अंकित प्रकार से किया था।[६]

१. प्रथम साहस — विनाश, वाक्पारुण्य, उपवन, वृक्ष, फल, मूल, पुष्प को तोड़ना, नष्ट करना, आदि।

२. मध्यम साहस — वस्त्र, भोजन, बर्तन एवं सार्वजनिक उपयोग की वस्तु को नष्ट करना आदि।

---

१ अर्थ. ३.१९; मनु. ८.२८७; याज्ञ. २.२२; वि.ध.सू. ५.७५-७६

२ गौतम ७.२५; बौधायन २.२८०; मनु. ८.३४८-३४९; याज्ञ. २.२२; २.२८६; ३.२२७

३ सहसाक्रियते कर्मयत्किंचिद्बलदर्पित। तत्साहसनितिप्रोक्तं सहोबलमितोच्यते॥ नारद १७.१

४ अग्निपुराण अ. २५३; अर्थ. ३.१७; नारद १७.१; सामान्यद्रव्यप्रसभहरणात्साहसंस्मृतम्। याज्ञ. २/३०; स्यात्साहसंत्वन्वयवत्प्रसभं कर्मयत्कृतम्॥ मनु. ८.३३२

५ मासाहसं। सभापर्व, ४४.२९; वनपर्व २४६.२२; मनु. ८.३४५; याज्ञ. २.२३०

६ नारद १७.३-६

३. उत्तम साहस — शास्त्रप्रहार, विषदेकर मारना, प्राणियों को क्लेश देना, पर नारी के साथ बल प्रयोग करना ।

दण्ड व्यवस्था

लुटमार करने वालों की निन्दा कर वध दण्ड देना पुण्य-कार्य समझा जाता था ।[१] साहस अपराधियों का अन्वेषण मुंड अथवा जटाधारी गुप्तचरों के द्वारा कराया जाता था ।[२] दूसरों के द्रव्यों का अपहरण करने पर वस्तुमूल्य का दुगना अर्थदण्ड, लूटपाट करने पर मूल्य का चौगुना दण्ड, इसी प्रकार लूटपाट के प्रेरक भर भी दुगुना व चौगुना दण्ड, धोबी द्वारा धुलाई निमित्त आये वस्त्रों को स्वयं पहनने, दूसरों को पहनने देने या किराये हेतु देने पर ३ पण दण्ड, मिथ्या चिकित्सा करने, तथा दूसरे मनुष्यों को रोककर बन्द रखने वाले पर प्रथम साहस से उत्तम साहस का दण्ड[३] दिया जाता था ।

साहस के अपराधी को अपराधनुरुप दण्ड दिया जाता था । छोटे द्रव्य (फल, फूल, बाग, कन्द,) पकवान का ब्लात अपहरण करने पर १२ पण से २४ पण दण्ड, छोटे सामान, जैसे पशु लौह, काष्ठ, रस्सी, पर २४ पण से ४८ पण दण्ड; पीतल, तांबा, कांसा, हाथीदांत के सामान का ब्लात् अपहरण करने पर ४८ पण से ९६ पण तक दण्ड; बडे पशु, मानव, खेत, गृह, नकद धनराशि, सवर्ण के साहस पर २०० पण से ५०० पण तक दण्ड, स्त्री पुरुष को बाध्य कर बांधने या कैदी को जबरन कारागार से छुड़ाने के प्रयास व कृत्य पर ५०० पण से १००० पण दण्ड, प्रतिज्ञा का साहस करने पर उक्त दण्ड का दुगुना दण्ड, अन्य जनों को साहस करने में प्रेरणा देने वालों पर चौगुना अर्थदण्ड देय होता था ।[४]

किसी वस्तू को साहसपूर्व नष्ट करने पर नष्ट वस्तु बराबर अर्थदण्ड, चमड़ा, मिट्टी, काष्ठपात्र, फल फूल नष्ट करने पर वस्तु के मूल्य का पांचगुना दण्ड[५]; चिकित्साशास्त्र में अनभिज्ञ होते हुए स्वार्थवश चिकित्सा करने पर पूर्व साहस का दण्ड, जल में उतरने के निमित्त लगाई गई सीढ़ी, राष्ट्रध्वज, तोलने के बाट एवं मापने के पैमाने आदि वस्तुओं को तोड़ने पर पांचसौ पण दण्ड देने का विधान था ।[६]

---

१ महा.उ.पर्व १९.३०, ३१, ३३

२ अर्थ. १.१३; ३.१५.१

३ अग्निपु.अ. २५६; अर्थ. ३.१७; याज्ञ.२.२३०, २३१, २३८

४ अर्थ. ३.१७; याज्ञ. २.२४३

५ मनु. ८.८८, २८९

६ मनु. ९.२३४, २८५; याज्ञ. २.२४२ व २४४

द्वार तोड़ने पर ५० पण दण्ड, वर्णविपरीत कर्मकर्ता, दासी का गर्भ पात कर्ता, निर्दोष परिवार को त्यागने वाले पर सौ पण अर्थदण्ड लगता था।[१] पिता-पुत्र मध्य उत्पन्न विवाद में साक्षी देने पर तीनपण दण्ड, मध्यस्थ बनने पर आठगुना दण्ड, तोल के बाटों या सिक्कों में धोखा करने पर उत्तम साहस का दण्ड, खोटे सिक्कों को खरा एवं शूद्र सिक्कों को खोटा बतलाने पर उत्तम साहस का दण्ड खाद्यान्नों में मिलावट करने पर १६ पण दण्ड, अशुद्ध व न्यून माल को शुद्ध व उत्तम बतलाकर विक्रय करने पर मूल्य का आठ गुना दण्ड, बनावटी माल को शुद्ध बतलाकर बेचने पर दो सौ पण दण्ड, बनावटी माल को शुद्ध बतलाकर विक्रय करने पर मूल्य का आठ गुना दण्ड, बनावटी माल को शुद्ध बतलाकर बेचने पर दो सौ पण दण्ड, राज्य द्वारा निर्धारित मूल्य का अतिक्रमण करने वालों पर उत्तम साहस का दण्ड, कम मूल्य की वस्तु को अधिक मूल्य पर बेचने पर भी उत्तम साहस का दण्ड प्रमाणित रहा था।[२]

साहस पूर्णतः निषिद्ध था। साहस के अपराधी को नियन्त्रित करने हेतु कभी-कभी वधदण्ड, अंगछेदन दण्ड भी दिया जाता था।[३] जानबूझ कर बलपूर्वक हत्या करने पर प्राणदण्ड, परन्तु हिंसक ब्राह्मण को देश निष्कासन का दण्ड[४]; बनावटी राजानुशासन बनाने वाले, राजादेश के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित करने, स्त्री-बाल-ब्रह्महत्या करने पर प्राणदण्ड[५] गाड़ी में जूते बैल की नाथ टूटने पर, गाड़ी के अचानक उलट जाने पर, गाड़ी का पहिया या धुरा टूट जाने पर बैलों की रास टूट जाने आदि की विपरीत दशाओं में होने वाली हानि या हिंसा या सम्पत्ति नाश पर कोचवान दण्डमुक्त अथवा २०० पण दण्ड[६] से दण्डित होता था। कोचवान व्यर्थ में मार्ग अवरुद्ध करने या असावधानी पूर्वक गाडी हाकने से होने वाली दुर्घटना के कारण दण्डित होना पड़ता था।[७]

वृक्षों, पोधों एव वृक्ष-शाखाओं, पुष्पों, फलों, को नष्ट करने पर, नष्टवस्तु की पवित्रता व उपयोगिता को ध्यान में रख कर साहस अपराधी को दण्डित किया जाता था।[८] साहस में प्रोत्साहन देने पर अपराधी को दुगुने से चौगुने दण्ड तक दण्डित किया जाता था।[९]

---

१ याज्ञ. २.२३३, २३६, २३७

२ याज्ञ. २.२३९-२५०

३ कात्या.मतां. २२५,२२६

४ मनु. ९.२४१

५ मनु. ९.२३२, २४२; वि.ध.सू. ९५-११

६ मनु. ८.२९१, २९२; याज्ञ. २.२९८, २९९ अर्थ ४.१३

७ मनु. ८.२९३

८ मनु. ८.२८५; याज्ञ. २/२७, २२९; अर्थ. ३.१९; विष्णु ५.५५-५९

९ याज्ञ. २.२३१; अर्थ. ३.१७

४. स्तेय : चोरी

सम्पत्ति के वास्तविक स्वामी की सम्पत्ति को चुराना, छीनना स्तेय कहलाता था।[1] अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में; रात्रि या दिन में किया गया परद्रव्यहरण स्तेय कहलाता था।[2] स्तेयवृत्तिनिन्दनीय कृत्य समझा जाता था, फलतः प्रत्येक दशा में स्तेय निषिद्ध रहा था।[3]

धरोहर हड़पने, जानते हुए दूसरे की वस्तु को अपनी बताने, अनुचित रूप में सम्पत्ति का आदान-प्रदान करने, चोर को संरक्षण प्रदान करने, वस्तु को अनुचित मूल्य पर क्रय-विक्रय करने, वस्तु में मिलावट करने सेंध लगाने, वाले कर्मों को स्तेय माना जाता था।[4]

स्तेय मुख्यतः तीन प्रकार का होता था।

१. साधारण या न्यून स्तेय	—	मिट्टी के बर्तन, आसन, काष्ठोपकरण, घास, खाल, अनाजकी चोरी।
२. मध्यम स्तेय	—	सूती, ऊनीवस्त्र, साधारण पशु, तांबा, चांदी लोह, कांस्य एवं चावल व जौं की चोरी
३. गम्भीर स्तेय	—	स्वर्ण, आभूषण रेशमवस्त्र पालतु पशु, हाथी, अश्व, मंदिनों के धन की चोरी।

मनु ने स्तेय कर्ताओं को निम्न दो भागों में विभाजित कर स्तेय अपराध का परीक्षण किया था।[5]

१. प्रकाश या प्रकट चोर : अशुद्ध तुला बाट रखने वाले व्यापारी, जुआरी, मिथयाचिकित्सक, उत्कोच लेने वाला, दलाल असत्य साक्षी,, जादू या हस्तरेखा (सामुहिक) से भविष्यवाणी करने वाला नकली वस्तु विक्रेता को पकड़ चोर कहा जाता था।

---

१ मनु. ८.३३२; नारद २७.१२; अर्थ. ३.१७

२ महा.उ.पर्व १९.३३; शा.पर्व ३४.२३;

३ अग्निपु.अ. २२७; मनु. ८.३२; अर्थ. ४.११

४ याज्ञ. २.२७५; नारद १७.१३-१६

५ प्रकाशांश्च-अप्रकाशांश्च चास्वक्षुर्महरीपतिः॥ मनु. ९.२८६; बृ.स्मृ.उ.स्मृ.चं.पृ.३१ पर प्रकाशवन्चकास्तेषां येस्तेनाष्टविकादयः॥ मनु. ९.२५७ उत्कोचकाश्चोपिधिका वन्वकाः कितवास्था। मंगला देशवृताश्च भद्राश्च क्षणिकं सह॥ मनु. ९.२५८ असभ्यवकारिश्चैव महामात्राश्चिकित्सका। शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणाः पण्ययोक्तिः॥ मनु. ९.२५९; २६०, २६१, २६७, २६८

२. अप्रकाश या गुप्त चोर : दूसरों का सामान उठाने वाले, सेंध मारने वाले, जेब कतरे, यात्रियों को लूटने वाले पुरुष-स्त्री एवं पशुओं को चुराने वाले, गुप्त चोर कहलाते थे ।

सम्पूर्ण चोरों का पता गुप्तचरों के माध्यम से लगाया जाता था । चोर अधिकतर कूप, मिठाई बनने के स्थान, मद्य अन्न विक्रय की दुकान, चोक, वैश्यागृह, पुराने वृक्षों की जड़ों, उत्सव व मेला स्थान, प्राचीन उद्यान, जंगल, शिल्पियों के पुराने गृह, जनशून्य गृह, बाग आदि में स्वभावतः निवास करते थे । सेना अथवा राजसुरक्षा कर्मचारियों द्वारा पकड़ कर, उनके अपराध व दोषानुरूप उन्हें दण्डित किया जाता था ।[१] सन्देह में पकड़े गये व्यक्ति को प्रमाण देकर अपनी पवित्रता प्रमाणित करनी होती थी । केवल नकारने या अस्वीकार करने से स्तेय अपराध से मुक्त नहीं हो सकता था ।[२]

३. दण्ड व्यवस्था

चोर को दणिडत करने से नृपयश-भाजन बनता था ।[३] कुलीन मनुष्यों द्वारा बहुमूल्य धातुओं की चोरी पर मृत्युदण्ड (मनु. ८.३२३); अश्व एवं हस्तियों की चोरीकर्ता तथा दूसरों को व्यर्थ में बन्दी बना कर रोके रहने पर शूली का दण्ड (याज्ञ. २.२७३); राजशास्त्रानगर से शास्त्र चुराने, सेंध लगाने, हाथी व अश्व चुराने पर मृत्युदण्ड (९.२८०) देने की व्यवस्था रही थी । रात्रि में सेंध लगाने वाले को शूली पर चढ़ा कर मृत्युदंड दिया जाता था ।[४] प्रथम बार स्तेय अपराधी होने पर अंगूठा एवं तर्जनी अंगुली को काट देने का दण्ड, द्वितीय बार में हाथ-पैर काट लेने का दण्ड तथा तीसरी बार वही अपराध करने के कारण मृत्यु-दण्ड एवं चोरी के समान की क्षतिपूर्ति तथा चोरी के समान के मूल्य के दुगुने से पांच गुने तक अर्थदण्ड देय होता था ।[५]

उच्च जाति के स्तेय अपराधियों को न्यून जातियों की अपेक्षा अधिक दण्ड मिलता था, उदाहरणतः शूद्र को वस्तु मूल्य का आठगुना; वैश्य को १६ गुना, क्षत्रिय को ३२ गुना तथा ब्राह्मण को ६४ गुना दण्ड देना पड़ता था । संस्कृति की उच्चता एवं सम्पन्नता की श्रेष्ठता को दृष्टिगत करते हुए हो ऐसा निर्धारण किया

---

१ मनु. ९.२६२२-२६२; याज्ञ. २.२६६-२६८

२ याज्ञ. २.२६८, २६९; नारद १.४२ एवं ७१; मनु.ष् ९.२७०; मत्स्यपु. २२७.१६६

३ मनु. ८.३४३

४ तेषांछित्वानृपोहस्तोतीक्ष्णेशूलेनिवशयेत् ॥ मनु. ८.२७६; अथर्व ४.११

५ याज्ञ. २.२७०, २७४; नारद परिशिष्ठ २१ व २२ से २४ तक अंगुलीग्रन्थिभेदस्यछेदयत्रथमेग्रहे । द्वितीयहस्तचरणौतृतीये वधमर्हति ॥ वि.ध.सू. ६.१३६; ५८९ (मनु. ९.२७७; ८.३२०; ३२६-३२९)

गया था।[१] जानते हुए भी चोर की सहायत करने वाले को भी चोर के समान ही दण्डित किया जाता था। चोर सहायक नारी के नाक-कान छेदन का दण्ड, अथवा ५०० पण का निष्क्रय दण्ड, सहायक पुरुष पर १००० पण दन्ड देय[२] होता था। मांगने पर घास, ईधन, पुष्प देवपूजा हेतु, एवं आरक्षित फल तोड़ने पर दण्डमुक्त मानने की व्यवस्था रही थी।[३] परन्तु आपस्तम्ब ने डांटफटकार की व्यवस्था दी है।[४] यात्री भोजन के अभाव में बिना मांगे खेत में से दो ईख के गन्ने, दो मूली, दो तरबूज, पांच आम, एक मुट्ठी भर खजूर या बेर या चावल या गेहूं लेने पर स्तेय का अपराधी नहीं हो सकता था।[५]

चोर को दण्डित करने, दमन करने; राज्य से निष्कासित करने की व्यवस्था की स्थापना स्मृतिकारों ने इस उद्देश्य से की थी कि सब लोग शुद्ध व पवित्र रीति एवं मार्ग से धनोपार्जन कर सकें।[६] चोरवृत्तियों में कार्यरत ब्राहमण को सपरिवार देश निर्वासन[७] का दण्ड दिया जाता था। चोर को शिक्षा देकर शुल्क लेने वाला ब्राह्मण भी चोर के समान दंण्डित होता था।[८]

चोरी न होने पर भी असत्य कह कर चोरी का धन वापिस लेने की नियत से यह कहना कि "मेरा धन चोरी हो गया है।", ऐसे अभियुक्त पर चोरी के धन का दुगुना दण्ड; धरोहर हड़पने वाले पर धरोहर के मूल्य का दुगुना दण्ड, धरोहर रखे बिना धरोहर मांगने पर धरोहर के दुगुने दण्ड से दण्डित, जानबूझ कर लोभवश दूसरे की वस्तु अपनी बता कर बेचने पर चोर के समान दण्डित करने, अनुचित रूप में वस्तु का आदानप्रदान कर्ता को छः सौ पण के दण्ड से दण्डित करने की व्यवस्था थी।[९] प्याऊ तोड़ने, घड़ा वं रस्सी चुराने पर एक मास का कारावास, अनाज की चोरी स्वर्ण-चांदी की चोरी पर मृत्यु दण्ड, किसी देवता का पशु, प्रतिमा मनुष्य,

---

१ गौतम १२.१२५१४; मनु. ८.३३७-३३८; नारद ५१,५२ परि.

२ गौतम १२.३६-४८; मन. ९.२७१, २७८; याज्ञ. २.२७६; अर्थ. ४.१०; अग्निपु.अ. २५८

३ गौ. १२.२५; मनु. ८.३३९; मतस्यपृ. २२७.११२-११३; याज्ञ. २.१६६

४ आप.ध.सू. २.२८.११

५ मनु. ८.३४१, नारद प्रकीर्णक ३९; मत्स्यपु. २२७.११०-११४; शंख उद.स्मृ.चं.। पृ. १७६; याज्ञ. २.७५ मिताक्षरा। आप.ध.सू. २.२८.१३

६ पुराणिचोरान् निध्नन्तश्चरन्ति विषयें तव। महा.सभापर्व ५.८३; महा. आदिपर्व १३९.५९; वनपर्व १८४.१८

७ ततोनिर्वासनीयः स्यात् तस्माद्देशात् सबान्ध्व॥ शा.पर्व ७६.१४

८ मनु. ८.३४०

९ अग्निपुराण अ. २२७; मनु. ८.३३

क्षेत्र, गृह, नगर धन, स्वर्णरत्न तथा अन्न चुराने पर एक हजार पण के दण्ड से लेकर शुद्ध वधदण्ड, चोरी करने की घोषणा करने, ग्रामधन अपहरण करने, सेंध लगाकर धर्मशालाओं में चोरी करने पर भी शूली पर चढ़ा कर प्राणदण्ड, सेन्ध लगाने वाली स्त्री को गायों के पैर के नीचे दबवा कर मृत्युदण्ड, ब्राहमण की रसोई से अन्न चुराकर खाने वाले को जिह्वाछेदन का दण्ड, ब्राह्मण का स्वर्ण चुराने पर मूसल, लाठी, तीक्ष्णशस्त्रों से दण्डित करने का दण्ड दिया जाता था।[१]

चोर जिस अंग से भी प्रतिकूल चेष्टा करता, उसका वही अंग, काट दिया जता था।[२] चोरों को भोजन व संरक्षण देने व चोरी का माल रखने वालों को उनके दोनों हाथ काटकर शूली पर चढ़ाकर वधदण्ड या उत्तम साहस का दण्ड देने का विधान था।[३] कभी-कभी चोर के माथे पर कुत्ते के पंजे व नाखून का चिह्न भी गुदवा दिया जाता था। तथा उसकी सर्वसम्पत्ति का हरण कर, उसे सपरिवर नष्ट कर दिया जाता था। देशनिर्वासित किया जाता था।[४]

चोरी गया हुआ माल जब नृप या किसी शासनधिकारी को मिल जाता था, जो उस माल को वस्तु का रंग, रूप, मात्रा, स्थिति, संख्या आदि चिह्न पूछ कर आश्वस्त होने के पश्चात, असली स्वामी को वापिस लौटा दिया जाता था।[५] चोरों को ग्राहक अर्थात् स्थानपाल नामक अधिकारी (नृप द्वारा नियुक्त) पकड़ता था। चुराई गई वस्तु के मिलने, चोरी का चिह्न मिलने, चोर्यपद के अनुसरण से, पहले चोरअपराधी को स्तेय अपराध में पकड़ा जाता था।[६] अपनी जाति छिपानेवाले जुआ खेलने वाले, वैश्यागमनकर्ता, मद्य एवं व्यसनों में लीन रहने वाले गुप्त निवार्सकर्ता, कम आय पर अधिक व्ययकर्ता, खोईवस्तु को बेचने वाले को भी चोरी के सन्देह में पकड़ा जाता था।[७] चोरी की शंका में पकड़े गए व्यक्ति को, निर्दोष सिद्ध न होने पर या करने पर, (स्वयं प्रमाणों द्वारा), चोरी की वस्तु लौटानी पड़ती थी। इस के पश्चात् चोरी को ध्यान में रखकर चोरी का दण्ड[८], वध, पूर्वसाहस

---

१ अग्निपुराण अ. २२७; अर्थशा. ४.१०; पर्व ११; मनु. ८.३१५, ३१९, ३२१ याज्ञ. ३.२५७

२ येनयेनयथांगेनरतेनोनषुविचेष्ट। तत्तदेवहरेतस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः॥ मनु. ८.३३४; अग्निपुराण अ. २२७; कातया. ६२९, ६३३

३ अग्निपु. अ. २२७; अर्थ. ४.११; मनु. ९.२७१, २७८; मात्या. ६३४, ६४४, ६५१

४ अग्निपु.अ. २२७; मनु. ९.२३७, २६९; याज्ञ. २.२७०

५ अग्नि.अ. २२७; मनु. ८.३१, ४०

६ याज्ञ. २.२६६

७ याज्ञ. २.२६७, २६८; अग्नि.अ. २५८;अयो.कांड १००.५७

८ याज्ञ. २.२६९; २७०

दण्ड, सर्व सम्पत्ति के हरण का दन्ड गाली देकर अपमान करने, पीटने, हाथपांव, नाक काटकर बौरे में भर कर नदी में फेकने का दण्ड, बेंतों से पीटने व सिर छेदन के दण्ड से दंडित किया जाता था।[१] जानकर चोरी करने वाले शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, एवम् ब्राहमण को क्रमशः चोरी गई वस्तु के मूल्य क्रमशः सौगुना, दोसौगुना चारसौगुना, छःसौ गुना, दण्ड से दण्डित करने की व्यवस्था थी।[२]

ग्राम में चोरी होने पर ग्रामपाल, सराय में चोरी होने पर, सराय का मालिक, मार्ग में चोरी होने पर मार्गपाल, उस समय दोषी होता था। यदि चोर का कहीं पता न चले[३] ग्राम सीमा में हुई चोरी का दण्ड सीमा से सम्बन्धित ग्रम वासियों को, ग्रामसीमा से एक कोश की दूरी पर हुई चोरी का दण्ड, चतुर्दिक् ग्रामवासियों को अर्थात् चोरी के स्थान के चारों ओर पड़ने वाले ग्राम के ग्रामवासियों को, दिया जाता था, तथा साथ-साथ चोरी की वस्तु की क्षतिपूर्ति[४] भी करनी पड़ती थी।

बलपूर्वक बन्दी को छुड़ाने वाले, अश्व, हस्ति, अस्त्र-शस्त्रों को चुराने वाले, को शूली पर चढ़ाकरप्राणदण्ड[५] से दण्डित किया जाता था। प्रथमबार वस्त्रादि की चोरी करने या गठरी काटने पर अंगूठा व तर्जनी अंगुली के छेदन का दण्ड, पुनः इसी अपराध को करने पर एक हाथ एवम् एक पैर छेदन करने का दण्ड[६], या प्रथम अप्राध के बाद दूसरी बार अपराध करने पर प्रथम साहस का दण्ड, तीसरी बार अपराध करने पर मध्यम साहस का दण्ड, चतुर्थ बार में पुनरावृत्ति होने पर उत्तम साहस का दण्ड, तथा पांचवीं बार वहीं अपराध कर्ता को मृत्युदण्ड से दण्डित किये जाने की व्यवस्था थी।[७] इसी प्रकार किसी तीर्थ स्थान में प्रथम बार चोरी करने, जेब काटने, सेंध लगाने, या छत फाड़कर चोरी करने पर, अपराधी के शरीर का संडासी से मांस नोचा जाता था अथवा २४ पण का निष्क्रय दण्ड, तीसरी बार फिर वही अपराध करने पर दाहिने हाथ को काटने का दण्ड या चारसौ पण का निष्क्रय दण्ड; चौथी बार की पुनरावृत्ति पर विचित्रवध का दण्ड दिया जाता था। गाय, भैंस एवं बड़े पशुओं का अपहरण करने पर दोनों पैर काट लेने का दण्ड; या छःसौ पण का निष्क्रय दण्ड, शूद्र द्वारा अपने को ब्राह्मण बतलाने पर, देवद्रव्य का अपहरण करने पर, अपने को भविष्यक्ता जताकर नृप का अनिष्ट करके, राजद्रोह करने पर,

---

१ याज्ञ. २.७५; कात्या. ६२८; ६४७, ६४५ से ६४७; कर्मपुराण खंड दो अध्याय ३२; पुप्पस्त जातक १४७; चुल्लपदुमजातक १९३; मणिचोर जातक १९४

२ मनु. ८.३३८

३ याज्ञ. २.२७१; ग्रामन्तरेपुहृतंद्रव्यं ग्रामध्यप्रदापयेत्॥ कात्या.मतसं. ६५३

४ याज्ञ. २.२७२

५ याज्ञ. २.२७३; अग्निपुराण अ. २५६

६ अग्निपुराण अ. २५८

७ अर्थशा. २.५

अपराधी के दोनों नेत्र निकाल दिये जाने के दण्ड, या आठसौ पण का निष्क्रय दण्ड, छल व कपट करने पर बांया हाथ व दोनों पैर काट लेने का दण्ड या ९०० पण का निष्क्रयदंड देने का विधान था।[1] राज्य-रक्षित वस्तु चुराने पर अपराधी को हाथी से कुचलवाकर मृत्युदण्ड दिया जाता था। साधारण रक्षित वस्तु चुराने पर वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड सरकारी विभाग के अध्यक्ष से जाली-पत्र सीलमोहर, शासक के नाम कृत्रिम आज्ञापत्र बनवाने या बनाने पर प्रथम मध्यम एवं उत्तम साहस का दण्ड अथवा प्राणदण्ड, स्वर्ण का हनन करने वाले सुनार के अंगों को छुरी से थोड़ा-थोड़ा काटने का दण्ड दिया जाता था।[2] राज्यद्रव्य की चोरी पर एकपण से चारपण का दण्ड, कोष नष्ट करने या आयस्रोतों में घाटा दिखाने पर वध दण्ड, कोष में सेंध लगाकर चोरी करने पर विचित्र वध का दण्ड[3], चन्दन व रत्न चुराने पर शुद्ध वध दण्ड, रुई की चोरी पर प्रथम साहस का दण्ड, एक मास से १/४ पण की चोरी पर १२ पण दण्ड, आधपण की चोरी पर २४ पण का दण्ड, १२ माष की चोरी पर ३६ पण दण्ड, एक पण की चोरी ४८ पण दण्ड, दो पण की चोरी पर प्रथम साहस का दण्ड, चार पण की चोरी पर मध्यम साहस का दण्ड, आठ पण के स्तेय पर उत्तम साहस दण्ड, एवं दस पण की चोरी पर प्राणदण्ड देने की व्यवस्था रही थी। परन्तु दोपण की धातुएं चुराने पर १२ पण से लेकर २४ पण तक का दण्ड, स्वयं चोर होता हुए अन्य को चोर कहकर पीटने वालों को चित्रवध (अनेक कष्टों के साथ) का दण्ड खेत या खलियान से स्तेय पर

सामान	अर्थदण्ड
४ माष तक सामान के स्तेय पर	३ पण अर्थदण्ड
८ " "	६ पण " "
१२ " "	९ पण " "
१ पण "	१२ पण "
२ "	२४ पण "
४ "	३६ पण "
५ "	४८ पण "
१० " "	प्रथम साहस का दण्ड

१ अर्थशा. ४.१०; याज्ञ. २.२७४

२ मनु. ८.३४, २९२; अर्थशा. ४.९

३ अर्थ. २.५

३० " "	मध्यमसाहस का दण्ड
४० " "	उत्तमसाहस का दण्ड
५० " "	मृत्यु दण्ड देय होता था ।[१]

पच्चीस पण तक के मूल्य के मुर्गे, न्योले, विचार, कुत्ते, व सुअर की चोरी ५४ पण का दण्ड या अपराधी की नासिका के अग्र भाग को काटने का दण्ड; चन्दन, मृग, बनद्रव्यों की चोरी पर १०० पण का दण्ड: विहार पक्षियों (रंगीन चिड़िया, मृग, शुकादि) की चोरी पर २०० पण्ड का दण्ड, कारीगर, शिल्पी एवं तपस्वियों की लघुवस्तुएं चुराने पर १०० पण का दण्ड, इनकी ही बड़ी वस्तुए चुराने पर २०० पण का दण्ड; बिना अनुमति दुर्ग प्रवेश करने, प्रासाद की दीवार में छेद करने, प्रासाद से कोई वस्तु लेकर भागने पर गर्दनमरोड कर वध का दण्ड, अथवा २०० पण का निष्क्रय दण्ड, पहिया वाली गाड़ी, नौका, एवें छोटेछोटे पशुओं का अपहरण करने पर अपराधी का एक पैर काटने का दण्ड, या ३०० पण का निष्क्रय दण्ड स्मृति युग में दिया जाता रहा था ।[२] पृथ्वी में गडी वस्तु के सम्बन्ध में असत्य प्रमाण प्रस्तुत करने पर वस्तु मूल्य का आठवां भाग दण्ड के रूप में दिया जाता था ।[३] एक सौ पल तक की चोरी पर एक हाथ काटनें का दण्ड, स्त्री अपहरण या रत्न चुराने पर वध दण्ड, पशु चुराने पर भी वध दण्ड, ब्राह्मण व गाय का अपहरण करने पर आधा पांव काटने का दण्ड, सार्वजनिक उपयोग की वस्तु चुराने पर वस्तु मूल्य का दुगुना दण्ड, फसलयुक्त खेत व धान्य चुराने पर एक माशा सोने का दण्ड, या १००० पण अर्थदण्ड, यज्ञशाला की अग्निचुराने पर प्रथम साहस का दण्ड मनु युग में दिया जाता था ।[४]

साक्षी द्वारा असत्य भाषण करने पर अर्थ अपहरण सहित देश निर्वासन[५] का दण्ड, परन्तु असत्य भाषण पर सत्य पुरुष की रक्षा होने असत्य भाषणकर्ता को दोषमुक्त माना जाता था । यदि पापी को असत्य भाषण से रक्षण मिलता, तो अपराध समक्षा जाता था ।[६]

---

१ अर्थ ४.९

२ अर्थशा. ४.१०

३ मनु. ८.३६

४ मनु. ८.३२२ से ३३३

५ गौ.ध.सू. २.४.२३

६ नानृतवचनेदोषो जीवनं चेत्तदधीनम् ॥ गौ.ध.सू. २.४.२४ न तु पापयिसो जीवनम् ॥ गौ.ध.सू. २.४.२५

५. स्त्री संग्रहण

किसी भी स्त्री, पुरुष का अनैतिक रूप में एकसाथ आलिंगन करना एक शैय्या पर बैठना, हास्य करना, वस्त्र आभूषण भेजना, मैथुन्यभाव से एक साथ होना पापमूल संग्रहण कहलाता था।[१]

स्मृतिकारों ने संग्रह को तीन भागों में विभाजित किया है।[२]

१. शक्ति या बल से — नारी की इच्छा के विरूद्ध गोपनीय स्थानों में उससे सम्भोग करना।

२. धोखा देकर या फुसलाकर— परस्त्री को बहकाकर या फुसलाकर या मद्य पिलाकर, या वशीकरण मन्त्रों के द्वारा अपने नियन्त्रण में कर, उससे सम्भोग करना।

३. परस्पर स्नेहवश — परनारी को आंखमार कर या द्वति भेजकर बुलाना, एक दूसरे के धन एवम् सौन्दर्य पर आकृष्ट हो जाना, फिर परस्पर स्नेह व आर्कषण के वशीभूत संभोग क्रिया में लिप्त हो जाना। इस प्रकार संग्रह का समायोजनिम्नांकित प्रकार से संभव होता था।

(अ) कटाक्ष करना, हंसना, द्वती भेजना तथा वस्त्र आभूषण छूना।

(ब) पुष्प, वस्त्र, अनुलेपन, फल, धूप, भोजन भेजना तथा गुप्त बातचीत करना।

(स) परस्पर चुम्बन लेना, आलिंगन करना, केश पकड़ना, एक ही बिस्तर पर सोना, विहार करना, एक साथ घूमना आदि।

पर स्त्री के केश पकड़ कर क्रीड़ा करने, काम-क्रीड़ा द्वारा बनाए गए चिह्न (नख क्षत) अथवा परस्पर प्रीति देख कर अपराधीपुरुष तथा पर-स्त्री की नीवी, चोली, आंचल, जांघ और केश को कामुकता पूर्वक छूने, असमय वार्ता करने, एक आसन या एक शैय्या पर बैठने वाले को व्यभिचारी मान कर दण्डित किया जाता था। स्त्रीसंग्रह पाप से मुक्त नृप देवलोक का अधिकारी समझा जाता था (मनु. ८.३८६)।

दण्डव्यवस्था

पापमूलक स्त्रीसंग्रहण अपने में अपराध होने के कारण तिरस्कृत व निषिद्ध रहा था। इससे भय एवं नैतिक पतन होता था।[३] फलतः संग्रहण के अपराधी को

---

१ मनु. ८.३५७, याज्ञ. २.२८३; परमिताक्षर, स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्। याज्ञ.२.२८३

२ बृहस्पति उद्.स्मृ.चं. २, पृष्ठ ८; अग्निपुाण अ. २५६

३ महा.उ.पर्व १२.४; शापर्व ३४.३०, ५९.६०, ७७.२८, अनु.पर्व १०५.२०, २१ चुल्लसेट्टिजातक ४; महपतिजातक १९९; महासीलजातक ५१; अर्थशा. ४.१२

विभिन्न प्रकार से दण्डित किया जाता था ।[१] संग्रहण से वर्णसंकरता विकसित होती थी ।[२] नारियों, कुमारियों एवं पुत्रियों को स्वच्छन्द भ्रमण पर नियन्त्रण रखा जाता था जिससे वे पतनगामी न हो सकें ।[३]

पर नारी के साथ रमण करने पर मृत्युदण्ड, शूद्र द्वारा उच्चकुलीन नारी से मैथुन करने पर शूद्र को मृत्युदण्ड, सम्पत्ति हरण, मूत्रेन्द्रिय छेदन का दण्ड या घासपूंस में लपेट कर जला देने का दण्ड[४] स्त्री स्वेच्छा से मैथुन करे तो कुत्तों से नुचवा देने का दण्ड, सजातीय पुरुष से संभोग करने पर नारी को सम्पत्ति से वंचित कर केवल निर्वाहभत्ता देने का विधान; ज्येष्ठ भ्रात से मैथुन करने वाली नारी को मुन्डन करा दिया जाता था ।[५] परन्तु चारणपत्नी, नर्तिका से यौन सम्बन्ध की छूट प्राप्त थी ।[६]

शूद्रा के साथ रमण करने वाले क्षत्रिय व वैश्य पर प्रथम साहस का दण्ड; यदि वैश्या एक पुरुषा से वेतन लेकर लोभवश दूसरे के पास चली जाती तो वैश्या पर वेतन का दुगुना दण्ड, गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करनेपर अपराधी के माथे पर भग का चिह्न कुदवा दिया जाता था अथवा लोहे की तप्त चारपाई पर शयन कराया जाता था । या तप्त लोहप्रियता का आलिंगन करना पड़ता था । या अंडवोष सहित जननेन्द्रि काट दी जाती थी ।[७] तथा दक्षिण या पश्चिम दिशा वाले कोण को तब तक चलता जाता था जब तक मृत्यु न हो जाये ।[८]

अभिचारकर्ता को सपरिवार नष्ट किया जाता था । या हाथ पैर काट कर मूसल से परिवार-वध दण्ड दिया जाता था । कुमारी मैथुन करने पर सम्पूर्ण सम्पत्ति का अपहरण कर देश निर्वासन का दण्ड देय होता था । निम्न वर्ण के पुरुष से रमण करने वाली नारी को कुत्तों से फडवाया जाता था ।[९]

---

१ मनु.८.३४७; दुम्मेधजातक ५०, अंडाभूतजातक ६२, यजुर्वेद २३.२१; अथर्व.७.११४.२

२ मनु. ८.३५३

३ ऋग्वेद ४.३०.९ से ११

४ अग्निपुराण अ. २५८; बौ.ध.सू. २./.३.५३ - शुद्रंकटारिननादहेत् । मनु. ८.३७४ पुमांसंधातयेत् ॥; गौ.ध.सू. ३.५.१५; बौ.ध.सू. २.२.४.१; मोक्खजातक १२०; कात्यायन ६६७

५ अग्निपुराण अ. २२७

६ बौ.ध.सू. २.२.४.३; मनु. ८.३६२

७ अग्निपु.अ. २२७; तप्तेलौहश्ने गुरुतल्पगः शयति ॥ गौ.ध.सू. ३.५.८ मनु. ९.२३७ सर्मी वा शिलष्येज्जवेलन्तीम् ॥; गौ.ध.सू. ३.५.९;१०; बौ.ध.सू. २.१.१४; गरुतल्पगस्तप्तेलोहशयने शयीत ॥ २.१.१.१२; सूर्मिज्वलन्त वाशिलष्येत ॥ २.१.१.१३; आप.ध.सू. : सन्निपाते वृते शिश्नच्छेदनंसवृणस्य ॥ २.२६.२०

८ अथर्व. १०.१.१९, २१; ७.११.४.२; कुमार्यां तु स्वान्यादायनाश्यः ॥ आप.ध.सू. २.२६.२१

९ गौ.ध.सू. ३.५.१४; चुल्लपदुमजातक १९३

गदहे का चर्म उढ़ा कर, लाल पात्र हाथ में देकर सात धरों से भिक्षा मांगनी पड़ती थी।[१] सजातीय नारी से समागम करने पर एक हजार पण दण्ड, अपने से उच्चवर्ग की नारी के साथ सम्भोग करने पर मृत्यु दण्ड, नारी के नाक कान काट देने का दण्ड, गाय के साथ मैथुन करने पर पांचसौ पण दण्ड, अन्य पशुओं के साथ ऐसा करने पर एक सौ पण दण्ड, दासी के साथ रमणकर्ता पर १० पण दण्ड,[२] चाण्डाली के साथ रमण करने पर अपराधी के माथे पर भग का चिह्न गोद कर राज्य निष्कासन का दण्ड, स्मृतियुग में दिया जाता था।[३] चाण्डाल द्वारा उत्तम जाति की नारी से मैथुन करने पर चाण्डाल को भी मृत्युदण्ड देय होता था।[४]

कुमारी कन्या की सहमति के विरुद्ध मैथुनकर्ता पर एक हजारपण का दण्ड; सहमति पर पांचसौ पण का दण्ड; वेश्या को घर मे छिपाकर रखने पर एक हजार पण का दण्ड; रक्षपुरुष (पुलिस) द्वारा दासी, वेश्या, विवाहिता स्त्री, कुलीन स्त्री, के साथ मैथुन करने पर क्रमशः प्रथमसाहस मध्यम् साहस एवं उत्तम साहस का दण्ड एवं प्राणदण्ड[५] दिया जाता था। संग्रहण में सहायक नारी के नाक-कान काटने का दण्ड, अथवा ५०० पण का निषक्रय दण्ड, देश निर्वासन का दण्ड, कन्या व दासी का अपहरण करने पर बायां हाथ व पैर (दोनों) काट देने का दण्ड अथवा ९०० पण का निष्क्रय दण्ड,[६] बलात् स्त्री को उठा ले जाने पर अपराधी को शूली पर चढ़ाकर प्राणदण्ड[७] परस्त्री से एकान्त में वार्तालाप करने तथा वन में घासफूंस के स्थान पर अलग से स्त्री से बातचीत करने पर प्रथम साहस का दण्ड,[८] ब्राहमणों के अतिरिक्त अन्य वर्गो के बलात्कारी अपराधियों को प्राणदण्ड (मनु. ८.३५९), एक बार वर्जित करने पर पुनः स्त्री से सम्भाषण करने पर सोलह माषा स्वर्णदण्ड (मनु. ८.३६१), स्वजाति की स्त्री की बिना सहमति पर मैथुन करने के कारण लिंग छेदन का दंड (मनु. ८.३६४), कुलीन कन्या से केलि करने पर लिंग काटने का दण्ड (मनु. ८.३६६), स्वजाति की कन्या को योनि में अंगुली डालकर कामक्रीड़ा करने पर अंगुलीछेदन व ६०० पण का दण्ड (मनु. ८.३६७), परन्तु सहमति पर ऐसा करने पर दो सौ पण का दण्ड (मनु. ८.३६८), कन्या की योनि में कन्या केलि करे तो दो सौ पण का अर्थदण्ड के साथ १० कोड़े का दण्ड (मनु. ८.३६९), यदि स्त्री कन्या

---

१ गौ.ध.सू. ३.५.१८

२ वृहद. उप. ६.४.७,

३ अग्निपु. अ. २५८; याज्ञ. २.२८९; २.२९४

४ याज्ञ. २.२९४; अर्थ. ४.१२

५ अर्थशा. २.३६; अर्थशा. ४.१२

६ अर्थशा. ४.१०, १२; मनु. ८.३५२; चुल्लपदुमजातक १९३

७ अर्थशा. ४३.११

८ मनु. ८.३५४, ३५६

की योनि में अंगुली ड़ाल कर ऐसा अपराध करती तो उसकी अंगुली काटकर, मूंड मूंडा कर गदहे पर चढ़ा कर राजपथ पर घुमाया जाता था। (मनु. ८.३७०)। अहंकारवश पति का त्याग करने वाली नारी को कुत्तों से नुचवाया जाता था (मनु. ८.३७१) अथवा ऐसी स्त्री को लोहे की गरम शय्या पर सुला कर चारों ओर लकड़ी रख कर अग्नि लगाकर राख बना दिया जाता था (मनु. ८.३७२)।[१]

सुरक्षित ब्राह्मणी के साथ मैथुन करने वाले वैश्य को सम्पूर्ण संमत्तिहरण का दण्ड व कारागार, क्षत्रिय द्वारा यह अपराध करने पर एक हजार पण का दण्ड, तथा गदहे के मूत्र से शिर मुन्डन का दण्ड (मनु. ८.३७५), अरक्षित ब्राह्मणी से रमण करने वाले क्षत्रिय, वैश्य पर पांच सौ पण का दण्ड (मनु. ८.३७६), परन्तु आचरणवान् व गुणवान् ब्राह्मणी से सम्भोग करने वाले क्षत्रिय व वैश्य को उसको सरहरी कुश से ढ़ककर जला दिया जाता था। (मनु. ८.३७७)। आरक्षित ब्राह्मणी से रमणकर्ता ब्राह्मण पर एक हजार पण अर्थदण्ड, ब्राह्मणी की इच्छा से रमण करने पर पांचसौ पण दण्ड (मनु. ८.३७८), आरक्षित वैश्य स्त्री से शूद्र नारी, एवं क्षत्रिय नारी से भोगकर्ता क्षत्रिय व वैश्य अपराधी पर एक हजार पण दंड क्षत्रिय नारी से भोगकर्ता क्षत्रिय व वैश्य अपराधी पर एक हजार पण दंड (मनु. ८.३८२, ३८३) देने की व्यवस्था थी।[२]

साधारण कन्या का अपहरण कर्ता को चोर के समान दण्ड, व्यभिचारिणी स्त्री को सभी अधिकारों से वंचित केवल जीवन यापन भोजन देकर पृथ्वी पर सुलाया जाता था। व्यभिचारणी गर्भ की हत्या करने वाली, पति वध करने वाली स्त्री का त्याग करना न्यायसंगत रहा[३] था। माता-पिता-भ्रात द्वारा निषिद्ध व्यक्ति से बातचीत करनेवाली नारी पर १०० पण दण्ड, ऐसे पुरुष पर दो सौ पण दण्ड (याज्ञ. २.२८५), सजातीय परस्त्री से व्यभिचार करने पर उत्तम साहस का दण्ड, न्यूनजाति की स्त्री से रमण करने पर मध्यम साहस का दण्ड, उच्चस्त्रियों से मैथुन करने पर वधदण्ड, अपने से नीच पुरुषों के साथ रमण करने वाली नारी के नाक-कान काटने का दण्ड दिया जाता था।अविवाहित अलकृंत सवर्ण कन्या के अपहरण कर्त्ता पर उत्तम साहस का दन्ड, कुलीन कन्या का अपहरणकरने पर वध दम्ड कन्या की अनिच्छा पर बल पूर्वक दूषित करने पर अपराधी के हाथ काट कर वध दम्ड ब्लात्कार का दोष लगाने पर सौ पण से दो सौ पण का दम्ड लगता था।[४]

दूसरे की दासी से भोग करने पर ५० पण का दण्ड, स्व दासी से बलपूर्वक भोग करने पर १० पण का दण्ड, अनेक पुरुषों द्वारा एकदासी से भोग करने पर

---

१ मनु. ८.३६४, से ३७० तक; याज्ञ. २.२८५, २७८; अर्थ. ४.।२; नारद १५.७१-७२

२ अर्थशा. ४.१२, १३; गौतम १२.२, ३; वसिष्ठ २१.१.१-५; मनु. ८.३५९, ३७४-३७८; विष्णु. ५.४१; याज्ञ. २.२८६, २९४; नारद १५.७०

३ याज्ञ. १.६५, ७०, ७२; याज्ञ. २.२८७

४ याज्ञ. २.२८६

प्रत्येक पर २४ पण का दण्ड,[१] स्त्री की योनि, उसके मुख एवं अन्य अंग में रति करने, संन्यासिनी के साथ भोग करने पर २४ पण दण्ड[२], संन्यासिनी द्वारा कामासत होकर भोग कराने पर २४ पण दंड साध्वी, पिता की बहिन, माता, मामी, मौसी, शिष्यपत्नी, बहिन आचार्य की पुत्री व पत्नी, पुत्रवधू, सगोत्रा मित्रपत्नी, शरण मे आई हुई के साथ रमणकर्ता का लिंग काटकर वध दण्ड दिया जाता था। अथवा तप्त लोह शय्या पर सुलाया जाता था तथा लोह स्त्री (प्रतिमा को गरम कर उसका) आलिंगन कराया जाता था।

यदि उक्त स्त्रियां स्वेच्छा से भोग कराती तो उन्हें भी वध दंड दिया जाता था। या योनि व दोनों स्तन छेदन के दण्ड की व्यवस्था रही थी।[३] नृपपत्नी के साथ रमण कर्ता को तप्त तेल के कटाह में ड़ाल कर भून देने का दण्ड[४] स्त्री की गुदा में लिंग प्रवेश करने मर प्रथम साहस का दण्ड, पुरुष द्वारा पुरुष की गुदा में लिंग प्रवेशकरने पर प्रथम साहस का दण्ड, देव प्रतिमा के साथ दुराचार करने पर भी २४ पण का दण्ड[५] देय होता था।

समान जातीय कन्या को अपवित्र करने पर हस्तछेदन का दण्ड या ४०० पण निष्क्रय दण्ड, योनि पर लिंग आघात से कन्या की मृत्यु होने पर प्राणदण्ड, कन्या की इच्छा पर रमणकर्ता को ५४ पण का दण्ड कन्या पर २७ पण का दण्ड, विवाहिता कन्या से व्यभिचार करने पर भी ५४ पण दण्ड, कामुक स्त्री से व्यभिचार करने पर १०० पण दण्ड, स्वेच्छा से व्यभिचारिणी होने पर राजदासी बनाने का दण्ड, ग्राम से बाहर संभोग कराने वाली स्त्री पर २४ पण दण्ड, कन्या का अपहरण करने पर २०० पण से १००० पण तक का दण्ड, अनेक अपहरणकर्ता होने पर सब प्रत्येक पर १००० पण का दण्ड, वेश्याकन्या से व्यभिचार करने पर ५४ पण दण्ड, दासी कन्या से ऐसा करने पर २४ पण दण्ड, पति की अनुपस्थिति में व्यभिहार करने वाली नारी के नाक-कान काटने का दण्ड देने की व्यवस्था थी।[६]

६. द्यूत

द्यूत एक प्रकार की क्रीड़ा का साधन मात्र है। इसे पासे, चर्मखण्डो एवं हस्तिदन्त खण्डों के माध्यम से खेला जाता था।[७] इसमें धन या अन्य वस्तु की

---

१ याज्ञ. २.२९०, २९१, अर्थ. ४.१२

२ याज्ञ. २.२९३; अर्थ. ४.१२

३ याज्ञ. ३.२३२ व २३३, २५९; अर्थ. ४.१२, १३; नारद १५.७३-७५; पारा.स्मृ. १०.१२; मनु. ११.१७०-१७१; मत्स्यपु. २२७.१३९-१४१

४ अर्थ. ४.१२

५ देवत प्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः॥ अर्थ. ४.१२; ४.१३

६ अर्थशा. ४.१२, १३; याज्ञ. २.२९१; विष्णु. ५.४४; नारद १५.७६

७ मनु. ९.२२३; नारद १९.१; याज्ञ. २.२०३; अर्थ. ३.२०; आप.ध.सू. २.।०.२५.१२, १३; अग्निपु.अ. २५३

बाजी लगती थी । जीतने वाला व्यक्ति उस बाजी को प्राप्त करने का दावेदार होता था ।

द्यूत का प्रचलन वैदिक काल से ही रहा था ।[१] यह अपने में निन्दनीय, पतित कर्म माना गया था । मनु. ने इसकी भृत्रसना करते हुए इसे हेय दृष्टि से देखा था ।[२] तथा इसके मूलोच्छेदन की बात कही थी ।[२] अत एव मनु ने जुआरी के लिये सर्वनाश का दण्ड, राज्यनिष्कासन का दण्ड की व्यवस्था की थी ।[३]

द्यूत को राज्य का विनाश्क एवं चोरवृत्ति का प्रेरक माना है ।[४] इससे नैतिकता, कर्तव्यशीलता, प्रेम, श्रद्धा आदि मानवीय गुणों का उन्मूलन हो जाता था । विवाद की मूल, अनर्थ की प्रेरक, छल व पाप का कारण होने से, हंसी के लिए भी द्यूतक्रीड़ा समुचित नहीं मानी गई थी ।[५] द्यूत को कामजनित अपराध माना जाता था ।[६]

निश्चित स्थान से विलग होकर द्यूत क्रीड़ा करने पर १२ पण दण्ड, कपटपूर्ण जुआं खेलने पर प्रथम साहस का दण्ड तथा सर्वसम्पत्ति का हरण । पासे व रेखा सम्बन्धी गड़बड़ी करने पर प्रथम साहस का दंड स्थान व समय का अतिक्रमण करने पर १२ पण का अर्थदण्ड[७] दिया जाता था । द्यूत क्रीड़ा में छल करने पर एक हाथ काट लेने का दण्ड, या ४०० पण का निष्क्रय दण्ड[८] देने की व्यवस्था रही थी ।

चोर और कंटकों का पता लगाने हेतु किसी सुनिश्चितस्थल या केन्द्र स्थान में द्यूत खेलने को राजकीय छूट प्राप्त थी ।

द्यूत जीतने वाल से जीत के धन का ५ प्रतिशत तथा जुआं खिलाने वाले से दस प्रतिशत धन लिया जाता था ।[९] कपट पूर्ण जुंअर खेलने वाले का सर्वनाश किया जाता था । कुत्ते के पंजे का चिन्ह अपराधी के माथे पर दाग कर राज्य निष्कासन का दन्ड दिया जाता था ।

---

१ ऋग्वेद १०.३४; १.४१.९; ७८६; अथर्व. ४.१६.५; महा.सभापर्व ५८.३१६

२ मनु. ९.२२४, २२५, २२७, २२८; उ.पर्व ३७.१९

३ मनु. ९.२२४, २२५, २२८; अथर्व. ७.५०.१ तथा ७.१०९.३

४ मनु. ९.२२१, २२२

५ महा. सभापर्व ५८.१०, ११; ५९.५; विराटपर्व ६८.३३; उ.पर्व ३७.१९

६ महा.शा.पर्व ५९.६०

७ अर्थशा. ३.२० याज्ञ. २.२०३, कात्यायन ९३४३ उद्धृत विाद रत्नाकर पृष्ठ ६११ पर।

८ अर्थशा. ४.१०

९ याज्ञ. २.१९९

७. समाह्वय = प्राणीद्यूत

समाह्वय या प्राणीव्रत एक प्रकार का मनोरंजक खेल रहा था। इसमें पशुओं, पक्षियों का योग सन्निहित रहता था। अर्थात् अश्व, बैल, मुर्गा, कबूतर, बटेर, भेड एवं मल्लों (पहलवान) की प्रतिद्विन्द्वतायुक्त बाजी लगी होती थी। अर्थात् विभिन्न प्रकार के जीवधारियों को दांव पर लगाया जाता था।[१]

समाह्वय को नष्टभ्रष्टकर्ता माना गया है। इस क्रीड़ा के कर्ता को गुप्तचोर मानकर दण्डित किया जाता था। द्यूत क्रीडा के सम्पूर्ण नियम, उपनियम एवं दण्डविधान, प्राणी व्रत पर भी प्रभावी होते थे।[२] शत्रुता का प्रेरक होने के कारण मनोरंजनार्थ भी इसका प्रयोग निषिद्ध रहा था।[३]

सार्वजनिक स्थानों पर इसका प्रचलन निषिद्ध था[४] जिससे कि प्रतिद्वन्द्विता व आक्रोश को विकसित होने का अवसर न मिल सके।

८. क्षेत्रज या सीमाविवाद

क्षेत्र या भूमि की सीमा के अधिकार को लेकर सेतु-बांध-खेत-ग्राम-मेन्ड (केदार) के मध्य सीमा के घटने व बढ़ने से सम्बन्धित विवाद क्षेत्रज या सीमा विवाद कहलाता था।[५] सीमा से प्रयोजन दो नगर, दो ग्राम, दो खेतों के मध्य पड़ने वाली उस रेखा, चिह्न, स्थान या वस्तु, से था जहां एक का अधिकार समाप्त होता था तथा दूसरे का अधिकार प्रारम्भ होता था, इसकी अनिश्चितता ही सीमा विवाद होती थी। ढाक-बरगद-पीपल-अश्वत्थ-सेमल-राल-ताड़-उदुम्बर-बांस-झाड़ी तथा नदी के अविरल प्रवाह, तालाब, झील एवं उंचे टीले आदि से प्राकृतिक सीमाओं का निर्माण होता था। मिट्टी के बरतनों में भूसा, कोयला, ईट, पत्थर, हड्डियां सरकन्डे आदि रखकर भूमि के अन्दर गाड़ दिया जाता था। इससे कृत्रिम सीमा का निर्धारण किया जाता था। कोयला, धान की भूसी, पर्वत एवं नदी, वाल्मीकि, खाई, पत्थर एवं मन्दिर तथा बावडी भी सीमा निर्धारण के स्थाई चिह्न व प्रतीक माने जाते थे। ये चिह्न दीर्घकाल तक स्थिर रह सकते थे।

सीमा पर तालाब, कुआं, बावड़ी, झरना एवं देवस्थानों का निर्माण किया जाता था जिससे सीमा नष्ट न हो सके तथा परम्परा के रूप में स्मरण रह सके। पत्थर, हड्डी, गाय के बाल, पक्की ईट के कंकड, छोटी पथरी कोयला व रेत का

---

१ मनु. ९.२२२ व २२४, याज्ञ. २.२०२

२ मनु. ९.२२१, २२६; याज्ञ. २.२०३

३ मनु. ९.२२५, २२७; महा.उ.पर्व ३७.१९; कात्या. ९३४

४ याज्ञ. २.२०३; अर्थशा. ३.२०

५ अग्निपुराण अ. २५३; मनु. ८.२४५; अर्थशा ३.९

उपयोग भी सीमा निर्धारण में किया जाता था। अभिलेखों के द्वारा भी सीमा को सुरक्षित रखा जाता था।[१]

सीमाओं के संकेत व लक्षण आने वाली पीढ़ियों को भी बतलादिये जाते थे जिससे सीमा निर्धारण का ज्ञान परम्परा के रूप में स्थिर रह सके। सीमा से सम्बन्धित विवाद ज्येष्ठ मास (अधिक सीमा के चिह्न स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं) में निबटाया जाता था। प्रत्यक्ष चिह्न एवं गुप्त चिह्नों के आधार वास्तविक सीमा का निर्धारण करते थे। सीमा विवाद निर्णीत होने पर, सीमा की स्थापना ात्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष (अर्थात् गुप्त) चिह्नों के द्वारा स्थाई रूप में निर्मित की जाती[२] थी।

सीमा विवाद का निर्धरण समीपस्थ ग्राम, नगर, या क्षेत्र के चार से दस व्यक्ति लाल वस्त्र पहन कर करते थे। दो ग्रामों के मध्य उत्पन्न सीमा विवाद को निकटवर्ती पंच ग्रामो या दस ग्रामी व्यवहार भिज्ञ जन पर्वत अथवा नदी आदि के द्वारा सीमा विवाद का निर्धारण करते थे। निकटवर्ती ग्रामवासियों के अभाव में वृद्ध, कृषक, ग्वाले, चरवाहे, सामन्त या वृद्धपुरुष, वनवासी जनों के सहयोग से निर्णीत होता था।[३] खेत की सीमा विवाद ग्राम के वृद्धजन या सदाचारी पुरुष निर्णीत करते थे। प्रत्येक सीमा विवाद के साक्षियों की साक्षी प्रामाणिक मानी जाती थी। साक्षी फूलमाला लेकर लालवस्त्र व मिट्टी का ढेला सिर पर रख कर शपथ पूर्वक कहता था, " अगर मै असत्य बोलूं तो मेरा सम्पूर्ण सुकृत नष्ट हो जाये।"[४] साक्षी के अभाव में सीमा निर्धारण समीपस्थ चार ग्रामों के चार प्रमुख जमीदार, या वनवासी, चरवाहे, व्याध चीडीमार (शाकुनिक), गोपालक, (मछली पकड़नेवाले), इत्यादि जिन्होंने पहले सीमा को देखा हो, उनसे पूछ कर सीमा का निर्णय करने की परम्परा थी।[५]

चिह्न एवं साक्षी के अभाव में सीमा का निर्धारण स्वयं राजा करता था।[६] सीमा निर्धारण का लेख लिखा जाता था, जिस पर साक्षियों के हस्ताक्षर भी होते

---

१ मनु. ८.२४६-२५२; अग्निपुराण अ. २५७; नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्ध शाल्मलीक्षीर वृक्षानन्तेषुसीम्नांस्थापयेत। अर्थ. २.१

२ मनु. ८.२४५-२५२

३ अग्निपु.अ. २५७; अर्थ.शा. ३.९; याज्ञ. २.१५०-१५२; ग्रामोग्रामस्यसामन्तः क्षेत्रक्षेत्रस्य कीर्तितम्। गृहं गृहस्यनिद्धिष्टं समन्तापरिभ्य च॥ कात्या.मत. ५७७ सीमाविवादंग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पंचग्रामीदशग्रामी वा सेतुभिःस्थावरैः कृत्रिमेर्वाकुर्यात्। कषकगोपालवृद्धका .. सीमानंनयेयुः। अर्थ. ३.३१९

४ क्षेत्रविवादं सामनतग्रामवृद्धाः कुर्युः॥ अर्थ. ३.९; मनु. ८.२५३-२५६

५ मनु. ८.२५८-२६५; याज्ञ. २.१५१; परमिताक्षरा; वसिष्ठ १६.१३; अर्थ. ३.९; नारद १४.२-३

६ याज्ञ २.१५३; अग्निपु.अ. २५७; अर्थ. ३.९

थे ।[१] नृप नवीन चिह्नों की नई सीमाएं अंकित करता था । अथवा आधी-आधी भूमि दोनों विवाद करने वालों में बांट सकता था ।[२]

दण्डव्यवस्था

सीमा का उल्लंघन करने वालों को उत्तम साहस का दण्ड[३] मिथ्या सीमा निर्देश कर्ता एवं सीमा अपहरण व नष्टकर्ता पर एक हजार पण दण्ड,[४] खेत, मकान या दूसरे की भूमि का अपहरण करने पर प्रथम साहस का दण्ड, सीमा चिह्न मिटाने पर २४ पण का दण्ड[५] घर, तालाब बाग, खेत की सीमा तोड कर बलपूर्वक इनका अपहरण करने पर ५०० पण का दण्ड, यदि अपहरण अज्ञानतावश होता था जो दो सौ पण का अर्थदण्ड देने की व्यवस्था रही थी ।[६]

सीमानिर्धारण के अवसर पर झूठ बोलने पर प्रथम साहस[७] का दंड असत्य साक्षी देनें पर दो सौ पण का दण्ड तथा प्रत्येक असत्यसाक्षी पर मध्यम साहस का दण्ड देने का विधान था ।[८] जलमार्ग अवरूद्ध करने या व्यर्थ में जल निकाल देने वाले व्यक्ति पर २५० पण का दण्ड, भूमिसीमाकूप, पुण्यस्थान, बाग आदि को दूसरे की भूमि में मिलाने वाले पर ५०० पण का दण्ड, अकृत्य देखकर या सुनकर मौन रहने वाले पर उत्तम साहस का दण्ड दिया जाता था ।[९]

छोटे पशुओं व मानवों का मार्ग अवरुद्ध करने पर १२ पण दण्ड, गाय, घोडे का मार्ग अवरुद्ध करने पर २४ पण का दण्ड, हाथी का मार्ग खेतों में आने जाने का मार्ग अवरुद्ध करने पर ५४ पण का दण्ड, सेतु व वन पथ रोकने पर ६०० पण का दण्ड, स्थानीय (आठ सौ ग्रामों का केन्द्रस्थल) का मार्ग रोकने पर ५०० पण का दण्ड, राष्ट्र (जनपद) एवं गोचर भूमि का मार्ग रोकने पर एक हजार पण का अर्थदण्ड, उक्त मार्गो को काट कर संकरा करने या काट कर खेत में मिलाने वाले पर उक्त दण्डों का चतुर्थांश दण्ड देने की व्यवस्था थी ।[१०]

---

१ मनु. ८.२५५; सीमानंराजायथोपकारंविभजेत् । अर्थ. ३.९

२ याज्ञ. २.१५३; अग्निपु.अ. २५७; अर्थ. ३.९

३ अग्निपु.अ. २५७; याज्ञ. २.१५५

४ उद्दिष्टानां सेल्लामदर्शनेसहस्रदंडः । तदेवनीतेसीमहारिणासेतुच्छिचकुर्यात् ॥ अर्थ ३.९

५ मर्यादापहरणे पूर्वसाहसदण्डः । मर्यादाभेदेचतुर्विंशितपणः ॥ अर्थ. ३.९

६ मनु. ८.२६४

७ याज्ञ. २.१५३

८ विपरीतं नमन्तस्तुदाप्याः स्युद्धिशतंदमम् । मनु. ८.२५७, २६७

९ अर्थशा. ३.१०

१० क्षुद्रपशुमनुष्यपथंरुन्धतो द्वादशपणो दण्डः । महा.पशुपथं चतुर्विंशतिपणः । हस्तिक्षेत्रपथं चतुष्पंचाशत्पणः । सेतुवनपथंषट्शतः । शमशानग्रामपथं द्विशतः । द्रोणमुखपथं

९. विक्रीतक्रीतानुशय : क्रयविक्रय

किसी वस्तु को मूल्य के बदले बेच देना विक्रीत, तथा दामदेकर क्रय कर लेना क्रीत कहलाता है । दोनों ही परिस्थिति में अर्थात् वस्तु को बेचकर अथवा खरीद कर पश्चाताप करना अनुशय होता था ।[१]

किसी भी वस्तु का क्रय-विक्रय उसके स्वामी की आज्ञा के बिना अनुचित व अमान्य होता था ।[२] वस्तुओं को मिश्रित कर, कम तोल कर या गर्हित वस्तु को नकली रूप में व रंग देकर बेचना निषिद्ध या धोखा होता था ।[३] वस्तुओं को मिश्रित कर, कमस्तर का कर क्रयविक्रय करना दण्डनीय था । स्वदेश में निर्मित वस्तु को बेचने पर ५ प्रतिशत तथा विदेशी वस्तु को बेचने पर १० प्रतिशत लाभ मान्य था ।[४]

बीज दस दिन, लोहा एक दिन, वाहन पांच दिन, रत्न सात दिन, दासी एक मास, दूध देने वाला पशु तीन दिन, रत्न, दास की परीक्षा पन्द्रह दिन होती थी । इन दिनों में उक्त वस्तुओं को क्रय के उपरान्त वापिस लौटाया जा सकता था । परन्तु निर्धारित अवधि के समाप्त होने पर हानि देख कर, मूल्य कम लेकर, विक्रेता को वस्तु लौटाई जा सकती थी ।[५] द्रव्य नष्ट होने पर देश, काल, भोग, सारता, असारता का ध्यान रखकर शिल्पियों से उनका मूल्य लिया जाता था ।[६] क्रय की गई वस्तु को दूसरे दिन लौटाने पर यदि समय निर्धारित नहीं है तो क्रेता को १/३० भाग मूल्य का, तीसरे दिन लौटाने पर वस्तुमूल्य का १/१५ भाग विक्रेता के पास छोड़ना पड़ता था ।[७]

प्रत्येक प्रकार की चल-अचल सम्पत्तियों को निम्न छः भागों में विभक्त किया गया था ।[८]

१. गणित — गिन कर बेची जाने वाली वस्तु, जैसे :- सुपारी आदि ।

पंचशतः । स्थानीयराष्ट्रविवीतपथं साहस्रः । अतिकृषणे चेषां दण्ड च चतुर्थादण्डाः ॥ अर्थ. ३.१०

१ अग्निपुराण अ. २५३

२ मनु. ८.१९९

३ मनु. ८.२०३

४ याज्ञ. २५२

५ अग्निपुराण अ. २५७; याज्ञ. २.१७७, २५४; नारद ११.४-५; मनु. ८.२२; विष्णु ५.१२७

६ याज्ञ. २.२८१

७ अग्निपुराण अ. २५७

८ अग्निपुराण अ. २५८; नारद ११.२

२. तुलित	—	जो तोल कर बेची जाय, जैसे सोना, कस्तूरी
३. माप	—	जो माप कर बेची जाय, जैसे कपडा आदि
४. क्रियोपलक्षित	—	जिसकी चाल या दोहन (दूध निकालकर) शक्ति देख कर बेचा जाये, जैसे गाय, भैस अश्वादि ।
५. रूपोपलक्षित	—	जिसका सौन्दर्य देखकर बेचा जाये जैसे वेश्या आदि ।
६. दीप्ति से उपलक्षित	—	जिसकी दीप्ति देखकर बेचा जाये, जैसे हीरा, मोती, रत्नादि ।

मूल्य निर्धारण नीति

विभिन्न वस्तुओं की उत्पत्ति के लिये आवश्यक अन्य वस्तुओं के मूल्य, वस्तु निर्माण काल का व्यय, चुंगी, सूद, गाड़ी भाड़ा एवं कुलीव्यवस्था अन्यान्य व्यय जोड़ कर अर्धय (मूल्य) शास्त्र का भिज्ञ संस्थाध्यक्ष मूल्य निर्धारित करता था ।[१] वस्तु की दर प्रतिसप्ताह नृप द्वारा निश्चित होती थी ।[२] बांटों का निरीक्षण छटे मास होता था । बांटों पर राजमुद्रा का चिह्न लगता था ।[३]

समय-समय पर संस्थाध्यक्ष व्यापारियों की तराजू व बटखरों की जांचपड़ताल व निरीक्षण करता था, जिस से ग्राहक को तोल व नाम में कम माल मिलने का भय न हो ।[४] यदि विक्रय की हुई वस्तु को क्रेता मांगे और विक्रेता न देवे, या वह वस्तु जल जाये, चोरी चली जाये, या नष्ट हो जाये, तो हानि विक्रेता को ही उठानी पड़ती थी[५] । दाता एवं ग्रहिता दुःखी न होवे, इस प्रकार क्रयविक्रय की व्यवस्था नृप एव सभासदों की करनी पड़ती थी ।

---

१ प्रक्षेपंपण्यनिष्पत्तिं शुल्कंवृद्धिमक्रयम् । व्ययानन्यांश्चसंचख्याय स्थापयेदर्धमूर्धवित् ॥ अर्थ. ४.२.१

२ मनु. ८.४०२ व ४०३

३ तुलामानभण्डानि चावेक्षेत । अर्थ. ४.२

४ नारद ११.६; विष्णु ५.१२९; याज्ञ. २.२५६

५ दाताप्रतिग्रहीता च स्यातां नोपहतो यथा । दाने क्रय वानुशयं तथा कुर्युः सभासदः ॥ अर्थ. ३.१५.१

व्यापारियों, कृषकों, चरवाहों एवं वर्णसंकरों तथा उच्चवर्गों को वस्तु लौटाने के लिए एक रात्रि से सात रात्रियों की छूट प्राप्त थी ।[१] परन्तु परीक्षण के बाद खरीदी हुई वस्तु लौटाई नहीं जा सकती थी ।[२] चर्म, काष्ठ, ईट, सूत, अन्न, आसव, रस, सोना, परीक्षण के बाद ही क्रय लिये जाने पर भी यदि उनमें दोष निकल आता, तो लौटाये नही जा सकते थे ।[३] मत्त-उन्मत्त-अस्वतन्त्र-मुग्ध जनों से क्रय की गई सम्पत्ति को वापिस करना पड़ता था । जो वस्तु अनुचित मूल्य पर बेची जाती तो वह एकसौ वर्ष उपरान्त भी लौटानी पड़ती थी ।[४] अनुश्य का समय व्यापारियों को एक दिन, कृषक को तीन दिन, ग्वालों को पांच दिन, भूमि हेतू सात दिन नियत था ।[५]

दण्डव्यवस्था

अनुचित क्रय-विक्रय पर दस दिन व्यतीत हो जाने पर, वस्तुओं को लौटाने वाले पर छः सौ पण दण्ड[६] असमय वस्तु बेचने व खरीदने, कम तोलने, इन पर आठगुने के बराबर अर्थदण्ड[७], दोष रहित वस्तुओं को दोषयुक्त कहने पर प्रथम साहस का दण्ड[८], निमिजात तक ५४१, समान मूल्य की वस्तुओं को एक-दूसरे से अधिक व न्यून बतलाने पर पांच सौ पण दण्ड[९], निकृष्ट बीज को उत्तम बताकर बेचने वाले के हाथ व कान काटने का दण्ड[१०] साान बेच कर सामान का मूल्य लेकर, सामान न देने पर ब्याज सहित सौदा देने का दण्ड[११], दोषपूर्ण वस्तु को ठीक कह कर बेचने पर मूल्य का दुगुना अर्थदण्ड देने की व्यवस्था थी ।[१२]

---

१ अर्थशा. ३.१५

२ नारद १२.४

३ व्यास उद्.स्मृ.चं. २, पृ. २२०; नारद ११.९; १२.७ याज्ञ. २.२२५ परमिता. कात्यायन ६९२

४ कात्या. ७०५, ७०६ उ.व्य.नि.पृ. ३४८

५ अर्थ. ३.१५

६ मनु. ८.२२३;

७ मनु. ८.४००; अर्थ. ४.२

८ मनु. ९.२८६

९ मनु. ९.२८७; महा.आदिपर्व ६४.२२; निमिजातक ५४१

१० मनु. ९.२९१

११ याज्ञ. २.२५४

१२ याज्ञ. २.२५७; अग्निपुराण अ. २५८

वस्तु का मूल्य लगाते समय बेईमानी करने वाले पर पांचसौ कर्ष का दण्ड; मूल्य रोकने वालों पर एक हजार कर्ष का दण्ड, मिलावट करने पर पांच सौ कर्ष का दण्ड, जालसाजी एवं कम तोलने पर एक हजार कर्ष का दण्ड,[१] आभूषण को कम तोलने पर मध्यम साहस का दण्ड, तराजू व बटरवरे में छल करने पर उत्तम साहस का दण्ड, आभूषण के माल में चोरी करने पर उत्तम साहस का दण्ड, चोरी करने वाले कारीगर पर दो सौ पण दण्ड; तथा हाथ की पांचों अंगुलियों का छेदन का दण्ड[२] चार माह बाद तराजू व बटखरे का निरीक्षण न कराने पर २७/ १/४ पण का अर्थदण्ड[३] वस्तु बेचकर न देने पर १२ पण दण्ड, कन्या का दोष छिपाकर विवाह करने पर ९६ पण का दण्ड, वर का नपुंसक दोष छिपा कर विवाह करने पर १९२ पण दण्ड, तथा स्त्री धन भी लौटाना पड़ता था । दासदासियों के दोष छिपाकर विक्रय करने पर १२ पण अर्थदण्ड, क्रेता वस्तु क्रय करने के पश्चात् लेने से मना करे तो १२ पण दण्ड[४] एक पल से अधिक या कम होने पर (सामान के) व्यापारी पर १२ पण दण्ड, २ या ३, ४, तथा ५ पल क्रमशः बढ़ने पर २४ पण, ३६ पण, ४८ पण, ६० पण के हिसाब से दन्ड एवं कम सामान पर १२ पण प्रतिपल की दर से दण्ड देय होता था । तराजू में दो कर्ष की कमी होने पर ६ पण दण्ड दर से अतिरिक्त दण्ड, मापक (आढ़क) में एक कर्ष की बटखरे प्रयोग करने से २४ पण दण्ड, गिनकर बिकने वाली वस्तुओं के बेचने पर ५४ पण दण्ड कारीगरों द्वारा माल की उपयोगिता घटाने पर व्यापारियों द्वारा माल रोकने पर, अनुचित मूल्य पर क्रय-विक्रय करने पर एक हजार पण दण्ड, वस्तु तोलने, नापने, बटखरा बदल कर अथवा मूल्य निर्णय में दोष निकालने पर ग्राहक को कष्ट पहुचाने पर २०० पण दण्ड, बिना अनुमति माल संगृहीत करने पर सम्पूर्ण माल का ज़ब्तीकरण क्रय-विक्रय में लाभ लेने पर २०० पण का दण्ड देने की व्यवस्था थी ।[५]

१०. स्वामिपालविवाद

भारत आदिकाल से कृषि प्रधान देश रहा है । अतएव पशु-धन, का पर्याप्त मात्रा में पाला जाना यहां की अपेक्षित एवं स्वाभावित परिस्थितियां रही थी ।

पशु स्वामी, तथा चरवाहे के मध्य उत्पन्न विवाद या व्यवधान स्वामिपाल-विवाद के रूप में मान्यता प्राप्त था पशुपालक प्रातः काल पशुओं को चराकर उन्हें

---

१ अग्निपुराण अ. २२७, अर्थ. ४.२

२ अर्थ. २.१४

३ अर्थ. २.१९

४ अर्थ. ३.१५

५ अर्थ. ४.२

पानी पिलाकर, सन्ध्या काल में पशुस्वामी के यहां सम्भाल देता था।[१] पशुओं की सुरक्षा का दायित्व दिन में गौपालक पर तथा रात्रि में पशुस्वामी पर रहता था।[२]

पशुपालक का वेतन प्रायः अनिश्चित रहता था। वेतन के रूप में गोपालक एक सौ गायों के चराने पर प्रति आठवें दिन सब गायों का दूध निकाल कर अपने उपयोग में लाने, बेचने के प्रति अधिकृत होता था। तथा प्रतिवर्ष दो वर्ष की आयु का एक बछडे सहित एक दुधारू गाय पाता था।[३] परन्तु मनु. ८.२३१ के अनुसार गोपालक प्रत्येक दस गायों में से एक सर्वोत्तम गाय का दूध दूहने को अधिकृत था।

पशुओं की सम्पूर्ण सुरक्षा का दायित्व गोपालक का होता था। प्रत्येक प्रकार से सम्भावित या वर्तमान आपत्ति की दुर्घटना की सूचना पशु स्वामी को देना गोपालक का प्रमुख व अनिवार्य कर्तव्य था।[४] पशुओं की, सर्प, चोर, खड्ड, कन्दरा एवं हिंसक पशु द्वारा उठा लिये जाने पर, पशु पालक को विपत्तिग्रहत स्थितियों के चिह्न, एवं मृतपशु के बाल, सींग, अस्थिपंजर, कान पूंछ आदि पशुस्वामी की दिखाने पड़ते थे।[५] अन्यथा गौपालक को दण्डित होना पड़ता था।

पशु रक्षा हेतु उत्तम एवं अनुकूल चारागाह की व्यवस्था का अनुमोदन स्मृतिकारों ने किया था।[६] बच्चा जनन के १० दिन के भीतर गायों, देवों में पूर्व पुरुषों के सम्मान में छोड़े गये पशुओं, खूंटा या रस्सा तुड़ा कर भागने वाले पशुओं के द्वारा फसल चरने पर उन्हें खेत से निकाल दिया जाता था, परन्तु स्वामी को उपालम्भ या दण्ड नहीं जा सकता था।[७] मार्ग से सटे बाढ़ रहित खेत की क्षति का दायित्व खेत के स्वामी पर होता था।[८]

दण्डव्यवस्था

दूसरे की फसल चरने वाले भैंस के कारण आठ मास से १० मास तक का दण्ड, गाय पर चार या पांच मास का दण्ड यदि गौपालक की उपस्थिति में उक्त

---

१ अग्निपु. अ. २५७; याज्ञ. २.१६४; नारद ९.११

२ मनु. ८.२२०; गौतमध.सू. २.३.१७

३ नारद ९.१०; बृह.उद्.स्मृ.चं. २; पृ. २०८

४ वृहस्पति कृमि चोर व्याघ्रभयाद्दरीश्च भ्राच्चपालयेत। व्यायच्छेच्छक्तित क्रोशेत्स्वमिनेवा निवेदयेत।

५ मनु. ८.२३४-२३६; नारद ९.१७

६ मनु. ८.२३७; याज्ञ. २.१६७

७ मनु. ८.२४२; अर्थ. ३.१०; नारद १४.३०; याज्ञ. २.१६३

८ गौतम ध.सू. २.३१८

कृत्य हो रहा है, तो प्रत्येक का दुगुना दण्ड गौपालक पर लगता था। रक्षित भूमि की फसल नष्ट करने पर फसल क्षतिपूर्ति का दण्ड, जानबूझा कर फसल चराने पर पशुस्वामी पर चोरसदृश दण्ड, गौपालक द्वारा पशु नष्ट करने पर तेरह पण दण्ड के साथ पशुमूल्य की क्षतिपूर्ति करनी आवश्यक होती थी।[१]

अन्न का खेत चराने पर १२ पण दण्ड, खुले पशु छोड़ कर चराने पर २४ पण का दण्ड, खेत की बाड तोड कर चुराने पर ४८ पण का दंड खलियान से अन्न खिलाने पर ९६ पण दण्ड देय होता था। तथा क्षतिपूर्ति भी करनी पड़ती थी।[२] गौपालक द्वारा पशु रक्षा न करने पर अपराध माना जाता था। तथा आर्थिक दण्डगौपालक को दिया[३] जाता था, परन्तु खेत की बाड के अभाव में यदि पशु खेत चर जाये तो ग्वाला दोषी नहीं होता था।[४] रक्षित खेत नष्ट करने पर गौपाल पर १०० पण का दण्ड; तथा पशुस्वामी द्वारा क्षतिपूर्ति करनी होती थी।[५] दायित्व का निर्वाह न करने वाले गौपालक की समस्त सम्पत्ति हरण करली जाती थी।[६] दूसरे की फसल नष्ट करने वाले पशु स्वामी पर आठ पण का दण्ड, पशु के चर कर खेत में बैठने से चार माष से सोलह माष तक का दण्ड; गौपालक की असावधानी से पशु मरने पर, पशु का मूल्य गौपालक के वेतन से काट लिया जाता था।[७]

११. प्रकीर्णक

नृप की उपेक्षा तथा नृपादेश का उल्लंघन एवं प्रतिकूल व्यवहार, प्रकीर्णक विवाद कहलाता था।[८]

---

१ अग्निपु.अ. २५७; याज्ञ. २.१६२; नारद १४.३४; पंचमाषागवि। अश्वमहिष्योर्दश। पडुष्ट्खरे। अजाविषुद्धौ द्वौ। सर्वविनाशशेदः। आप.ध.सू. २.३.१९-२३

२ स्वामिनश्चानिवेद्य चारयतो द्वादशपणोदण्डः। प्रमुंचतश्चतुर्विंशतिपणः। बाट्भेदे द्विगुणः। वेश्मखलवलयगतानां च धान्यानां भक्षणे हिंसा प्रतिकारं कुर्यात्। अर्थ. ३.१०

३ मनु ८.२३२, २३५; आप.ध.सू. २.३.२४; नारद ९.१३-१५; याज्ञ. २.१६४-१६५; विष्णु. ५.१३७-१३८

४ मनु. ८.८३८

५ मनु. ८.२४०-२४१; याज्ञ. २.१५९-२६१; नारद १४-२८,२९; गौतम १२.१९ से २२ तक; अर्थशा. ३.१०

६ मनु. ९.२३१; ऋग्वेद १.४६.२; आप.ध.सू. २.२८.२-३

७ याज्ञ. २.१५९ से १६० तथा ११५; आप.ध.सू. २.२८.७

८ अग्निपुराण अ. २५३; मनु. ९.२७६; याज्ञ. नारद १७.१-४

व्यभिचारी को चोर कह कर छोड़ने वाला एक हजार पण के अर्थदण्ड से दण्डित होता था। राजकीय आदेशों को घटा-बढ़ा कर लिखने, ब्राह्मणों एवं श्रेष्ठ पुरुषों के जल एवं खाद्यान्नों को, मलमूत्र से अपवित्र करने पर उत्तम साहस का दण्ड,[१] नकली (कृत्रिम स्वर्ण) बनाने एवं मांस बेचने पर, नृप आसन पर बैठने या नृप के वाहन (अश्व-हस्ति) पर सवारी करने पर उत्तम साहस का अर्थदण्ड एवं नाक-कान व हाथ छेदन का शारीरिक दण्ड एकसाथ दिया जाता था।[२]

राजा की निन्दा करने, राजाज्ञा का उल्लंघन करने, गुप्तमंत्रणा का रहस्य खोलने, शत्रु पक्ष को भेद देने, राज कर को नष्ट करने, निर्दोष स्त्री ब्राह्मण की हत्या करने, राजकोष हरने पर जिह्वाछेदन, देशनिर्वासन के साथ अनेक शारीरिक दण्ड देकर अपराधी को समूल नष्ट[३] कर दिया जाता था। क्षत्रिय तथा वैश्य एवं शूद्र के अन्न व जल को अपवित्र करने पर क्रमशः मध्यम साहस, प्रथम साहस का आधा दण्ड देय होता[४] था। न्याय में पराजित होकर भी अपनी पराजय न मानने परपराजय के कारण लगे दण्ड का दुगुना अर्थ लगता था।[५] कर्म में दक्ष, निर्दोष ब्राह्मण या यजमान का त्याग करने पर एक सौ पण का दण्ड, माता-पिता-स्त्री-पुत्र के वर्ण से च्युंत होने पर छः सौ पण का अर्थदण्ड देने की व्यवस्था रही थी।[६] भूख के कारण पीड़ित ब्राह्मण को भोजन न देने पर एक माशा चांदी का दण्ड, पर्व एवं उत्सव पर ब्राह्मण को भोजन न देने पर एक माशा सोने का दण्ड, तथा नियमित आहार का दुगुना आहार दण्ड।[७] शव के ऊपर के वस्त्रादि बेचने, पिता एवं आचार्य को ताड़ना देने पर उत्तम साहस का दण्ड[८] शूद्र होकर ब्राह्मण वेष में जीविका निर्वाह करने, आंखे फोड़ने एवं असत्य रूप में राज्य विनाश का प्रचार करने पर आठ सौ पण दण्ड देय होता था।[९]

वस्तु देने की बात कर वस्तु न देने, स्वभ्रात पत्नी का हाथ पकड़ कर शिष्टता त्यागने, किसी की रक्षित वैश्या से गमन करने निन्दनीय वस्तु क्रय करने, दूसरे के सीलबन्द मकान को बिना अनुमति खोलने के कारण प्रत्येक अपराध पर ४८ पण का अर्थदण्ड, न्यायधीश की अनुमति के बिना शपथ दिलाने, अभियुक्त

---

१ याज्ञ. २.२९५; अग्निपुराण अ. २५८

२ याज्ञ. २.२९५, २९६; अग्निपु. २५८; अनक्ष्येण द्विजंद्रष्योदण्ड्य उत्तमसाहसम्। मनु. ९.२९६

३ अग्निपु.अ. २५८; मनु. ९.२३२, २७६; याज्ञ. २.३०२; नारद १७.१०-११; गौ. १२.४६

४ मध्यम क्षत्रियं वैश्यं प्रथमशूद्रमर्धिकम्॥ मनु. ९.२९६

५ अग्निपुराण अ. २५८

६ मनु. ८.३८९

७ मनु. ८.३९२, २९३

८ याज्ञ. २.३०३

९ याज्ञ. ३०४

होते हुये नियुक्त अधिकारी के समान काम करने पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था।[१]

१२. अस्वामिविक्रय

धरोहर, पराये धन, चोरी की सम्पत्ति, प्रतिभू, किसी की छुटी हुई वस्तु, उत्सव की सामग्री आदि का वास्तविक स्वामी, जो भी हो, उसके परोक्ष में विक्रय करना ही अस्वामिविक्रय कहलाता है[२] दूसरे के धन को गुप्त रूप में दान देना भी इसी प्रकार का अपराध माना जाता था।[३] वस्तु को असमय में, रात्रि में या वास्तविक दाम से कम मूल्य पर क्रय करना निन्दनीय एवं दण्डनीय रहा था।[४]

अज्ञानवश अस्वामि वस्तु को क्रय करने पर भी वस्तु के वास्तविक स्वामी को वस्तु लौटा देने पर तथा क्रेता द्वारा विक्रेता उपस्थित करने पर, दण्डमुक्त रहता था।[५] वस्तु न लौटाने पर क्रेता, तथा एकान्त में या कम मूल्य पर वस्तु क्रेता चोर सदृश दण्डित किया जाता था।[६]

खोई गई या चुराई गई वस्तु को देख कर, विक्रेता को पकड़ कर न्यायाधीश के सम्मुख उपस्थित किया जाता था।[७] परन्तु वस्तु के वास्तविक स्वामी को अपना स्वत्व प्रमाणित करने के लिए प्रमाण भी उपस्थित करने पड़ते थे।[८] कहीं ऐसा न हो कि स्वत्व का अधिकार जताने वाला व्यक्ति स्वयं में चोर या कपटी रहा हो।

नृप की अनुमति या न्यायधिकरण के आदेश के द्वारा ही चोरी हुई वस्तु को उसका वास्तविक स्वामी, अस्वामि से प्राप्त कर सकता था। नृप या न्याया-धीश-अनुमति बिना अस्वामि से वस्तु प्राप्त करने पर ९६ पण का दण्ड देने की व्यवस्था रही थी।[९]

---

१ अर्थशास्त्र ३.२०

२ अग्निपु. अ. २५३; नारद ७.१ : निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा। विक्रीयत-असमक्षं यद् विज्ञेयोस्वामिविक्रयः ॥; निक्षेपान्वाहित....सोमिधीयते ॥ बृह.उ.स्मृ.चं.२, नृ- २१३; याचितान्वाहिन्यासं हृत्वाचान्यस्ययद्धनम्। विक्रीयतेस्वाम्यभावे स ज्ञेयोस्वामिविक्रयः ॥ व्यास, उ.व्य. प्रकोश पृ. २९०

३ मनु. ८.१९९; नारद ७.२; याज्ञ. २.१६८

४ मनु. ८.२०२; याज्ञ. २.१६८; विष्णु. ५.१६६; नारद ७.३

५ विष्णु. ५.१६४-१६६; मनु. ८.२०२; नारद ७.४; मनु. ८.३०१, अर्थ. ३.१६ याज्ञ. २.१७०; बृह.उ.; याज्ञ. २.१७० परमिता.

६ मनु. ८.२०२; याज्ञ. २.१६८

७ याज्ञ. २.१६९

८ याज्ञ. २.१७१

९ याज्ञ. २.१७२

१३. अभ्युपेत्य अशुश्रुषा

सेवाकार्य स्वीकार कर लेने के उपरान्त, जब सेवक कार्य का सम्पादन नहीं करता था या सेवा के लिये उपस्थित नहीं होता था, तो सेवक का यह व्यवहार अभ्युपेत्य अशुश्रूषा नामक विवाद[1] कहलाता था ।

सेवक या भृत्य मुख्यतः तीन प्रकार के होते थे। वेतन एवम् योग्यता के अनुसार सेवकों का क्रम विभाजन निम्नवत् रहा था ।[2]

१. उत्तम	सैनिक, मन्त्री, अमात्य, रक्षाधिकारी, न्यायधीश, प्रशासनधिकारी (प्रशासनिक सेवायें) ।
२. मध्यम	कृषिकार्य में संलग्न भृत्य एवं पशुपालक, शिल्प-कार्य में संलग्न व्यक्ति ।
३. हीन	द्वारपाल, सेवा करने वाले ।

पूर्व निश्चित वेतन के अनुरूप एक दिन, एक पक्ष, एक मास, या अधिक समय तक के लिये मृत्यों की नियुक्तियां की जाती थीं । वेतन, अन्न या नकद सिक्कों के रूप में दिया जाता था । गोपालकों को वेतन के रूप में दुग्ध या गौओं को बछड़े सहित देने की परम्परा रही थी ।[3]

भृत्यों के अतिरिक्त दास भी होते थे । परन्तु दासों की स्थित स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र होती थी । दासों को अपने स्वामियों के नियन्त्रण में जीवन यापन करना होता था । परन्तु जिन व्यक्तियों को बलपूर्वक या चुराकर बेचने के कारण दास बनाया जाता था । वे दास भाव से मुक्त माने जाते थे । स्वामी के प्राणों को संकट से बचाने पर या स्वामी का धन वापिस करने पर, प्रत्येक दास स्वतन्त्र[4] हो सकता था ।

दण्डव्यवस्था

कार्य आरम्भ कर, प्रतिज्ञा कर के भी कार्य को मध्य में ही त्यागने वाले को परिश्रम फल से वंचित कर देने का दण्ड दिया जाता था ।[5] स्वस्थ एवं शक्तिसम्पन्न

---

१ अग्निपुराण अ. २५३; याज्ञ. २.१८२; परमिता; मनु. ८.१५६

२ नारद ८.२२-२३; बृह.उद.स्मृ.चं.२, पृ. १९६; आप.ध.सू.२.२.२२.२-३; गौतम १२.१६-१७; नारद ८.२, ३

३ दिनमासार्धषण्मासत्रिमासाब्दभृतस्तथा । कर्मकुर्यात्प्रतिज्ञातं लभते परिमाषितम् । बृह.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १९६

४ अग्निपुराण अ. २५७

५ मनु. ८.१५६

व्यक्ति यदि अहंकारवश कार्य नहीं करता था तो उसे वेतन से वंचित कर प्रतिदिवस आठ रत्ती स्वर्ण से दन्डित करने की परम्परा थी ।[१] इसी प्रकार किसी शुभ कार्य को करने का परामर्श कर, फिर लोभवश कार्य का सम्पादन न करने के कारण राज्य से निष्कासित करने का दण्ड या चारसौ पण का निष्क्रय दण्ड दिया जाता था ।[२]

श्रमिक से काम न कराने वाले व्यक्ति एवं काम न करने वाले सेवक पर १२-१२ पण दण्ड, नियम भंग करने वाले श्रमिकों के संघ पर २४ पण दण्ड, संघ द्वारा वस्तु चुराने पर १२ पण दण्ड[३] नियोक्ता द्वारा समय पर वेतन न देने पर ६ पण दन्ड, वेतन को अग्रिम रूप में प्राप्त कर कार्य न करने वाले सेवक पर बारहपण का दण्ड प्रतिदिन देने की व्यवस्था थी ।[४]

अल्पव्यस्क शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण, को स्वजन द्वारा बेचने पर क्रमशः १२ पण, २४ पण, ३६ पण, ४८ पण का आर्थिक दण्ड यदि विक्रेता दूसरे वर्ग के हैं, तो फिर क्रमशः प्रथम साहस, मध्यम साहस, उत्तम साहस एवं वध दण्ड दिये जाते थे । इसी प्रकार की दंड व्यवस्था बेचने या बन्धक करने के साक्षियों पर भी प्रभावी रही थी ।[५]

दास से मृतक का शव, मलमूत्र तथा जूठन उठवाने वाले, दासी द्वारा नंगे पुरुषों को स्नान कराने पर स्थिति एवं अपराधा नुरूप धनिक दण्डित होता था । दासियों के साथ व्यभिचार करने पर २५० पण दण्ड; बन्धक रखी कन्या से व्यभिचार करने पर बन्धकधन से वंचित तथा कन्या को शुल्क देने तथा शुल्क का दुगुना अर्थदण्ड लगता था । गर्भवती दासी को बेचने या बन्धक रखने वाले पर २५० पण दण्ड निष्क्रय मूल्य प्राप्त कर दास को स्वतन्त्र न करने वाले व्यक्ति पर १५ पण दण्ड प्रतिदिन, जिस दिन से निष्क्रय मूल्य प्राप्त किया है, बिके हुए दास व दासी को पुनः बेचने पर १२ पण का अर्थदण्ड दिया जाता था ।[६]

ब्राह्मण को दास नहीं बनाया जा सकता था तथा न्यूनवर्णका व्यक्ति अपने उच्च वर्ण के पुरुष को दास नहीं बना सकता था ।[७] दास के साथ विवाह करने वाली नारी दासस्वामि की दासी होती थी । सम्पत्तिशाली व्यक्ति अपनी दासियों को

---

१ मनु. ८.२१५

२ मनु. ८.२२०

३ अर्थ. ३.१४

४ अर्थ. ३.१३

५ शूद्र विक्रयाधानं नयतः स्वजनस्यद्वादशपणो दण्डः । वैश्यं द्विगुणः । क्षत्रियं त्रिगुणः । ब्राह्मणं चतुर्गुणः । परजनस्यपूर्वमध्यमोत्तमवधादण्डाः क्रेतृश्रोतृणां च ॥ अर्थ. ३.१३

६ अर्थ. ३.१३

७ उशना उद. विलास पृ. २९६ पर

बेंचने में स्वतन्त्र नहीं थे । ऐसा करने पर २०० पण दण्ड देय होता था ।कोई दास अपने स्वामी को छोड़ कर अन्य का दास नहीं बन सकता था ।[१]

१४. संविद व्यतिक्रम

नियत की हुई व्यवस्था का नाम संविद है । उस व्यवस्थाया संविद का उल्लंघन संविद व्यतिक्रम कहलाता है[२] । नारद ने इसके लिए समयस्यानपाकर्म शब्द का प्रयोग किया है ।

अनेक व्यक्तियों द्वारा किसी विशिष्ट नियम या रूढ़ी को स्वीकार करना संविद कहलाता है ।[३] इन परम्परओं की रक्षा नृप द्वारा होती थी ।[४] इस कार्य हेतु २ या ३ अथवा ५ व्यक्तियों की एक सभा होती थी जो परम्पराओं के प्रचलन का व्यवस्थित करती थी । सभा के सदस्य धार्मिक, लोभ रहित, एवं चरित्रवान् होते थे । क्रान्ति अतिक्रमण एवं अनैतिकता को रोकना इसी सभा का कार्य था ।[५]

दण्डव्यवस्था

परस्पर कपट करने वालों को ६ निष्क का अर्थदण्ड[६] गण, सम्पत्ति का दुरुपयोग करने एवं नियमों को लोड़ने वालों को सम्पत्ति से वंचित कर देश निष्कासन का दण्ड दिया जाता था ।[७] समाज के विपरीत आचरण कर्ता को प्रथम साहस का दण्ड[८] समूह या नियम के, विपरीत बोलने पर, प्रथम साहस का दण्ड,[९] समूह निमित्त प्राप्त धन को समूह में विभाजित न करने पर धन का ग्यारह गुना अर्थदण्ड अपराधी पर देय होता था ।[१०]

१५. वेतनापाकर्म

भृत्यों का वेतन देने तथा न देने से सम्बन्धित विवाद वेतनापाकर्म विवाद कहलाता था ।[११]

---

१ नारद ८.४०

२ अग्निपुराण अ. २५७; मनु. ८.५, २१८, २१९; याज्ञ. १.६१ आप.ध.सू. १.१.१.२०

३ मनु. ८.२१९, २२०; आप.ध.सू. २.४८.१३; नारद १३४.१

४ याज्ञ. २.१९२; नारद १३.२

५ नारद १३, ४,५; मनु. ८.२२०; याज्ञ. २.१८८, १९२

६ मनु. ८.२२०

७ याज्ञ. २.१८७; अग्निपुराण अ. २५७

८ अग्निपुराण अ. २५७

९ याज्ञ. १८८

१० याज्ञ. २.१८९

११ अग्निपुराण अ. २५३, अर्थ. २.३; अर्थ. २.२३; मनु. ७.१२५; याज्ञ. २.१९४

वेतन या पारिश्रमिक, कार्य आरम्भ करने से पूर्व, कार्य के मध्य में, कार्य सम्पादन के पश्चात् जैसा भी नियोजक उचित समझता था, उस प्रकार दिया जाता था।[१] यदि पहले से पारिश्रमिक निश्चित न किया जाये, तो व्यापारी, कृषक एवं ग्वाला के प्रतिनिधि या नौकर को क्रमशः १० प्रतिशत व्यापार का लाभ, अन्न का दसवां भाग, अथवा दूध का दसवां भाग देय होता था।[२] कृषक नियोजक द्वारा नौकरकोवस्त्र भोजन देने के फलस्वरूप लाभ अन्न का पांच प्रतिशित भाग, यदि भोजन व वस्त्र नहीं देता तो लाभ का १/३ भाग देने की व्यवस्था थी।[३] भृत्य द्वारा काल एवं स्थान से सबंघित नियमों का उल्लंघन करने के फलस्वरूप उत्पन्न घाटे के कारण भृत्य के वेतन में स्वभावतः कमी की जा सकती थी।[४] कार्य करने के यन्त्र व उपकरणों की सुरक्षा का दायित्व भृत्यों पर ही होता था। ऐसा न करने के कारण खोये गये उपकरणों का मूल्य, भृत्य के पारिश्रमिक से काट कर क्षतिपूर्ति की जाती थी।[५]

भृत्य के बीमार होने पर या सकंटग्रस्त होने पर वह अपना प्रतिनिधि भेज सकता था।[६] स्वस्थ एवं शक्तिसम्पन्न भृत्य परिश्रमिक लेने के उपरान्त सेवा कार्यनकरे तो ऐसे भृत्य को परिश्रमिक वापिस करना पड़ता था तथा साथ-साथ पारिश्रमिक के धन का दुगुनाधन दण्ड रूप में देना पड़ता था।[७] परन्तु कौटिल्य ने ऐसे भृत्य पर १२ पण अर्थदण्ड की व्यवस्था की थी। साथ ही प्रतिबन्ध यह था कि कार्य भी करना पड़ता था।[८] कृपक भृत्य या गौपालक को शरीर दण्ड भी दिया जाता था।[९]

स्वामी या नियोजक द्वारा वेतन न देने को स्थिति में उस पर छः पण का दण्ड या पूर्व निश्चित वेतन राशि का अर्थदण्ड, वेतन लेकर वेतन नहीं मिला है -

---

१ नारद ९.२

२ नारद ९.३; अर्थ. ३.१३; याज्ञ. २.१९४

३ भक्ताच्छादभृतः सीराद्भागंगृहणीत पंचम्। जातसस्यात् विभागं प्रगृहणीयाद्था भृतः॥ बृह.उ.स्म.चं.२, पृ. २०२

४ याज्ञ. २.१९५

५ नारद ९.४

६ अर्थ ३.१४

७ याज्ञ. २.१९३; नारद ९.५

८ अर्थ. ३.१४; बृह.उ.स्मृ.चं. २, पृ. २०२; कात्यायन ६५७, उ.स्मृ.चं.२ पृ. २०३ पर; मनु. ८.२१५; मत्स्य पुराण २२७.९

९ आप.ध.सू. २.११.२८.२-४

ऐसा कहने वाले नौकर पर १२ पण का दंड या वेतन के पांचवे भाग का अर्थदण्ड लगता था।[1] किसी एक भृत्य से समझौता हो जाने पर, निश्चित अवधि के भीतर स्वामी या नियोजक दूसरा नौकर नहीं रख सकता था।[2] तथा नहीं नौकर दूसरा स्वामी।[3]

माल ढ़ोने वाले की असावधानी से यदि सामान दूषित अथवा नष्ट हो जाने पर भारवाहक को क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी।[4] व्यापारी द्वारा भारवाही पशु के स्वामी से समझौता कर उसे नियुक्त न करने पर, निश्चिति की गई धनराशि का १/४ भाग देना पड़ता था। यदि मार्ग में ही भारवाहक को मुक्त करना चाहे तो पूरा किराया देना पड़ता था। हाथी, अश्व, बैल, गदहा, व ऊंट को किराये पर लेकर काम कराने के पश्चात् किराये की धनराशि के साथ लौटाना अनिवार्य होता था।[5] भृत्य, नियोजक द्वारा कार्य का सम्पादन एवम् रक्षा करता था। वेतन लेकर कार्य को छोड़ देने वाले भृत्य पर वेतन का दुगुना दण्ड लगता था। यात्रा जैसे प्रसंगों में व्यवधान उत्पन्न करेन पर भी भृत्य या नियोजक (तथा स्वामी) परस्पर एक दूसरे को यात्रा आरम्भ के समय, यात्रा के मध्य से पूर्व या यात्रा के मध्य में साथ छोड़ते थे, उन पर क्रमशः वेतन का १/७ भाग, १/४ भाग पूरे वेतन का दण्ड देने की व्यवस्था रही थी।[6]

नियोजक द्वारा ठीक समय पर भृत्य को वेतन न देने पर प्रथम साहस का दण्ड, वेतन लेकर काम न करने वाली स्त्रियों एवं स्तेय प्रवृत्ति में संलग्न शिल्पियों को अंगूठे छेदन का दण्ड[7] दिया जाता था। परन्तु भृत्य के रोगोग्रस्त होने पर कार्य छोड़ देने, तथा पूर्ण स्वस्थ होने पर पुनः कार्य करने के कारण उसे सम्पूर्ण मास का वेतन दिया जाता था।[8]

भृत्यों के वेतन की व्यवस्था उनके कार्यानुसार नियत[9] होती थी उदाहरणतः गृह को शुद्ध करने वाले तथा पानी लाने वाले को एक पण नित्य, एक मास में एक द्रोण अन्न, छटे मास में दो वस्त्र दिये जाते थे। उत्तम कार्यकर्ता को ६ पण नित्य, प्रत्येक मास में ६ द्रोणअन्न छटे मास चार वस्त्र दिये जाते थे। मध्यम दशा

---

१ अर्थ. ३.१३
२ अर्थ. ३.१४
३ याज्ञ. २.१७; नारद ९.९, वि. ५.१५५-१५६
४ नारद ९.७
५ कात्यायन ६६२ व ६६३ उदधृत स्म. च. पृष्ठ २०५ पर।
६ अग्निपुराण अ. २५७; याज्ञ. २.१९३, १९८
७ अर्थ. २.२३
८ मनु. ८.२१६
९ मनु. ७.१२५

के सेवक को ३ पण प्रतिदिन, प्रतिमास ३ द्रोण धान्य, छटे मास तीन वस्त्र दिये जाते थे।[१]

१६. निक्षेप या उपनिधि : धरोहर

जिस समय कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य पर विश्वास कर शंकारहित होकर, उसके पास अपनी वस्तु, द्रव्य, धरोहर के रूप में रखता है, तो उसे निक्षेप या उपनिधि कहते हैं। निक्षेप से सम्बन्धित विधिव्यवस्था, निक्षेप व्यवहार पद कहलाती थी।[२]

अनेक स्मृतिकारों ने निक्षेप एवं उपनिधि का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है।[३] परन्तु आगे चलकर वह एक रूप में समाविष्ट या समायोजित होकर रूढ़ हो गई। निक्षेप को सदैव ही कुलीन, चरित्रवान्, धार्मिक, सन्यासी, दीर्धकुटुम्बी, धनी एवं ऋजु व्यक्ति के पास रखा जाता था,[४] धरोहर की रक्षा का पूर्ण दायित्व धरोहर रखने वाले पर होता था।[५] परन्तु देवसंयोग या चोरी के कारण धरोहर के नष्ट होने पर, धरोहर रखने वाला व्यक्ति उत्तरदायी नही होता था।[६]

निक्षेप साक्षियों के सम्मुख भी रखी जाती थी।[७] धरोहर की वापसी भी सील एवं मूद्रांकित रूप में ही होती थी।[८] धरोहर रखने वाले की मृत्यु के पश्चात्, मृतक के उत्तरधिकारियों को सम्पत्ति (निक्षेप) बिना मांगे लौटा दी जाती थी।[९] धरोहर का उपयोगे, दुरुपयोग करने अथवा खो देने पर पूर्ण निक्षेप लौटानी पड़ती थी। निक्षेप मांगने पर अविलम्ब लौटाना आवश्यक था। ऐसा न करने पर, उस निक्षेप का मूल्य और अर्थदण्ड दोनों देने पड़ते थे। कभी-कभी पांचप्रतिशत ब्याज भी चुकता करना पड़ता था।[१०] धरोहर का स्वेच्छा से भोग करने, लाभ लेने, के

---

१ पणो देयोऽकृष्टस्य षडुत्कृष्टस्यवेतनम्। षाण्मासिकस्तयाच्छादोधान्य द्रोणस्तुमासिक॥ मनु. ७.१२६

२ अग्नि.अ.२५२; अर्थ. ३.१२; मनु. ८.१७९; गौ.ध.सू.२.३.३९; याज्ञ. २.६५, ६७; परमिता.; नारद ५.१, ५

३ मनु. ८.१४९; वशिष्ठ १६.१८; अर्थ. ३.१२

४ नारद ५.२; मनु. ८.१७९ - कुलजेवृत्तसम्पन्ने धमज्ञेसत्यवादिनि। महापक्षेधनिन्यर्थे निक्षेपं निक्षिपेबुधः॥

५ अग्निपु. अ. २५४, मनु. ८.१९२, ८.१८५

६ मनु. ८.१८९; याज्ञ. २.६७; नारद ५.९; बृह.उ.स्म.चं.२, पृ. १७९; अग्नि.अ. २५४; अर्थ. ३.१२; गौ.ध.सू. २.४.३९

७ नारद ५.६; बृह.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १७९

८ याज्ञ. २.६५; मनु. ८.१८५; बृह.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १८१

९ मनु. ८.१८६; नारद ५.१०

१० याज्ञ. २.६६; नारद ५.७८, १३; मनु. ८.१८१; अर्थ. ३.१२

कारण धरोहर रखने वाला अपराधी होता था। धरोहर के साथ उसे धरोहर से प्राप्त लाभ को भी प्रत्यावर्तित करना पड़ता था।[१]

उपनिधि रक्षक द्वारा उपनिधि विक्रय करने या बन्धक रखने पर उपनिधि के मूल्य का चौगुना अर्थदण्ड, उपनिधि बदलने, हेरफेर करने पर मूल्य के बराबर दण्ड, धरोहर वापिस करने के समय आनाकानी करने पर १२ पण दण्ड, या क्षतिपूर्ति का दण्ड, देने की व्यवस्था थी।[२]

ऐसी निधि जो रहन के रूप में प्रत्याभूति के निमित ऋण लेते समय रखी जाती थी, और वह अपने में लाभ देने वाली (उदाहरणत :- गाय एवं भूमि) होती थी तो उस पर ब्याज नहीं लिया जाता था। रहन रखी वस्तु के मूल्य से अधिक धन (ब्याज लगाकर) बढ़ जाने पर, वस्तु को (रहन रखी हुई) विक्रय कर दिया जाता था।[३] रहन रखी हुई वस्तु उपयोग में लाना सर्वथा अमान्य था। उपनिधि को निजी उपयोग में लेने के कारण सूद छोड़ना पड़ता था, या उपनिधि के स्वामी को मूल्य दिया जाता था। रहन रखी वस्तु पर असली स्वामी (रहन रखने वाले) का स्वामित्व बराबर बना रहता था। रहन रखी वस्तु के न लौटाने पर के समान दण्डनीय होता था।[४]

स्वामी के देखते हुए दस वर्ष तक वस्तु का अविरल उपयोग करने के कारण, उपयोगकर्ता को सम्पत्ति पर वास्तविक स्वामी के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। परन्तु बालक, पागल, स्त्री, नृप, वेदपाठी की सम्पत्ति पर उक्त नियम शिथिल रहता था। अर्थात् इनकी सम्पत्ति पर उपयोग या उपभोग कर्ता को वास्तविक स्वामी का अधिकार कदापि प्राप्त नहीं होता था।[५]

निक्षेप को लौटाने वाले, या बिना निक्षेप रखे, निक्षेप को मांगने वाले को चोर के समान निक्षेपानुरुप दण्ड दिया जाता था।[६] निक्षेप का धन अपहरण कर्ता को उसके सहायकों सहित अर्थदण्ड व शारीरिक दण्ड एक साथ देने की व्यवस्था थी।[७] थाती (निक्षेप) के संबन्ध में वृथा एवं असत्य भाषणकर्ता को थाती (निक्षेप) तुल्यदण्ड दिया जाता था।[८] निक्षेप रखने वाले की अनुमति के बिना, निक्षेप को

---

१ अग्निपुराण अ. २५४

२ अर्थशा. ३.१२

३ मनु. ८.१४३

४ मनु. ८.१४४, १४५

५ मनु. ८.१४७, १४८

६ मनु. ८.१९१, १९२

७ मनु. १९३

८ मनु. ८.१९४

विक्रय करने वाले सगोत्री या सकुलीय पुरुष पर ६०० पण दण्ड, दूसरे व्यक्तियों को चोर सदृश दण्डित करने की व्यवस्था थी।[१]

१७. सम्भूयसमुत्थान : साझेदारी

जब अनेक मनुष्य (व्यापारी, शिल्पी, कलाकार, व्यवसायी) परस्पर मिलकर कोई व्यापार या कार्य करते थे, तो वह कार्य अथवा व्यवसाय सम्भूयसमुत्थान या सम्भूयकारिता कहलाता था।[२] इससे संबन्धित विवाद को सम्भूयसमुत्थान विवाद कहते थे।)

सम्भूय का उद्गम् 'सम' उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है एक साथ होना। कुलीन, दक्ष, अनलस, विद्वन, साहसी जनों के साथ ही साझा या सहकारिता को अपनाया जाता था। अन्य जनों के साथ कदापि नहीं।[३] प्रत्येक साझेदार में, स्वर्ण, अन्न, एवं पेय पदार्थो का विभाजन आय-व्यय, हानि-लाभ, तथा परिश्रम के आधार पर होता था। प्रत्येक भागीदार परस्पर साझेदारों की उपस्थिति-अनुपस्थिति में पवित्रता का व्यवहार कर सके ऐसी अपेक्षा समस्त भागीदारों की ओर से रहती थी।[४]

एक साझेदार द्वारा किया गया कार्य प्रत्येक साझेदार द्वारा सम्पादित माना जाता था। संदिग्ध परिस्थितियों का निकारण वे परस्पर मिलकर करते थे। अनेकावसरों पर सत्यता को प्रमाणित करने हेतु वे परस्पर विशिष्ट शपथ या दिव्य का अवलम्ब भी लेते थे। दूसरे साझेदारों की अनुमति के बिना या अज्ञानतावश ऐसा कोई कार्य करता है जिसमें हानि हो जाये, तो उसे व्यक्तिगत रूप में क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। सम्पत्ति की सुरक्षा करने वाले भागीदार को पुरस्कृत भी किया जाता था।[५] दुष्टता एवं छल, प्रपंचकर्ता साझेदार को बिना भाग दिये सहकारिता से पृथक् कर दिया जाता था। साझेदार के विदेशगमन या मृत्यु हो जाने के कारण उसका अंश उसके वास्तविक उत्तराधिकारियों, सजातियों को लौटा दिया जाता

---

१ मनु. ८.१९७, १९८

२ नारद ६.१; अग्नि.अ. २५३; समवेतास्तु येकेचिच्छिल्पिनोवणिजोऽपिवा। अविभज्यपृथाग्भूतेः प्राप्तं तत्र फलं समम्॥ कात्यायन ६२४

३ कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः। आयव्ययज्ञेःशुचिभिः शुरैः कुर्यात् सहक्रियाम्॥ अश्क्तालसरोगार्तमन्दभाग्यनिराश्रयैः। वाणिज्या द्यासहेतैसतु न कर्तव्या बुधैः क्रिया॥ बृह.उद.स्मृ.चं.२, पृ. ८४ पर

४ समक्षसमक्षंवा-अवन्वयन्तः परस्परम्। नानापण्यानुसारात्तेप्रकुर्युः क्रयविक्रयो॥ व्यास, उ.स्मृ.चं.पृ. १८५ पर बृह.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १२५

५ याज्ञ. २.२६०, नारद ६.५; चोरतः सलिलादग्नेद्रव्यंयस्तुसमाहरेत्। तस्यांशोदशसोदेयः सर्वद्रव्येष्वयंविधिः॥ कात्या.उ.वि.र. ६३१, पृ.११४

था । उत्तराधिकारियों तथा सजातीय के अभाव में १० वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त मृत व्यक्ति के धनभाग को सब साझेदार परस्पर समान रूप में विभक्त करने के सक्ष्म होते थे[१]

शिल्पियों के साझे मे नई-नई विधियों के नियामकों का चार भाग, शिल्पविशेषज्ञों को तीन भाग, आचार्य को दो भाग, शिष्य को एक भाग दिया जाता था ।[२] नर्तकों, संगीतज्ञों, गायकों को बराबर भाग, लय मिलाकर बाजा बजाने वालों को आधा भाग, मिलता था[३]

मिथ्या परिमाण बतलाकर, अथवा बहाना बनाकर, विवादस्पद वस्तु का क्रयविक्रय कर्ता पर उस वस्तु के मूल्य का आठ गुना दण्ड लगता था ।[४] चोरी करने वाले व काम छोड़ कर जाने वालों को संघ से सदैव के लिए निकाल दिया जाता था ।[५] शुल्क से बचने के लिए वस्तु के परिमाण को कम बतलाने पर वस्तु मूल्य का आठगुना अर्थदण्ड देना पड़ता था ।[६]

१८. दत्ताप्रदानिक या दत्तस्यानपाकर्म

मनुष्य जब किसी दृव्य या किंसी वस्तु को विविपूर्वक देकर, (दान या अन्य प्रकार, अनुदान, रक्षण व भरणपोषण निमित्त) उसे पुनः लौटा लेना चाहता अथवा उसे लेने की इच्छा करता था तो उस स्थिति को दत्ताप्रदानिक विवाद कहा गया है ।[७] क्योंकि किसी वस्तु को देकर न देना, नियम का अतिक्रमण होने के फलस्वरूप अनुचित रहा था ।

वस्तुओं की स्थिति चार प्रकार से रही थीं[८], १. जो दी न जा सके, २. जो दी जा सके, ३. जिसे देना न्यायानुकूल हो, ४.जिसे देना न्यायानुकूल न हो । मुख्यतः वस्तुएं दो प्रकार की विभाजक स्थिति में रहती थीं ।

---

१ याज्ञ. २.२६४, २६५, नारद ६.७, १७, १८; मनु. ८.२०६-१२२

२ शिष्यकाभिज्ञकुशला-आचार्याश्चेतिशिल्पिनः । एक द्वित्रिचतुर्भागान् हरेयुस्ते यथेत्तरम् ॥ कात्य.उ.वि.र.पृ. १२४-६३२

३ बृह.उ.वि.र. पृ. १२४

४ अग्निपुराण अ. २५८

५ अर्थ. ३.१४

६ याज्ञ. २.२६२

७ अग्निपु.पु.उ. २५३; नारद ७.१; मनु. ८.२१४; परमेधा.; याज्ञ. २.१७५

८ नारद ७.२

१.अदेय वस्तुएं

निक्षेप या धरोहर, याचि तक, साझे की वस्तु, पुत्र एवं पत्नी एवं उनसे संबंधित सम्पूर्ण सम्पत्ति, प्रतिभूत वस्तु आदि का दान नहीं किया जा सकता था तथा न किसी को साधारण या असाधारण प्रकार रूप में दिया जा सकता था। स्मृतियों में इन्हें देना वर्जित ठहराया है।[१]

२. देय वस्तुएं

अपनी सम्पत्ति में से कुटुम्ब के भरण-पोषण का अंश छोड़ कर ही कुछ भाग दान में दिया जा सकता है। जो अपनी उदारता के कारण दान देकर परिवार को रंक बना देते हैं वे निन्दनीय होते हैं।[२] जो लौटाया न जा सके दत्त दान कहा जाता था। इनमें, १. क्रीत वस्तुओं का मूल्य, २. पारिश्रमिक, ३. आनन्दोत्सवार्थ दिया गया धन, ४. स्नेह दान, ५.श्रृद्धा दान, ६.वधूपक्ष् को दिया गया धन, ७. आध्यास्मिकता या दानशीलता के उपयोग का धन।[३]

दण्ड तथा निन्दा भय, रागादि भय के कारण दाने लेने वाले को चोर के समान दण्ड दिया जाता था। अभिमान पूर्वक प्रतिद्वन्द्विता में दान देने पर उत्तम साहस का दण्ड देने की व्यवस्था थी।[४] दान देकर अपहरण कर लेना भी अपराध होता था।[५]

१९. वास्तुकेगृहवास्तुकम्

अचल सम्पत्ति से संबन्धित घर, केदार आदि क्षेत्र, आराम उपवन या बगीचा सेतुबन्ध तथा तडागादि वस्तुयें वास्तु शब्द के अंतर्गत समाविष्ट की जाती थीं।[६] अचल सम्पत्ति को व्यवस्थित करने के लिए विभिन्न प्रकार के नियमों एवं उपनियमों

---

१ नारद ७.३-५; अर्थ. ३.१६; याज्ञ. २.१७५; सामान्यपुत्रदाराधिसर्वत्व न्यासाचितम्। प्रतिश्रुतंतथान्यस्येत्येदेयंत्वष्टवास्मृतम्॥ बृ.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १८९ दक्ष ३.१९, २०; नारद ७.९-११

२ याज्ञ. २.१७५; नारद ७.६; मनु. ९.९, १०; ७; वशिष्ठ ८.१०; सर्वस्वंगृहवर्जतु कुटुम्ब भरणाधिकम्। यदद्रव्यंतत्स्वकं देयमदेयंस्यादतोन्यथा॥ कात्यायन उवि.र. पृ. १२९.६४०; वशिष्ठ ८.१०; याज्ञ. १.१२४ विष्णु ५०८

३ नारद ७८; भृत्यातुष्टापण्यमूल्यंस्त्रीशुल्कमपकारिणे। श्रद्धानुग्रहणेप्रीत्या दत्तमष्टविधे विदुः॥ बृह.उ.स्मृ.चं.२ पृ. १९३

४ अर्थशा. ३.१६

५ याज्ञ. २.१७६

६ सामान्तप्रत्ययावास्तुविवादाः। गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्ध्स्तटाकमाधारो वाचास्तु अर्थ.३८

का निर्माणा स्मृतिकारों ने किया था। जिससे सामाजिक जीवन सुलभ एवं मैत्रीपूर्ण बनकर एक दूसरे का पूरक हो सके।

वास्तु विवाद का निबटारा, आस-पडोस की साक्षी के आधार पर होता था।[1] प्रत्येक घर के चारों ओर कोनो पर लौहस्तम्भ गाड़कर तारादि खींचने की परम्परा थी। यह व्यवस्था सीमा का प्रतीक भी होती थी। इसे सेतु की संज्ञा से जाना जाता था। अपनी भूमि पर मकान बनाते समय प्रत्येक व्यक्ति, को दूसरे के मकान का अवलम्ब लेकर अपना मकान निर्मित करना पड़ता था। मकान में शौचालय, कुआ, पानी रखने का स्थान, पानी निकालने की नालियां, रसोई का निर्माणकरना आवश्यक होत्ता था। नियमों का उल्लंघन कर्ता पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था। छत का पानी उतारने हेतु दीवार से दूर पानी को रखने के निमित्त पतनाला भी लगाना आवश्यक होता था। ऐसा न करने पर ५४ पण का अर्थदण्ड देय होता था। यज्ञशाला तथा गहरे पानी को निकालने के स्थान की व्यवस्था, आटा पीसने की चक्की, अन्न कूटने की ओखली, का प्रबन्ध प्रत्येक गृहस्वामी के स्वावलम्बी जीवन के लिए आवश्यक होता था। प्रबन्ध न करने वाले गृहस्वामी पर २४ पण अर्थदण्ड देय होता था।[2] व्यक्ति दूसरों को हानि पहुचाये बिना अपने भवनों का निर्माण करता था। मकान के द्वार, खिड़की मुख्य मार्ग पर लगाने की परम्परा थी। पानी निकालने व सीढी की व्यवस्था करते समय पडौसी को व्यथित नही किया जाता था। व्यवस्था का अनुपालन न करने वालों का प्रथम साहस कर दन्ड लगता था।अर्थशा. ३.८

मकान स्वामी के कहने पर किरायेदार द्वारा मकान खाली न करने पर, नियमित किराया देने वाले किरायेदार को निकालने वाले मकान स्वामी पर, १२ पणदण्ड, वाक्पारुष्य, साहस स्त्रीस्त्रग्रहण के अपराधी को मकान से निकालने पर मकान स्वामी निर्दोष समझा जाता था। किरायेदार द्वारा निश्चित समय से पूर्व स्वेच्छा से मकान खाली करने पर निश्चित समय का किराया देने को प्रतिपाबाधित होता था। एक ही मकान में रहने वाले व्यक्तियों द्वारा एक दूसरे का परस्पर सहयोग न देने पर, एक दूसरे के आराम में बाधा ड़ालने पर १२ पण दण्ड गृहसम्बन्धी कार्यो में बिगाड़ उत्पन्न करने पर २४ पण दण्ड देय होता था (अर्थशा. ३.८)

अचल सम्पत्ति का विक्रय, सजातीय, पडौसी, ऋणदाता, धनिक, को ही वरीयता के आधार पर किया जा सकता था।

---

१ सामन्तप्रत्ययावास्तुविवादाः। अर्थ. ३.८

२ अर्थ. ३.८

विक्रय विधि

चालीस पड़ौसी विक्रय होने वाले मकान के सामने खड़े होकर, ऊचे स्वर में घोषणा करते हुए कहते थे कि "यह मकान या स्थान बिक रहा है"। पड़ोसी तथा वयवृद्धों को घुमा-घुमा कर मकान क्षेत्र, बाग, बगीचे, सेतु, का पूर्ण विवरण दिया जाता था। तत्पश्चात् घोषणा की जाती थी कि "इतने मूल्य पर कौन इस मकान को क्रय करना चाहता है"? तीन बार इस प्रकार की घोषणा के पश्चात, सजातीय एवं पड़ौसियों द्वारा विरोध न करने पर, भवन व स्थान को कोई भी क्रय कर सकता था। अनेकशः क्रेताओं की प्रतिद्वन्द्विता के कारण विक्रय होने वाली वस्तु का मूल्य, वास्तविक मूल्य के कई गुना बढ़ जाता था।

वास्तविक विक्रेता (स्वामी) की अनुपस्थिति में मूल्य वृद्धिकर्ता पर २४ पण दण्ड विक्रेता का अनादर करने वाले क्रेता पर २०० पण दंड पशु आदि के विक्रय में नियमों का अतिक्रमण कर्ता पर २४ पण दण्ड देने की व्यवस्था रही थी। (अर्थशा. ३.९)।

स्वस्थचित्त व्यस्क को सम्पत्ति को अविरल १० वर्ष तक भोगने के कारण, भोगकर्ता को वास्तविक स्वामी का अधिकार प्राप्त हो जाता था।[1]। परन्तु वेदज्ञ, ब्राह्मण, परिव्राजक व राजपुरुष को सम्पत्ति इस उक्त नियम प्रभावित नही हो सकती थी।[2] गाय-बैल आदि पशु, उपवन, वाटिका, भूमि व दासी का भागकर्ता का अधिकार अल्प समय में ही (दस वर्ष से भी कम समय में) असली स्वामी के रूप में परिवर्तित हो जाता था।

२०. कारुकरक्षणम्: शिल्पियों से रक्षा

राज्य कर्मचारी, शिल्पी, कारीगर, वैश्य, कुशीलव (नट एवं मदारी), भिक्षुक, कृषक (जादुगर), आदि चोर न होते हुए भी अनेकशः राज्य-प्रजाजनों को चोर सदृश शोषित व पीड़ित करते रहते थे। इन वंचकों की पीड़ा से प्रजारक्षण नृप काप्रमुख दायित्व था।[3] इन्हें निम्न रूप में वैधानिक शक्ति द्वारा नियन्त्रित कर दण्डित किया जाता था।

---

१ मनु. ८.१४८; याज्ञ. २.२४; गौतम १२.३५; वशिष्ठ १६.१७; नारद ४.७९

२ गौ.ध.सू. २.३.३५; गौ. १२.२५-२६; वसिष्ठ १६.१८; मनु. ८.१४९ याज्ञ. २.२४; नारद ४८१

३ एवं चौरान् चोराख्याम् वणिक् कारुकशीलवान्। भिक्षुकान् कुहकाश्चान्यान वारयेद्देशपीडनात्॥ अर्थ ४.१.१

देश, काल, कार्य वस्तु का निश्चय न रहने पर, कारीगर द्वारा टालमटोल करने पर निश्चित मूजदूरी का १/४ भाग कम कर दिया जाता था। माल नष्ट करने पर मजदूरी का १/२ भाग काट कर क्षतिपूर्ति का दण्ड दिया जाता था। कार्य को विनिष्ट करने पर मजदूरी का धन नहीं दिया जाता था। अपितु मजदूरी के बराबर अर्थदण्ड देने की व्यवस्था थी।[१] नाप का वस्त्र कम देने पर, कमी के अनुपात में जुलाहे की मजदूरी कम करने के पश्चात् मजदूरी का दुगुना अर्थदण्ड, साथ-साथ दिया जाता था। तोल में वस्त्र कम देने पर, कमी के मूल्य का चौगुना दण्ड सूत बदलने पर सूत के दाम का दूना अर्थदण्ड देने की परम्परा रही[२] थी।

धोबी द्वारा वस्त्र फटने पर क्षतिपूर्ति के साथ-साथ ६ पण दण्ड धोबी द्वारा धुलने आये हुए कपडों को बेचने, बन्धक रखने, किराये पर देने पर, १२ पण दण्ड, वस्त्र बदल देने पर वस्त्र की क्षतिपूर्ति के साथ, वस्त्र मूल्य का दुगुना अर्थदण्ड[३]; सुनार द्वारा आभूषणों को चोरी से गलाने या उनमें परिवर्तन करने पर चोरी दण्ड; सोने के सिक्के से सोना निकालने पर २०० पण दण्ड, चांदी के सिक्के से चांदी निकानलने पर १२ पण दण्ड, घटिया सोने-चांदी पर रंग चढ़ा कर उत्तम बना ने तथा शुद्ध धातु में तांबा या रांग मिलाने पर ५०० पण दण्ड देय होता था।[४]

निंदोष सिक्के को दूषित, दूषित मुद्रा को शुद्ध बताकर, चलाने पर, उत्कोच लेकर अशुद्ध मुद्रा को चलाने का आदेश देने पर १२ पण दंड जाली सिक्का ढ़ाल कर बाजार में चलाने पर १००० पण दण्ड, जाली सिक्कों को राजकोष के सच्चे सिक्कों में मिलाने पर प्राणदण्ड,[५] दिया जाता था।

रास्ते से प्राप्त धन या निधि को हड़पने वाले पर ५०० पण दण्ड, नृप को उचित किये जाने बिना निधि हड़पने पर १००० पण दण्ड, मृत्यु के सन्निकट बीमार

---

१ कालातिपातने पादहीनंवेतनम् तद् द्विगुण्श्चदण्डः। कार्यस्मान्यथाकरणेवेतननाशस्तदद्विगुण्श्च दण्डः॥ अर्थ. ४.१

२ मानहीना व हीनंवेतनं तदिद्वगुण्श्चदण्डः। तुलाहीनेहीन चतुर्गणोदंड़ः। सूत्रपरिवर्तने मूल्यद्विगुणः। अर्थ. ४.१

३ अन्यत्रर्नोनिजतोवस्त्रोपघातं ष्टपणं च दण्डदंदधुः। परवस्त्रावक्रयाधानेषु च द्वादशपणो दण्डः। परिवर्तन मूल्य द्विगुणावस्त्रदानं च। अर्थ. ४.१

४ प्रच्छन्नविरुप मूल्यीहीनक्रंयेषुस्तेयेदण्डः। सुवर्णान्माषकमपहरताद्विशतोदंडः। रूप्यधरणान्माष्कुपहरतो द्वादशपणः। वर्णोत्कर्षससाराणां योगं वा सा धयतः पंचशतो दण्डः। अर्थशा. ४.१

५ रूपदर्शकस्यस्थितांपणयात्रावामकोप्यां कोपयतः कोप्यामकोपयतो द्वादशपणो दण्डः। पणान्माष्कमुपजीवतो द्वादशपणोदण्डः। कुटरूपंकारयतः प्रतिगृहणतो निर्यापयता वा सहस्त्रं दण्डः। कोशेप्रक्षिपतोववः। अर्थ. ४.१

की चिकित्सा (बिना नृप को सूचित किये) करने वाले चिकित्सक पर बीमार की मृत्यु होने पर २५० पण दण्ड देय होता था।[१]

कारीगरों द्वारा निश्चित काम से अधिक कार्य करने पर, निर्धारित मजदूरी से अधिक धन दिया जाता था।[२]

२१. असत्य

असत्य बोलना पाप व अपराध माना जाता था। असत्य को सब दुःखों की मूल समक्ष कर उसका प्रतिकार किया जाता था।[३] मिथ्यावादी को समाज से बहिष्कृत कर, दण्ड द्वारा उसे जर्जरित करने का प्रयास किया जाता रहा था।[४] अतएव सदैव सत्य बोलने पर बल दिया जाता रहा था। सत्य को, तप के समान श्रेष्ठ मान कर मनसा-वाचा कर्मणा अंगीकार करते थे। सत्य को सम्पूर्ण सुखों की मूल माना जाता था।[५]

हिंसक से प्राण रक्षा करने व कराने, अपने या दूसरों के प्राण बचाने, गुरु हित में एकान्त में स्त्री से मनोविनोद करने, अथवा विवाह प्रसंग में असत्य बोलना, दूसरे के धन की एवं धर्म की रक्षा करते समय असत्य बोलना प्रमाणिक व धर्म माना जाता था।[६] कूट साक्ष्य देने पर कठोरतम दण्ड से लेकर निर्वासन तक का दण्ड दिया जाता था।[७]

पशु, गौ, अश्व, एवं मनुष्य के लिये असत्य बोलने पर क्रमशः पांच, दस, सौ, एवं एक हजार पीढ़ी तक नरक भोगने का दैविक दण्ड मिलता था। सुवर्ण के लोभ में असत्य पथ का अनुसरण करने पर भूत व भविष्य की सभी पीढ़ी को नरक का दण्ड, पृथ्वी और स्त्री के लिए अनृत बोलने पर सर्वनाश होने का विश्वास किया जाता था।[८]

---

१ अर्थ. ४.१

२ शेषाणां कर्मणां निष्पत्तिवेतनंशिल्पिनांकल्पयेत्। अर्थ. ४.१

३ तानिसर्वाणि दुःख्खनि प्राप्नातिवितथ ब्रुंवन॥ सभा.पर्व ६८८४ वनपर्व २०७.४२

४ शा.पर्व ३.३२; १५.५२; पारा.स्मृ.धर्मोपदेश ५७ वां श्लोक; अर्थ. २.६

५ वनपर्व २०८.९३; कुलावक जातक ३१

६ कर्णपर्व ६९.२३; शा.पर्व ३४.२५; गौ.ध.सू ३.५.२९; प्राणात्यये विवाह च वक्तव्यमनृतं भवेत्। अर्थस्यरक्षणाथाय परेषां धर्मकारणात्॥ शा.पर्व १०९.१९

७ अग्नि. अ. २२७

८ उ.पर्व ३५.३३, ३४

२२. दम्भ, मात्सर्य (निन्दा) , द्रोह, नास्तिक्य

दम्भ, मात्सर्व, द्रोह एवं नास्तिकता जैसे दुर्गुणों के कारण मानव का चहुंमुखी पतन होना स्वाभाविक रहा था । इन दुगुणों के वशीभूत सामाजिक निन्दा, जैसे कष्ट को सहन करना पड़ता है । मानवीय जीवन का विकास अवरुद्ध हो जाता है । सरल और गतिशील जीवन जड़ बन जाता है । इसी प्रकार से इन दुगुणों का सर्वस्व नाश की मूल समझ कर त्याज्य ठहराया गया था । सभी दुगुणों का पाप और अपराध माना जाता था ।[1]

दम्भ का मद तीन प्रकार का माना जाता था (महाभारत : उद्योगपर्व ३४.४४) ।

१. विद्या-मद, २. धन-मद, ३. कुलीनता का मद ।

दम्भ के वशीभूत कर्तव्य, अकर्तव्य का ज्ञान न रखने वाले, एवं हीन व निन्दनीय मार्ग का अनुकरणकर्ता गुरु भी दण्डनीय होता था ।[2] । निन्दक एवं चुगलखोर की सम्पूर्ण संपत्ति का अपहरण कर, दास बनाने का दण्ड दिया जाता था । अनेकशः देश निर्वासन का दण्ड भी देने की व्यवस्था रही थी ।[3] ब्राह्मण को नीचा दिखाने वाले क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को क्रमशः १०० पण, २०० पण, एवं कारागार में डालने का दण्ड, ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय, वैश्य को अपमानित करने पर ५० पण का दण्ड, वैश्य को अपमानित करने पर २५ पण दण्ड; शूद्र को अपमानित करने पर १२ पण दण्ड, क्षत्रिय का अपमान करने वाले वैश्य पर २५० प ण दण्ड, ब्राह्मण को उपदेश देने का दुस्साहस करने वाले शूद्र की भी जिह्वा काटने का दण्ड दिया जाता था ।[4]

धर्म का अनादर व उपहास करने वाले नास्तिक को राज्य निष्कासन का दण्ड देने का विधान था ।[5] समाज की मर्यादा एवम् अनुशासन को स्थिर रखने के प्रति स्मृतिकार पूर्णतः सजग रहते थे । इसी कारण से उन्होंने व्यवस्था दी थी कि - श्रेष्ठ पुरुषों पर आक्षेप एवम् व्यंग्य करने वालों को उत्तम साहस का दण्ड, श्रेष्ठ व बड़ों के लिए मार्ग न छोड़ने पर १०० पण का दण्ड, श्रेष्ठ पुरुषों का अपराध व अहित करने वालों को अंगछेदन का दण्ड, श्रेष्ठ पुरुषों पर थूकने, पेशाब करने, एवं

---

१ उ.पर्व ३५.५०; अनु.पर्व १०४.३६; सभा पर्व ५.१०७; आक्रोशंपरिवादं च पेशून्यं च विवर्जयेत् ॥ अनु.पर्व १०४.३०; नचैवद्रुह्येत् । वनपर्व २८.९३

२ गुरोरप्युवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य न्यायं भवति शासनम् ॥ अर्थपर्व १३९.५४

३ कुलावक जातक ३१; महासीलव जातक ५१

४ अग्निपुराण अ. २२७

५ महा.आदिपर्व १३९.५९

वायु निकालने (पादने) पर अपराधी को क्रमशः ओष्ठ काट देने, लिंग छेदन करने, गुदा छेदन का दण्ड देने की व्यवस्था रही[१] थी।

२३. ऋणादान

कौनसा ऋण अदेय होता है; ऋण देने तथा वसूल करने की पद्धति क्या है ? इन सब व्यवस्थाओं से युक्त प्रकरण ऋणादान प्रकरण कहलाता था।[२]

ऋण शब्द का उद्गम आदि काल से रहा है।[३] ऋग्वेद का 'ऋण' शब्द, ऐतरेय ब्राह्मण का 'सन्नयति' शब्द; तैत्तिरीय संहिता का 'कुसीद' शब्द; शतपथ ब्राहमण का 'कुसीदी' शब्द; पाणिनि का 'उत्तमर्ण' शब्द 'ऋण' की प्राचीनता के प्रतीक हैं।[४] हमारे सांस्कृति धरातल पर देवऋण, पितृऋण, विप्रऋण तथा ऋषिऋण अतिथि ऋणो की सार्थकता स्वीकार की गई थी।[५] इन्ही ऋणों से प्रभावित होकर लौकिक ऋणों के लेन देन का प्रचलन प्रारम्भ हुआ था। ऋण का अदा करना अनिवार्य था। ऋण अदा न करने पर ऋणी मृत्यु के उपरान्त ऋणदाता के घर मे दास, भृत्य, पशु के रूप मे जन्म लेकर ऋण को अदा करता था। ऐसा विश्वास ऋण अदायगी की प्रेरणा देता रहता था।

मूलधन को आधार मान कर निश्चित लाभ प्राप्त करना कुसीद कहलाता था। तथा इस वृत्ति के कर्ता को कुसीदि कहते थे।[६] चार गुने या आठ गुने रूप में सूद बिना संकोच या अनुताप के ग्रहण करना कुसीद कहलाता था।[७] अनाज को ब्याज के रूप में गृहण करना वृद्धि कहलाता था।[८]

---

१ अग्निपुराण अ. २२७

२ अग्निपुराण अ. २५३

३ ऋग्वेद ८.४७.१०; १०.३४.१०; ऐतब्राह्. १३.४.३.११ ऋणंसन्नयामसि। ऋग्. ८.४७.१७; तै.सं. ३.३.८.१-२; पाणि. १.४.३५

४ ऋग्वेद ६.६१.१; ८.३२.१६; तै.सं. ६.३.१०.५; शतब्रा. १.७.२.११ ऐतब्राह. ३३.१; महा.आ.पर्व १२०.१७-२०; अनु.पर्व ३७.१७

५ नारद ४.५-९; उद्धारादिकमादायस्वामिने नददाति य। स तस्य दासो भृत्यः स्त्रीपुशुर्वाजायते गृहे॥ कात्या. ५५१; समृ.चं.२, पृ.१६८

६ स्थानलाभनिमित्तंहिदान ......कुसीदिनाम्। ४.९८ नारद,

७ कुत्सितात्सीदतश्चैव निर्विशंकैः प्रगृह्यते। चतुर्गुणंचाष्टगुणं कुसीदाख्ययतः स्मृतम्॥ बृह.

८ नारद ४.११०; आप.ध.सू. १.६.१८.२२; १.९.२७.१०; वशिष्ठ २.४१-४२; बौ.ध.सू. १.५.९३-३४

अत्याधिक सूद लेना अपने में चोर पाप व अपराध के साथ निन्दनीय कार्य समझा जाता था। ब्रह्म हत्या कर्ता एवं सूद लेने वाले में सूद लेने वाला गुरु अपराधी माना जाता था।[1] परन्तु मूल धनका १.८० भाग सूद के रूप में ग्रहण किया जा सकता था।[2] अनेकशः दो पण प्रति सैंकड़ा सूद दर भी रही थी।[3]

ऋण प्रकार:

सूद के नाते ऋण निम्न प्रकार से रहे थे।[4]

१. कारिता	—	ऋणदाता द्वारा निश्चित सूद।
२. कालिका	—	प्रतिमास दी जाने वाली वृद्धि।
३. कायिका	—	प्रतिदिन पण के रूप में दिया जाने वाला धन।
४. चक्रवृद्धि	—	ब्याज पर ब्याज लगने की पद्धति।

ऋणदाता द्वारा प्रतिपादित या बन्धक लिखकर या कोई निक्षेप या प्रतिभूति लेकर लेख प्रमाण के साथ साक्षियों की उपस्थिति में ऋणी को ऋण देने की व्यवस्था रही थी।[5] अनेक बार वर्गानुसार अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र पर क्रमशः २, ३, ४, ५, प्रतिशत की दर से ब्याज लिया जा सकता था। यदि ऋणी से प्रतिभूति के रूप में कुछ लिया न गया हो।[6] परन्तु किसी भी रूप में ऋणी से दिये गये ऋण का दुगुना ऋण नहीं लिया जा सकता था।[7] अनाज, फल, ऊन, भारवाही पशु, घृत एवं धूप के ऋणों में पांचगुने से अधिक लेना अपराध[8] था। परन्तु पशु एवं दासियों के विषय में उनकी सन्तानें लाभ रूप में प्राप्त की जा सकती थीं। तेल व धृत के ऋण में आठ गुना, परिधान व अन्न के ऋण में चौगुना व तिगुना तक लिया जा

---

१ वशिष्ठ २.४१; अनु.पर्व ११७.२०; बौ.ध.सू. १५.१०.२४

२ गौतम १२.२६; वशिष्ठ २.२५०; अर्थ. ३.१, मनु. ८.१४०-१४१; याज्ञ. २.३७; बौधायन १.५.९०-९१; नारद ४.९९; अग्नि. २५३

३ मनु. ८.१४१

४ गौतम १२.३१.३२; कात्या. बृ.ऊ.स्मृ.चं.२, पृ. १५४, नारद ४.१०२ व१०४, मनु. ८.१५२

५ बृह.ऊ. स्मृ.चं.२, पृ. १३५; वि.ध.सू. ४.४; याज्ञ. २.२८

६ याज्ञ. २.३७; मनु. १.१४२; नारद ४.१००; विष्णु. ६.२; अग्निपु. अ. २५३;

७ अर्थ. ३.२; मनु. ८.१५१; गौ. १२.२८; याज्ञ. २.३९; विष्णु. ६.११

८ मनु. ८.१५१; गौतम ध.सू. २.३.३२; कुसोदंपशुपजलोमक्षेत्रशदवाहेषुनातिपंचगुणम् १.३३

सकता था ।[१] ऋण की वसूली ऋणी की तीन पीढ़ियों तक से की जाती थीं ।[२] लौटाते समय ऋणदाता ऋण स्वीकार न करने पर सूद बढ़ना बन्द हो जाता था ।

ऋणदाता को आय कर के रूप में पांच प्रतिशत धन राज्यकोष में जमा करना होता था ।[३] चल या अवल सम्पत्ति को बन्धक रूप में रखना आधि कहलाती थी । जंगम, स्थावर, गोप्य, भोग्य, चार प्रकार की आधि होती थी ।[४] आधि के भोग्य होने पर सूद देय नहीं होता था, अपितु ऋणी द्वारा ऋण लौटा देने पर, सम्पत्ति ऋण अदा कर्ता को पहुंच जाती थी ।

कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को बन्धक रखकर, बेच देता था तो क्रयकर्ता को बन्धक का ऋण अदा करना पड़ता था ।[५] साक्षी की अपेक्षा लिखित प्रमाण श्रेष्ठ होता था । यदि एक ही वस्तु को अनेक जगह बन्धक रख दिया जाता तो, ऐसी आधि पर जो व्यक्ति प्रथम अधिकार कर लेता था वह उसकी आधि होती थी ।[६]

आधि का मूल्य कम होने, या आधि के मूल व ब्याज के बराबर होने, या नष्टभ्रष्ट होने पर, ऋणी को दूसरी वस्तु के रूप में बन्धक रहनी पड़ती थी । या ऋण वापिस करना पड़ता था । ऋणदाता को बन्धक के रूप में रखी वस्तु सुरक्षा के साथ रखनी पड़ती थी । यदि बन्धक रखी वस्तु को ऋणदाता उपयोग में लाता तो ब्याज बन्द हो जाता था । आधि के नष्ट होने पर, ऋणदाता को उसका सम्भावित मूल्य अदा करना अनिवार्य होता था । बन्धक वस्तु के खराब होने पर ब्याज देना निषिद्ध होता था साथ-साथ ऋण भी समाप्त ही समक्ष लिया जाता[७] था । ऋणी समय से पूर्व आधि (वन्धक) को मांग नहीं सकता था । परन्तु समयोपरान्त आधि न लौटाने वाला व्यक्ति चोर सदृश दण्डित होता था ।[८] लिखित समय बीत जाने पर, ऋण धन के दूना होने पर, ऋणी की मृत्यु हो जाने पर, ऋण न लौटाने पर, ऋणदाता, ऋणी के संबंधियों एवं साक्षियों के सम्मुख आधि बेच सकता था ।[९] ऋणदाता की अनुपस्थिति में, ऋणी, ऋणदाता के परिवार जनों को ऋण अदा कर आधि प्राप्त कर सकता था ।[१०]

---

१ याज्ञ. २.३९; वशिष्ठ. २.४४-४७; कात्या.एवं बृह.उ.स्मृ.चं.व्य.नि. पृ. २२९

२ गौतम १२.३०; याज्ञ. २.४४

३ अग्निपु. २५४

४ नारद ४.१२४; गौतम १२.३२; मनु. ८.१४३ याज्ञ. २.५९; बृह.; कात्या. ५.७६

५ वशिष्ठ उ.स्मृ.चं.२, पृ. १४५

६ विष्णु. ५.१८५; याज्ञ. २.६०; नारद ४.१२९

७ याज्ञ. २.५९, ६०; पर उद्.वृ.; नारद ४.१२५-१२७; नारद ४.१२६-१३०; विष्णु. ६.६; गौतम १२.३८; मनु. ८.१९; अग्नि. २५४

८ याज्ञ. २.६२; अर्थ. ३.१२

९ याज्ञ. २.६३; अर्थ. ३.१३; याज्ञ. २.५८

१० याज्ञ. २.६२; नारद ४.११२, ११३

प्रतिभू या प्रतिभाव्य

ऋण अदा करने के लिए विश्वास हेतु दूसरे पुरुष के साथ जो समय, शर्त, प्रतिबन्ध या मर्यादा निश्चित की जाती है उसे प्रतिभाव्य कहते हैं।[१]

ऋणी की ओर से ऋणदाता को विश्वास दिलाने वाला व्यक्ति प्रतिभू कहलाता है।[२] अभय एवं शान्ति रखना, ईमानदारी के साथ ऋण दिलाना, ऋणी की सम्पत्ति की ओर से ऋणदाता को प्रत्याभूति देना, ऋणी को उपस्थित करना आदि प्रतिभू का उद्देश्य होता था[३] परन्तु ईश्वर या नृप द्वारा उपस्थापित बाधाओं के कारण प्रतिभू का दायित्व शिथिल माना जाता था।[४] प्रतिभू के निधनोपरान्त, प्रतिभू के उत्तराधिकारी, उत्तरदायित्व से मुक्त रहते थे। यदि प्रतिभू ने ऋणी प्रतिभूति ली होती थी तो उसे उसकी सन्तान को लौटाना पड़ता था। प्रतिभूति लेने वाले अनेक व्यक्तियों को अनुपातानुसार ऋण देना पड़ता था। यदि अनेक प्रतिभू जब सम्मिलित रूप में प्रतिभूति लेते, थे तो ऋणदाता किसी एक प्रति से भी ऋण वसूल कर सकता था।[५]

प्रतिभू या प्रतिश्रभाव्य तीन प्रकार के होते थे :—

१. दर्शनविषयक प्रतिभाव्य — यह उत्तरदायित्व लेने वाला व्यक्ति कि जब आवश्यकता होगी ऋणी को न्यायालय में उपस्थिति कर दूगां।

२. प्रत्ययविषयक प्रतिभाव्य — (विश्वास प्रतिभू) आप इसे मेरे विश्वास पर ऋण दे दीजिये, यह आपको ठगेगा नहीं, मैं इसे जानता हूं।

३. दानविषयक प्रतिभाव्य — ऋणी यदि ऋण वापिस नहीं करेगा, तो मैं स्वयं वापिस करुंगा, ऐसा कथनकरना।

प्रथम दो प्रतिभाव्य ऋण अदायगी के प्रति उत्तरदायी नहीं, होते थे। परन्तु अन्तिम तीसरे को ऋण लौटाना पड़ता था। उसकी मृत्यु पर उसका पुत्र ऋण अदा करता था, क्योंकि ऋण प्रतिभाव्य पर है; ऋणी पर नहीं (अग्निपुराण अ. २५४; मनु. ८.१६०; याज्ञ. २५४)। प्रतिभू के ऋण दिये जाने पर ऋणी को उसका दुगुना देना

---

१ अग्निपुराण अ. २५४

२ गौतम १२.३८; पाणिनि २.३.३९; मनु. ८.१६०

३ अभयेप्रत्यये ...... प्रतिभूर्वुधैः। हारीत उदधृत स्म. च. पृ. १४८ पर।

४ मनु. ८.१५८; कात्यायन ५३१, ५३३

५ याज्ञ. २.५४; नारद ४.१२०; विष्णु ६.४४; मनु. ८.१५६; १६०, १६२ अग्निपु.अ. २५४

पड़ता था (याज्ञ. २.५६), प्रतिभू ने पशु, धान्य, तेल, धृत, दिया है, तो ऋणी को सवारी युक्त पशु, धान्य, का तिगुना, वस्त्र का चौगुना, तेल धृत का आठ गुना, प्रतिभू के यहां देना पड़ता था (याज्ञ. २५७)।

ऋण की उगाही के लिये निम्न पांच प्रकार की व्यवस्था प्रभावी रही थी[१] :—

१. धर्म	—	ऋणी को समझाबूझा कर, निवेदन कर, प्रार्थनाकर, मित्र एवं संबंधियों के द्वारा सन्देश भेज कर ऋण वसूल करने की व्यवस्था करना।
२. व्यवहार	—	न्यायालय द्वारा ऋणी से ऋण लेना।
३. छल या उपाधि	—	(चलाकी) ऋणदाता किसी उत्सव के बहाने, ऋणी के आभूषणादि मंगा कर पुनः न लौटाता, कोई वस्तु मांग वापिस न करना।
४. आचरित	—	(धरना आदि देकर) ऋणी द्वार पर अपने पशु बांध कर या अपनी पत्नी सहित बैठकर उपवास आदि करना।
५. बल	—	ऋणी को ऋण दाता के यहां बुलाकर बांधना, बंद करना, मारना-पीटना।

परन्तु, ऋणी कृषक को फसल के समय तथा राज्य कर्मचारी को नहीं पकड़ा जा सकता था।[२]

यदि ऋणी एक बार में ऋण अदा करने में असमर्थ रहता तथा ऋण का भुगतान अंश रूप में करता था, तो ऋण के लेख्य प्रमाण के पृष्ठ भाग पर, ऋणदाता को धन प्राप्ति लिख कर हस्ताक्षर करने अनिवार्य होते थे। ऋणदाता पृथक से ऋण अंश या पूर्ण ऋण प्राप्ति की रसीद भी लिख कर दे सकता था।[३] ऋणदाता द्वारा प्राप्ति की रसीद न देने पर शेष ऋण धन की प्राप्ति से वंचित भी हो सकता था। ऋण चुकता होने पर ऋण लेख्य प्रमाण पत्र लिख कर ऋणमुक्त व्यक्ति को दे दिया जाता था, कि 'आज से मेरा कोई ऋण शेष नहीं है'। साक्षियों की उपस्थिति में लिया गया ऋण साक्षियों के सम्मुख की लौटाया जाता था।[४]

---

१ मनु. ८.४७, ४८, ४९ :- धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च। प्रयुक्तं साध्येदर्थपंचमेन बलेन च॥ नारद ४.१२२

२ अर्थ. ३.२, ११

३ याज्ञ. २.९३; नारद ४.११४; विष्णु. ६.२६

४ याज्ञ. २.९४; विष्णु. ६.२४-२५; नारद ४.११६

निम्न तीन स्थितियां में ऋण अदा करने का दायित्व संबंधित जनों का होता था — धार्मिक न्यायिक एवं व्यावहारिक, इन सिद्धान्तों के अनुसार पुत्र तथा पोत्रों को ऋण देना पड़ता था।[१] परन्तु प्रपोत्र इस दायित्व से मुक्त रहते थे।[२] कुछ स्मृतिकारों ने पुत्र-पोत्र व प्रपोत्र को आध्यात्मिक का हेतु माना था।[३] फलतः तीन पीढ़ियों के जन श्राद्ध में पिण्डदान करते हैं जो पिण्डदान का अधिकारी होता था वही सम्पत्ति पाता था और ऋण अदा करने के प्रति उत्तरदायी होता था[४] सम्पत्ति अधिकार के साथ पिण्डदान करना व ऋण चुकाना, परम्पारित हो चुका था। पुत्र के साथ रहने वाले असूक्ष्म, जीर्ण, रुग्ण, वृद्ध, सन्यासी, अन्ध, पागल, विदेशयात्रा पर गये पिता का ऋण पुत्र को अविलम्ब देकर ऋण से निवृत्त होना पड़ता था।[५] ज्येष्ठ पुत्र के रहते कनिष्ठ पुत्र पर ऋण अदायगी का अभियोग नहीं चल सकता था।[६]

पिता द्वारा अनैतिक कार्यो, यथा — आसव पीना, द्युतक्रीड़ा दान में देने हेतु, क्रोध या स्त्रीसंग्रहण के निमित्त, के लिये गए ऋण के प्रति पुत्र उत्तरदायी नहीं होता था। परन्तु ऋणी की उपस्थिति के निमित्त पिता के प्रतिभू होने पर पुत्र उत्तरदायी होता था।[७]

अविभक्त परिवार की सम्पत्ति में एक जगह निवासकर्ता, परपस्पर एक-दूसरे ऋणी या ऋणदाता या एक-दूसरे के साक्षी नहीं हो सकते थे[८] व्यक्तिगत हितों हेतु पुत्र पत्नी एवं पिता व पति द्वारा लिये गये ऋण के प्रति पिता, पति, पुत्र व

---

१ अर्थ. ३.२; याज्ञ. २.५०; नारद ४.४; विष्णु ४.२७; कात्या. ५६०; अग्नि.अ. २५४; अर्थ ३.११; याज्ञ. २.४५; अर्थ. ३.५; पुत्रेणापिसमंदेयम् ऋणं सर्वत्र तु पैतृकम्॥ कात्या.मतसं. ३९८

२ विष्णु. ६.२८; नारद ४.४

३ मनु. ९.१३७; बौ. २.९.६; वशिष्ठ १५.१६

४ मनु. ९.१६८; नारद ४.६ गौतम १२.३७; याज्ञ. २.५१; नारद ४.२३ विष्णु. ६.२९; १५.४०; अर्थ. ३.११; गौ.ध.सू. २.३.३७

५ नारद ४.१४; विष्णु ६.२७; अग्नि. २५४; याज्ञ. २.५०; अर्थ. ३.५; धनग्राहिणिप्रेते प्रव्रजिते द्विदशसमाः प्रवसितेवा तत्पुत्रपौत्रैर्धनंदेयम्॥ विष्णु ६.२७; विद्यमानेऽपिरोगार्ते स्वेदेशात्प्रोषितेपिवा। विशात्संवत्सरादेयमृणं पितृकृतं सुतेः।। ३९१ कात्या.मतसं.; व्याधितोन्मत्त वृद्धानां तथा दीघ्रप्रवासिनाम्। ऋणमेवविधं पुत्रान्जीवतामपि दापयेत्॥ सानिधयेपिपितुः पुत्रैऋणंदेयं विभावितम्। जात्यन्धपतितोन्मत्तक्षयश्वित्रादिरोगिणः॥ विद्यमानेपि रोगार्ते स्वेदेशात्रोपितेपिवा। विशात्संवत्सरादेयमृणंपितृकृतं सुतैः॥ कात्या.मतसं. ३९१; कात्या. ५४८-५५० उ.स्मृ.चं.२, पृ. १६९

६ अर्थ. ३.५

७ गौ. १२.३८; मनु. ८.१५९-१६०; अर्थ. ३.१६; वशिष्ठ १६.३१; याज्ञ. २.४७, ५४; गौतम ध.सू. २.३.३८; नारद ४.१०; गृहीत्वाबनधकं यत्र दर्शनस्यस्थितो भवेत्। विनापित्रा धनं तस्माद्दाप्यः स्यात्तदृणं सुतः॥ कात्या.उ.याज्ञ. २.५४ परमिताक्षरा; अग्निपुराण अ. २५४

८ याज्ञ. २.५२; अर्थ. ३.२

पत्नी उत्तरदायी नहीं हो सकते थे परन्तु परिवार के पालन-पोषण एवं रक्षणार्थ लिये गये ऋण के प्रति सब ही (पुत्र, पति, पिता, पत्नी) उत्तरदायी होते थे । पिता, पुत्र के ऋण चुकाने की स्वीकृति देने पर ऋण देने के प्रति उत्तरदायी होता था । परिवार हेतु परिवार स्वामी की अनुपस्थिति में पुत्र, भ्रात, चाचा, पत्नी, माता, शिष्य, भृत्य व दास द्वारा लिये गये ऋण के प्रति परिवार का स्वामी उत्तरदायी रहता था ।[१]

एक व्यक्ति ने यदि अनेक व्यक्तियों से अनेक ऋण लिये हों, तो ऋण पूर्वापर के क्रम से दिया जाता था । सब ऋण दाता एक साथ ऋणी पर ऋण देने हेतु अभियोग नहीं चला सकते थे । पति के द्वारा लिये गये ऋण पर पत्नी को बन्दी नहीं बनाया जा सकता था । परन्तु, ऋणी गोपालक की पत्नी को ऋण चुकता करने हेतु बन्दी बनाया जा सकता था ।[२] प्रमाणित ऋण अदा करना पड़ता था ।[३] ऋण प्रमाणित करने में कम से कम तीन साक्षी आवश्यक होते थे ।[४] यदि ऋणी ऋण परिशोधन में असमर्थ होता था तो मूलधन का सूद लेकर, नया ऋणलेख्य-प्रमाण लिखवा लिया जाता था । अनेक अवसरों पर सूद व मूलधन दोनों को मिलाकर नया लेख्य प्रमाण लिखने की भी परम्परा रही थी ।[५] भांग, गांजा, मद्य से उन्मत्त, व्याधिग्रस्त, कलेषित, बालक, वृद्ध से किया गया ऋण सम्बन्धी लेख्यप्रमाण, सत्य व प्रमाणित नहीं माना जाता था । लेख्य में शास्त्रविरुद्ध लिखी गई प्रतिज्ञायें अमान्य होती थीं । छल व बल से लिख गया व्यवहार भी अमान्य होता था ।[६] धनी व ऋणी के मध्य ऋण भुगतान का समय, वृद्धि व सूद की दर, जो भी निश्चित हुई है, उसे साक्षियों के सम्मुख लेख्य पर लिखा जाता था । ऋणी का नाम, ऋणी के पिता का नाम, साक्षियों के नाम उनके पिताओं के नाम सहित लेख्यपत्र पर लिखे जाते थे । अन्त में लेखक को भी अपने हस्ताक्षर अपने पिता का नाम लिखना पड़ता था । बल-छल-लोभ रहित भाव से प्रेरित स्वहस्त द्वारा लिखित प्रमाण तीन पीढ़ियों तक प्रमाणित होता था । परन्तु आधि (बन्धक) तब तक प्रमाणित माना जाता था जब तक ऋण न लौटाया जा सके । लेख के कहीं छूट जाने, खो जाने, पढ़ने योग्य न रहने, अक्षर मिट जाने, गल जाने, जल जाने, फट जाने, तथा चुरा लिये जाने पर दूसरा

---

१ याज्ञ. २.४७; नारद ४.१०-११; मनु. ८.१६६; प्रोपितस्यामतेनापि कुटुम्बार्थमृणं कृतम् । दासस्त्रीमातृशिष्यैर्वादद्यात्पुत्रेण वा भृगुः ॥ ५४५ कात्या.उ.वि.रत्ना., पृ. ५६ पर पितृव्यभातृपुत्रस्त्रीदासशिष्यानुजीविभिः । यद्गृहीतं कुटुम्बार्थे तदगृही दातुमर्हति ॥ बृह.उ.स्मृ.चं.२, पृ. १०४ मनु. ८.१६७; याज्ञ. २.४५; नारद ४.१२; अर्थ. ३.२; अग्नि. २५४

२ अर्थ. ३.११; याज्ञ. २.४८; अग्निपुराण अ. २५४

३ मनु. ८.४७

४ मनु. ८.६०

५ मनु. ८.१५४, १५५

६ मनु. ८.१६३ मत्तोन्मत्तार्ताध्यधीनैर्बालेनस्थविरेण च । असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति ॥; एवं १६४-१६८

लेख्य प्रमाण बनवा लिया जाता था। संदिग्ध लेख का परीक्षण साक्षी एवं अन्य चिह्नों के द्वारा किया जाता था।[१]

ऋण की वसूली धर्मपूर्वक की जाती थी। समाज, जाति के धनिकों का ऋण उसी क्रम से दिया जाता था जिस क्रम से ऋण लिया गया है।[२] परन्तु वर्ण परम्परा के धरातल पर प्रथम ब्राह्मण, द्वितीय क्षत्रिय, तृतीय वैश्य चतुर्थ शूद्र का ऋण लौटाया जाता था। नृप द्वारा ऋणी से ऋण वसूल करने पर ऋणी से १० प्रतिशत तथा ऋण दाता से पांच प्रतिशत ऋणधन का प्राप्त किया जाता था, ऋण दाता ऋण को न स्वीकार करता तो ऋण आधि को किसी मध्यस्थ के यहां रख दिया जाता था।[३] उसी दिन से सूद लगना बन्द हो जाता था।[४]

ऋणी द्वारा ऋण अदा न करने पर जाति अनुसार ऋणी से काम लिया जाता था। कार्य की मजदूरी से ऋण वसूली की जाती थी। परन्तु उच्च जाति ब्राह्मण ऋणी से श्रम नहीं लिया जा सकता था अपितु शनैः शनैः ऋण लिया जाता था।[५]

ऋणी द्वारा असत्य भाषण करके यह कहने पर कि मैंने ऋण नहीं लिया, परन्तु ऋण प्रमाणित हो जाने पर ऋण धन की वसूली के साथ साथ ही ऋण का दुगुना धन दण्ड रूप में लिया जाता था।[६]

कठिन कार्यों में सूद की दर १० प्रतिशत से २० प्रतिशत तक रहती थी। १०० पण ऋण लेने पर सवा पण मासिक ब्याज, जंगल व दुर्गम मार्ग से व्यापार करने वालों के परस्पर लेनदेन पर १० प्रतिशत पण मासिक; समुद्री मार्ग से व्यापार करने वालों के परस्पर लेनदेन पर २० प्रतिशत ब्याज प्रतिमास लिया जाता था। शास्त्रोल्लिखित ब्याज से अधिक नहीं लिया जाता था।[७] एक मास बाद, दो या तीन मास बाद, या वर्षान्ति मे सूद लिया जाता था। परन्तु चक्रवृद्धि, कालवृद्धि, कारिता, कायिका, आदि ब्याज शास्त्र विरुद्ध होने के कारण लेना निषिद्ध रहा था। दिया ऋण धन मांगने के पश्चात् ऋणी द्वारा न देने पर पांच प्रतिशत ब्याज ऋणी पर देय

---

१ याज्ञ. २.८४-९२

२ याज्ञ. २.४० व ४१, अग्नि पु. अ. २५४

३ याज्ञ. २.४२, मनु. ८.१३९,

४ याज्ञ. २.४४; गौ.ध.सू. २.३.३०

५ याज्ञ. २.४३; मनु. ८.१७७; अर्थ. ३.५ अभियोक्तादंडदत्वाकर्मकारयेत्॥ अग्निपुराण अ. २५४

६ मनु. ८.५४.५९

७ अग्निपु. अ. २५४; बौ.ध.सू. १.५.१०.२३; अर्थ. ३.११ सपादपणाधर्म्यामासवृद्धि पणशतस्य। पंचपणाव्यवहारिकी। दशपणाकान्तारगाणाम्॥; त्रिशतिपणांसामुद्राणाम्॥ मनु. ८.१५२

होता था।[१] अधिकांशतः ब्याज की दर पथ की कुशलता, देश व काल की परिस्थितियों को ध्यान मे रख कर निश्चित की जाती थी। अधिक लाभ की अभिलाषा रखने वाले, गहन वन में जाने पर दस प्रतिशत तथा समुद्री व्यापार में बीस प्रतिशतब्याज लिया जाता था।[२] परन्तु बालक व अकिंचन पर सूद नहीं लगता था।[३]

निर्धारित ब्याज सम्बन्धी नियम का उल्लंघन या अतिक्रमण करने वालों को प्रथम साहस का दण्ड, नियम उल्लंघनार्थ प्रोत्साहन देने पर भी प्रथम साहस का दण्ड, अधिक सूद के आदान-प्रदान में साक्षी देने वाले पर १२५ पण का दण्ड प्रति साक्षी, ऋण लेकर ऋण न देने वाले पर ऋण धन का दुगुना दण्ड देय होता था। सूद की दर निश्चित कर बाद में सूद दर बढ़ाने वाले ऋणदाता पर मूलधन का चौगुना अर्थ दण्ड, थोड़ा धन ऋणी को देकर, तत्पश्चात् ऋणी पर अधिक ऋण बताने वाले पर मूलधन का चौगुना अर्थदण्ड, इस सम्बन्ध की साक्षी देने वाले पर भी मूलधन का चौगुना अर्थदण्ड देय होता था।[४]

२४. विवाह प्रकरण तथा स्त्री-पुरुष विवाद

अपने ही वर्ण की अपने माता-पिता के गोत्र से भिन्न गोत्र की स्वस्थ, सुन्दर, गुणसम्पन्न, अपनी आयु से कम आयु की कन्या से विवाह किया जाता था।[५] मातृगोत्र पांच पुश्त तक, और पिता का गोत्र सात पीढ़ी तक सपिण्ड प्रभावी माना जाता था।[६] सवर्णाभार्या ही सहचारिणी व ज्येष्ठ समझी जाती थी।[७]

तीस वर्ष की आयु के साथ बारह वर्ष की कन्या का विवाह (मनु. ९.९४) प्रमाणिक रहा था। परन्तु आगे चलकर यह नियम शिथिल-सा पड़ गया। १६ वर्ष का वर व १२ वर्ष की कन्या को वयस्क मान कर विवाह प्रचलन प्रारम्भ होता

---

१ मनु. ८.१५३; १५२

२ मनु. ८.१५७; याज्ञ. २.३८

३ अर्थ. ३.११

४ अर्थ ३.११

५ सवर्णासमानार्धाय मातृ-पितागोत्रजाम् २। वेदव्यासस्मृति, द्वितीय अध्याय, विवहविधि वर्णनम्; याज्ञ. १.५२

६ मातृतः पंचमीन्वापि पितृतस्त्वधसप्तमीम् ११ शंखस्मृति, चतुर्थअध्याय विवाहसंस्कारवर्णन; याज्ञ. १.५३

७ नानावर्णास्तु भायांसु सवणां सहचारिणी। धर्म्याधर्मेपु धर्मिष्ठाज्येष्ठातस्यस्वजातिषु ११.१२ अध्या.२ वेदव्यासस्मृ. याज्ञ. १.५३; गौ.ध.सू. ४.१; मनु. ३.५

गया ।[1] व्यथित पीडित, उन्मत्त, असाध्य रुग्णा (कुष्ठादि), एवं मैथुन के अयोग्य कन्या का विवाह अमान्य होता था, परन्तु निर्दोषी क़न्या को दोषलगाना भी दण्डनीय रहा था ।[2]

शुद्ध व पवित्र स्त्रियां विद्वानों को प्रदत्त की जाती थीं ।[3] ब्राह्मण की वर्णक्रमानुसार तीन भार्या (ब्ररह्मण कन्या क्षत्रिय कन्या एवं वैश्य कन्या), क्षत्रिय की दो भार्या (क्षत्रिय कन्या वैश्य कन्या) वैश्य व शूद्र की एक-एक कन्या ही पत्नी हो सकती थीं ।[4] उच्च वर्ण का विवाह शूद्र पत्नी से नहीं हो सकता था, छोटे या न्यून वर्ण से उच्च वर्ण की कन्या का विवाह निषिद्ध था ।[5] सम्भवतः वर्णसंकरता के प्रतिरोधस्वरूप इस व्यवस्था का उद्‌भव हुआ था । परन्तु बौधायान शूद्र कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार करते हैं, ब्राह्मण की चार, क्षत्रिय की तीन, वैश्य की दो, शूद्र की एक पत्नी को स्वीकार किया हैं ।[6]

ब्राह्म, देव, आर्ष तथा प्राजापत्य इन चार विवाहों में अलगाव नहीं हो सकता था । अपनी जाति की कन्या से विवाह करते समय उस का हाथ पकड़ा जाता था । ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिया से विवाह करने पर बाण पकड़ना पड़ता था ।[7]

दूसरा विवाह

धर्मज्ञ पुत्रवती स्त्री के रहते दूसरा विवाह अमान्य होता था ।[8] । स्त्री के पुत्र न होने पर, वन्ध्या होने पर आठ वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त दूसरा विवाह किया जा सकता था । यदि स्त्री मृत पुत्र को जन्म देती, तो १० वर्ष की प्रतिक्षा के बाद; यदि स्त्री कन्या ही कन्या को जन्म देती रहती तो बारह वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त दूसरा विवाह करना न्यायसंगत होता था । परन्तु प्रथम स्त्री को पुरुष द्वारा क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी । नियम का अतिक्रमण करने पर २४ पण अर्थदण्ड; पत्नी के साथ समागम न करने पर पुरुष पर ९६ पण का अर्थदण्ड देने की व्यवस्था रही थी ।[9]

---

१ द्वादश वर्षा स्त्रीप्राप्तव्यवहार भवति । षोडशवर्षः पुमान् ॥ अर्थ. ३.३

२ नोन्मत्तकुष्ठन्या न च या स्पष्टमैथुना । पूर्वदोषनभिख्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति ॥ मनु. ८.२०५ याज्ञ. १.५४

३ अर्थ. ११.१.२७; याज्ञ. १.५५

४ तिस्त्रोब्राह्मणस्यभार्यावर्णानुपुर्व्येण, द्वेराजन्यस्य, एकैकावैश्यशूद्रयोः ११.२४ वशि.स्मृ.; याज्ञ. १.५७

५ याज्ञ. १.५६, ६३ उद्वहेतक्षत्रियांविप्रोवैश्यानख्क्षत्रियोविशाम् । न तु शूद्रां द्विजः कश्चिन्नाधमः पूर्ववर्णजाम् ॥ २.११ वेदव्यासस्मृति

६ बौ.ध.सू. १.८.१६-२-५

७ अर्थ. ३.३; मनु. ३.२५, २६; याज्ञ. १.६२; मनु. ३.४४

८ आप.ध.सू. २.११.१२

९ अर्थ. ३.२; मनु. ९.८१

पत्नी की मृत्यु होने पर भी दूसरा विवाह करने का प्रचलन रहा था।[१]

अतिनीच, पतित चरित्र, विदेश में ही निवासकर्ता, राजद्रोह या महापाप के अभियुक्त प्राणधाती, जाति और धर्म से पतित, एवं नपुंसक पति का पत्नी अविलम्ब त्याग कर दूसरा विवाह कर सकती थी। दूसरा विवाह करने वाली स्त्री को स्त्रीधन लौटाना पड़ता था। पति के दायभाग से भी वंचित कर दी जाती थी।[२]

परस्पर द्वेष के कारण पति व पत्नी पृथक् हो सकते थे। अलगाव में स्त्री से प्राप्त स्त्रीधन पुरुष को लौटाना पड़ता था।[३] विदेश चले जाने पर शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण की पत्नी को चार वर्ष तक पति आगमन की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। यदि पति भोजन आदि व्यवस्था करके गया है तो प्रतीक्षा का समय आठ वर्ष तक होता था। विद्यार्जनार्थ विदेश गये ब्राह्मण की पत्नी को १२ वर्ष तक, राज्य कार्य हेतु विदेश गये व्यक्ति की पत्नी को जीवन पर्यन्त प्रतीक्षा करनी अनिवार्य होती थी।[४]

पत्नी का पूर्ण रूपेण भरण-पोषण करना पति के लिये आवश्यक होता था। यदि पोषण का समय निश्चित है तो नकद धन भी स्त्री को दिया जा सकता था। परन्तु स्वतन्त्र रहने वाली नारी के भरण-पोषण का दायित्व पति पर नहीं होता था।[५] दोष रहित कन्या या पत्नी को त्यागने पर दण्डित होना पड़ता था।[६]

उन्मत्त, वर्णाश्रम से पतित, नपुंसक, वीर्यहीन, पापी, रोगी मद्यपान करने वाली, शत्रुता रखने वाली, घात करने वाली, धन नाश करने वाली, वन्ध्या, कटुभाषिणी को अविलम्ब परित्याग कर दूसरा कर लेना यथोचित रहा था।[७]

स्त्री-धन

वृत्ति और जीविका के लिए स्त्री को दी हुई भूमि, नगद धन अथवा आभूषण स्त्री-धन कहलाता है।[८] माता-पिता द्वारा विवाहकाल में अग्नि के समीप मिला धन

---

१ याज्ञ. १.८९

२ नीचत्वंपरदेशं वा प्रस्थितोराजकिल्विषी। प्राणाभिहन्तापतितस्त्याज्यः क्लीवोऽपि ।१। अर्थशा. ३.२ वा पतिः॥ अर्थ ३.२.१

३ अर्थ. ३.३

४ अर्थ. ३.४

५ अर्थ. ३.३; याज्ञ. १.७६

६ वेदव्यास स्मृति २.९; याज्ञ. १.१७६

७ मनु. ९.[illegible].८०, ८१; याज्ञ. १.७०, ७३

८ वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसाहस्रास्थाप्यावृत्तिः॥ अर्थ. ३.२

वरपक्ष की ओर से शुक्ल रूप में मिला धन, पति कुल में वधू को भेंट या उपहार में मिला धन स्त्री धन होता था।[१]

पुत्रियां स्त्रीधन की अधिकारिणी होती थीं। दुर्भिक्ष में, धर्म कार्य, रोग अथवा बन्धन से मुक्ति पाने हेतु पत्नी से लिये स्त्रीधन को पति द्वारा लौटाना अनिवार्य नहीं होता था।[२] पुत्र तथा पुत्रवधु के अर्थ हेतु विपत्ति या बीमारी के निवारणार्थ, धर्मकार्य पर स्त्रीधन व्यय करना न्यायसंगत माना जाता था। परन्तु गान्धर्व या असुरविवाह के द्वारा स्त्रीधन व्यय करने के उपरान्त, ब्याज सहित मूल को लौटाना पड़ता था। यही स्थिति राक्षस और पेशाच विवाह कर्ता द्वारा, स्त्री धन व्यय करने पर उत्पन्न होती थी। अपितु साथ में चोरीदण्ड का दण्ड देय होता था। स्त्री की मृत्यु हो जाने पर स्त्रीधन, मृतस्त्री के पुत्र-पुत्रियों में बराबर बांट दिया जाता था। पुत्र-पुत्रियों के अभाव में स्त्रीधन पति पाता था। सब के अभाव में स्त्रीधन स्त्री के भ्राताओंका होता था।[३] राजद्रोह, दर्प, मद्य, क्रीड़ा, आदि अतिचार करने तथा पति गृह से पलायन करने वाली स्त्री, स्त्रीधन तथा पितृगृह से लाये शुल्क से वंचित हो जाती थी।[४]

आचरण विरुद्ध स्त्री को बांस की छड़, रस्सी तथा थप्पड़ से दंडित किया जाता था। इतने दण्ड पर भी न मानने वाली स्त्री को वाक्परुण्य तथा दण्डपारुण्य के अनुसार अर्द्धदण्ड से दण्डित करने का विधान था। पति के साथ दुर्व्यवहार करने वाली स्त्री, द्वेष करने वाली नारी को दण्डित करने की व्यवस्था रही थी। वेश्यागामी प्राति पर १२ पण दण्ड, मदिरा पान कर कामक्रीड़ा करने वाली नारी पर तीन पण दण्ड, ऐसी स्थिति में पुरुष द्वारा नाट्यगृह में जाने वाली स्त्री पर १२ पण दण्ड, यदि रात्रि में पर पुरुष-साथ कोई नारी नाट्यगृह में जाती तो २४ पण दण्ड, इसी प्रकार पति की इच्छा के विरूद्ध गृह से बाहर जाने वाली, दरवाजा बन्द कर पति की इच्छा के विरूद्ध चलने वाली, परपुरुषों से मैथुन करने इंगित करने, बातचीत करने वाली नारी पर भी २४ पण दण्ड, इसी प्रकार अपराध पुरुष द्वारा करने पर ४८ पण दण्ड, बाल, कमरबन्द पकड़ने, दांत और मद्य के चिह्न करने पर स्त्री पर २५० पण दण्ड, ऐसे पुरुष पर ५०० पण का दण्ड, शंवित स्थान पर पकड़े जाने वाली स्त्री को कोडे से पीटने का दण्ड, छोटी, बड़ी वस्तुएं तथा सोना-चांदी के उपहार लेने

---

१ अग्निपुराण अ. २५६

२ अग्निपुराण अ. २५६

३ अर्थ. ३.२

४ राजद्विष्टातिचाराभ्यामात्मा पक्रमणेन च। स्त्रीधनानतिशुल्कानाम स्वाम्यंजायते स्त्रियः॥ अर्थ. ३.३.१

वाली स्त्री पर क्रमशः १२ पण, २४ पण, ५४ पण का दण्ड उक्त अपराधों में पुरुषों पर दुगुना दण्ड देय होता था।[१]

पतिगृह से पलायन करने वाले स्त्री पर६ पण दण्ड, रोकने के बाद पुनः पलायन पर १२ पण दण्ड, बिना कहे पडौसी के गृह में जाने पर ६ पण दण्ड, पड़ौसी, भिक्षुक, व्यापारी को पति की अनुमति बिना जगह, भिक्षा देना व समान क्रय-विक्रय करने पर १२ पण दण्ड, प्रतिषिद्ध व्यक्ति के साथ अनाचार करने पर २५० पण दण्ड, दूसरे गांव जाने वाली स्त्री पर २४ पण दण्ड, पराई स्त्री को गृह में रखने वाले पुरुष पर १०० पण्ड दण्ड, स्त्री को भगाने वाले सजातीय पुरुष पर २५० पण दण्ड, स्त्री को भगाने वाले हीन जाति के पुरुष पर भी २५० पण दण्ड, मना करने पर भी दूसरे व्यक्ति के साथ जाने वाली नारी पर स्त्रीसंग्रहण का दोष व दण्ड लगता था।[२]

सगोत्री पुरुष से पति अनुमति पर नियोग हो सकता था।[३]

२५. दायभाग

पिता अपने जीवनकाल में, अपनी सम्पदा को, अपने पुत्रों में विभाजित करते समय, अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक तथा अन्य पुत्रों को समान रूप में विभाजन करता था। साथ-साथ अपनी पत्नियों को भी समान रूप में सम्पत्ति विभाजित करने का विधान था। परन्तु कौटिल्य ने पिता द्वारा, सम्पत्ति विभाजन करते समय सब पुत्रों को समान भाग देने पर बल दिया है। किसी को कम व अधिक नहीं। एक पिता अकारण अपने पुत्रों व पुत्र को सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता था। पिता द्वारा धर्मानुसार किया गया विभाजन अपरिवर्तनीय होता था। परन्तु यह विभाजन पिता के रहते हुए पिता की अनुमति पर ही होता था।[४]

नपुंसक, पातकी, पागल, उन्मत्त, जड़, बन्ध, असाध्यरोग से पीड़ित, पातकी एवं दुगुणों के कारण व्यक्ति दायभाग का अधिकारी नहीं होता था। अपितु, उसका

---

१ वेणुदलरज्जूहस्तानामन्यतमेन वा पृष्टेतिराघातः। तस्यातिक्रये वाग्दण्डपारूष्यदण्डभ्यान्व्मर्धदण्डाः॥ अर्थ. ३.३; मनु. ९.८४

२ अर्थ. ३.४; मनु. ९.८४

३ आप.ध.सू. २.२७.२; याज्ञ. १.६८, ६९

४ अग्निपुराण अ. २५६; जीवद्विभागेपितानैकं विशेष्येत्। न चैकमकारणान्निर्विभज्यते॥ अर्थ. ३.५, याज्ञ. २.११४-११६, १२३, समशस्सर्वेषामविशेषात्॥ बौ.ध.सू. २.२.३८, वौ.ध.स्मृति दायविभागवर्णनम् ३.६.८, आप.ध.सू. २.१३.२; २.१४.१

भरण-पोषण किया जाता था। परन्तु इनके औरस पुत्र दायभाग अधिकारी होते थे।[1]

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्रगण पिता के समस्त धनको बराबर-बराबर बांट लेते थे। लड़कियों को पितृ सम्पत्ति से कुछ भी प्राप्त् नहीं होता था। परन्तु मनु के अनुसार प्रत्येक भ्रातृ अपने भाग का १/४ भाग अपनी बहन को देता था। पिता द्वारा लिया गया ऋण भी बराबर ही बंटता था। मातृ-ऋण चुकता करने पर सब पुत्रियां स्वमातृ धन को बराबर-बराबर बांट लेती थी। बहिनों के अभाव में स्त्री धन को पुत्र बराबर-बराबर बांट लेते थे। परन्तु स्वयं उपार्जितधन, तथा विवाह में मिले धन पर अन्य भ्राताओं का अधिकार नहीं होता था। पिता-माता अथवा पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों का पैतृक सम्पत्ति पर स्वामित्व नहीं होता था। सम्पत्ति विभाजित करते समय अविवाहित भ्राताओं व कन्याओं के विवाहार्थ पर्याप्त धन अलग से दिया जाता था।[2] वयस्क पुत्र (सोलह वर्ष हो जाने पर) पितृ धन के विभाजन की मांग कर सकता था।[3] सदैव समभाग प्रामाणिक माना जाता था। देश, जाति, समाज, और ग्राम के धर्मानुकूल व्यवहार के आधार पर उस देश के लिए दायभाग की व्यवस्था की जाती थी।[4]

संयुक्त परिवार में पुत्र-पौत्रों में सम्पत्ति का विभाजन पिता के अंश (सम्पत्तिभाग) के आधार पर होता था।[5] परिवार के कुल सदस्यों की गणना के आधार पर नहीं। पितामह की सम्पत्ति, पिता के स्वामित्व के अनुसार पौत्रों में निम्न प्रकार से विभक्त होती थी।

---

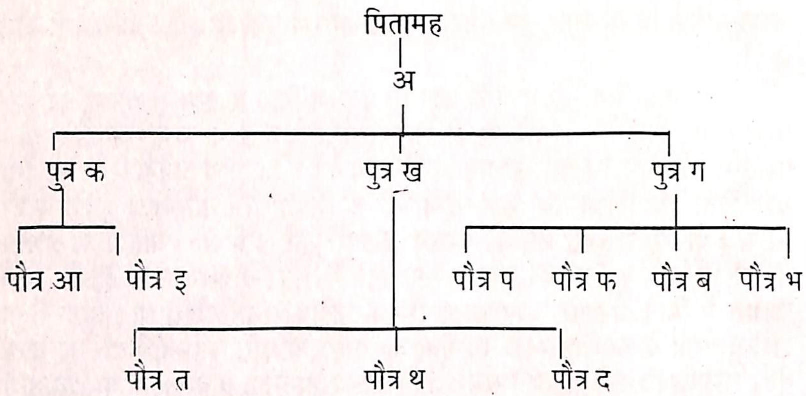
१ गौतम २८.४१; आप.ध.सू. २.६.१४.१; वशिष्ठ १७.५२, ५३; विष्णु १५.३२-३९; देवल ५.११ दायभाग; याज्ञ. ३.२२७; विष्णु ३५.१; मनु. ११.३४; महा.शा.पर्व १६५.३७; वशिष्ठ १.२२; याज्ञ. ३.२६; छान्दो.उ.प. ५.१०.९; शत.ब्रा. १३.३.१; आप.ध.सू. २.।४.१; अग्निपु. अ. २५६; मनु. ९.२०१, २०३; बौ.२.२.४३-४६; याज्ञ. २.१४०-१४१; नारद; दायभाग २१, २२ पतितः पतिताज्जातः क्लीबरश्चानरशः। जडोन्मत्तान्धकुष्ठिनश्च॥ अर्थ. ३.५; गौतम २१.१-३

२ अग्नि. २५६; अर्थ. ३.५; ऋणरिक्थोः समोविभागः॥; एवं ३.४, २.४ सन्निविष्टमसन्निविष्टेभ्योनैवेशनिकं दद्यु॥ अर्थ. ३.५ अदायादाभगिन्यः। मातुः परिवापादभुक्तकांस्मा भरणभाजिन्यः॥ अर्थ. ३.६ मनु. ९.१०४.११८; १३१, २०६, २०८, २१५, २१८, १९२, १९३; २.११७-११९, याज्ञ. २.११७, ११८, ११९, १२४; आप.ध.सू. २.१४.१४ याज्ञ. १२४ गौ.ध.सू. ३.१०.१,२२; सर्वे धर्मयुक्ताभागिनः॥ असव. ध. २.१४.१४

३ प्राप्तव्यवहाराणांविभाग। अर्थ. ३.५

४ मनु. ९.११९; देशस्य जात्या संघस्यधर्मोग्रामस्यवापि यः। उचितस्तस्यतेनैव दायधर्मप्रकल्पयेत्॥ अर्थ. ३.७.१

५ अग्निपु. अ. २५६; अर्थ. ३.५; याज्ञ. २.१२०, १२१



'अ' पितामह की सम्पत्ति विभाजन के समय, उसके क-ख-ग नामक तीन पुत्रों में १/३, १/३, १/३ बराबर भाग से विभक्त होती थी। तत्पश्चात् १/३ भाग के 'क' के दो पुत्रों 'आ' एवं 'इ' को, १/३ भाग 'ख' भाग के तीन पुत्रों त-थ-द को १/३ भाग 'ग' के चार पुत्रों प-फ-ब-भ में बंटता था। इस प्रकार 'अ' पितामह की सम्पत्ति उसके नौ पौत्रों में बराबर न बंट कर उनके पिता के अंश के अनुरुप ही प्राप्त हो सकती थी।

चार पीढ़ी तक के व्यक्ति, अर्थात् पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, अपना दायभाग पाने में सक्षम होते थे। क्योंकि चार पीढ़ी तक पिण्ड विच्छिन्न नहीं होता, ऐसा स्मृति का मत रहा है। चौथी पीढ़ी में पिण्ड विच्छिन्न होने के कारण जितने भी व्यक्ति जीवित रहते थे, वे सब अविभक्त सम्पत्ति में से बराबर अंश पाते थे।[१] प्रपितामह, पितामह, पिता स्वयं एक माता-पिता से उत्पन्न अपने भ्रात, सवर्णपत्नी से उत्पन्न पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सपिण्ड कहे जाते थे।[२] परन्तु प्रपौत्र का पुत्र सपिण्ड नहीं होता था।[३] सम्पत्ति विभाजन के नाते सपिण्ड का अपना महत्व होता था। औरस पुत्र एवं अन्य सम्बन्धितों के अभाव में सम्पत्ति सपिण्ड प्राप्त करता था। सपिण्डों के अभाव में सकुल्यों को अपने वर्ण की या ठीक अपने से नीचे वर्ण को पत्नी से उत्पन्न पुत्र सवर्ण कहलाता है।[४]

---

१ पितृद्रव्यादविभक्तौपगतानां पुत्रापौत्रावा आचतुर्थादित्यंशभाजः तावद्विच्छिन्नः पिण्डो भवति। विच्छिन्न पिण्डाः सर्व समं विभजेरन्॥ अर्थ ३.३१; एक पिण्डास्तुदायादाः पःथग्दारनिकेतनाः। पारा.स्मृ. ३८; गौतमस्मृ. : पुत्राणांसम्पत्तिविभागव. बौ.ध.सू. २.२.३.३१, ३२; गौ.ध.सू. ३.१०.३०

२ बौ. धर्मसूत्र १.५.११.७,

३ बौधायन ध.सू. १.३५११.९-११; गौ.ध.सू. ३.१०.१९, २५; आप.ध.सू. २.१४.२,३

४ बौधायन ध.सू. १८.१६.६

बारह प्रकार के पुत्रों — औरस, पुत्रिका पुत्र, क्षेत्रज, गुढ़ज, कानीन, पौनर्भव, दत्तक, क्रीत,कृत्रिम, दत्तात्मा, सहोढ़ज, अपविद्ध, में पहले के अभाव में उत्तर (बाद) का पुत्र पिण्डदाता तथा सम्पत्ति, एवं धनांश भागी होता था। वानप्रस्थी, संन्यासी और वैष्ठिक ब्रह्मचारी के धन को आश्रमवासी प्राप्त करते थे। सम्पत्ति का अधिकार, पुत्र अभाव में कन्या, कन्या अभाव में, पिता, पिता अभाव में पिता का सहोदर, सहोदर के अभाव में भ्रातृ पुत्र को मिलता था। जिस संपत्ति का कोई अंशधारी नहीं होता था, वह सम्पत्ति राज्य नियन्त्रण में चली जाती थी।[१] अनुचितरीति से उत्पन्न पुत्र सम्पत्ति अधिकार से वंचित रहता था। जबकि नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र सम्पत्ति प्राप्त करता था।[२] प्रथम दल में औरस, पुत्री का पुत्र, क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढ़ोत्पन्न एवं अपविद्ध, दायाद, बान्धव होने के कारण पिता की संपत्ति पाते है।[३] दूसरे दल के कानीन, सहोढ़, क्रीत, पौनर्भव, स्वयं दत्त, एवं शौद्रहैये केवल पिता का गौत्र धारण करते हैं।[४]

सात पीढ़ी तक धन का अधिकारी, मृतक का समीपस्थ सपिंड या सकुल्य सन्तति या आचार्य अथवा शिष्य या वेदपाठी जितेन्द्रिय ब्राह्मण होता था।[५] सन्यासी या मृत्यु को प्राप्त सन्तानहीन सहोदर भ्रात का अंश, शेष सब भ्रतायें एवं भगिनियों में बराबर बराबर-बंटता था।[६] पिता की मृत्यु के उपरान्त बड़े भाई द्वारा संयुक्त संपत्ति से एकत्र धन का अंश, उसेक अनुज भ्रात को भी मिलता था।[७] एक बार सम्पत्ति विभाजित होने पर, पुनः स्वेच्छा पूर्वक सम्मिलित होकर यदि फिर सम्पत्ति से अर्जित धन को बांटा जाता तो सब अंशधारियों को बराबर अंश मिलता था। ऐसे समय बड़े भाई की ज्येष्ठता का क्रम टूट जाता था। धन या सम्पत्ति विभाजन पश्चात् उत्पन्न पुत्र संपत्ति का अधिकारी होता था। अन्य भ्राताओं व भगिनी के अभाव में निःसंतान पुत्र का धन माता को, माता के अभाव में दादी को मिलता था। वस्त्र, वाहन, अलंकरण, शीशे के पात्र, बना हुआ अन्न, पानी का कुआ,

---

१ सर्वाभावेराजादायंहरेत् आ.ध.सू. २.१४.५; गौ.ध.सू. ३.१०.३०; अग्निपु.अ.२५६; अर्थ. ३.५; मनु. ९.१३१, १३२, १३५, १८४; १८५; याज्ञ. २.१३५, १३६, १३२; गौ.ध.सू. १.१०.१८.१६; बौ.ध.सू. २.२.३.४४; आप.ध.सू. २.।४.४; दुहिता वा; द्रव्यमपुत्रस्यसोदयाभ्रातरः, सहजीविनोवाहरेयुः कन्याश्चरिवथम्। पुत्रवतः पुत्राः दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः। तद्भवे पिताधरमाणः। पित्रभावेभ्रातरो भ्रातपुत्राश्च॥ अर्थ. ३.५मनु. ९.१८४ व १८५, याज्ञ० २.१३२,

२ मनु. ९.१४४, १४५, १४६

३ मनु. ९.१५८, १५९; नारददायभाग ४७; वसिष्ठ १७.३८

४ मनु. ९.१६०

५ मनु. ९.१८७, १८८

६ मनु. ९.२१२; गौ.ध.सू. ३.१०.२५, २६

७ मनु. ९.२०४

आने-जाने के मार्ग का विभाजन कदापि नहीं होता था।[१] दासी से शूद्र द्वारा उत्पन्न पुत्र पितांश प्राप्त करता था।[२] एक स्त्री के दो पतियों द्वारा उत्पन्न पुत्रों में मातृधन को लेकर विवाद का निर्णय करते ससमय पुत्र को वही धन मिलता था जो उसके पिता ने उसकी मां को दिया था।[३] माता-पिता द्वारा जो वस्तु जिस पुत्र को दी जाती थी, वह वस्तु उसी पुत्र की होती थी।[४] सम्पत्ति विभाजन के समय छिपा कर रखे गये धन को, ज्ञात होने पर सब भ्रात परस्पर मिलकर, विभाजित कर लेते थे।[५] पुत्रहीन देवर से नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र दोनों की सम्पत्ति का अधिकारी होता था।[६]

शूद्रा पत्नी से उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा के अनुरूप सम्पत्ति का अंश प्राप्त कर सकता था।[७] पिता की मृत्यु पर अन्य भ्राताओं एवं भगिनियों के अभाव में सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी होता था।[८] वानप्रस्थी, यति, ब्रह्मचारी की सम्पत्ति का अधिकार क्रमशः धर्मभ्राता, तथा आश्रम वासी का होता था।[९] अविवाहित बहिन की मृत्यु पर, बहन का धन उसके भ्रात को मिलता था।[१०]

अपने गौत्र से उत्पन्न हुए पुत्र को, पुत्रप्रतिनिधि बनाया जा सकता था। दूसरे गौत्र के बालक को गोद लेना मना था।[११] पुत्र की दान देना, क्रय-विक्रय करना घोर अपराध था।[१२] परन्तु वशिष्ठ ने पुत्र को दान देना, विक्रय करना, त्याग देना, समुचित एवं न्याय संगत स्वीकार किया है।[१३]

जब एक पुरुष के यहां अनेक वर्णो की स्त्रियां पत्नी रूप में होतीं थीं तो सम्पत्ति का विभाजन करते समय ब्राह्मणी के पुत्र को संपत्ति ४ भाग, क्षत्राणी पुत्र को ३ भाग,

---

१ मनु.९.२१०,२१६,२१७,२१९; याज्ञ.२.१२२; गौ.ध.सू.३.१०.२७; रथः पितुः परिभाण्ड च गृहे। आप.ध.सू.२.१४८

२ मनु.९.१७९

३ मनु.९.१९१

४ याज्ञ. २.१२३

५ याज्ञ. २.१२६

६ याज्ञ. २.१२७ का.मतसं. ६८१-६८९

७ याज्ञ. २.१३३,१३४

८ याज्ञ. २.१३७

९ पारा.स्मृ. १.५६ धर्मोपदेशः; आप.ध.सू. २.१४.१५

१० गौ.ध.सू. ३.१०.२३

११ ऋग्वेद ८.७.४

१२ आ.ध.सू. २.।३.१० : दानक्रयधर्मश्चापत्यस्य न विद्यते।

१३ वशिष्ठ स्मृ. १५.२ : तस्य (पुरुषस्य) प्रदानविक्रयत्यागेषु माता पितरो प्रभवतः॥ याज्ञ. २.२१५; बौ.ध.सू. २.२.३.१०

वैश्यापुत्र को २ भाग, शूद्रा के पुत्र को एक भाग दिया जाता था।[१] शूद्रा पुत्र ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के अंश को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता था।[२] ब्राह्मणधपुत्र यज्ञ का सामान, क्षत्रिय पुत्र युद्ध सामान, वैश्य पुत्र व्यापार से सम्बन्धित सामान शूद्र पुत्र कृषि सम्बन्धित सामान व उपकरण प्राप्त करता था।[३] क्षत्रिय की क्षत्रिया पत्नी से उत्पन्न पुत्र को तीन भाग, क्षत्रिय की वैश्य पत्नी के पुत्र को दो भाग, क्षत्रिय की शूद्रा पत्नी के पुत्रों को एक भाग मिलता था।[४]

माता के विवाहक्रम की ज्येष्ठता से पुत्र की ज्येष्ठता मानी जाती थी। एक साथ जन्म लेने वालों में प्रथम जन्म लेने वालों में प्रथम जन्मा बालक ज्येष्ट होता था। अपने सदृश वर्ण की स्त्रियों में ज्येटता का क्रम पुत्रोत्पत्ति से होता था, माता के विवाह क्रम से नही।[५] मनु. ९.१२३, १२५, १२६। औरस पुत्र उत्पन्न होने पर अन्य सवर्णा तृतीयांश ग्रहण करते थे।[६] ज्येष्ट भ्राताः के अतिरिक्त अन्य भ्राताओं के अयोग्य होने की दशा में, ज्येष्ट भ्रात को सम्पूर्ण सम्पत्ति में से उत्तम द्रव्य के साथ २० वां भाग, मध्यम वाले को ४० वां भाग, तीसरे को ८० वां भाग; अन्य शेष भ्राताओं को शेष का समान भाग।[७] सम्भवतः सम्पत्ति की सुरक्षा व स्थायित्वार्थ ही ऐसी व्यवस्था मनु. करनी पड़ी थी। कभी बड़े भाई को दो भाग, मध्यम वाले को डेढ भाग, तथा छोटे को सम्पत्ति का केवल एकभाग ही मिलता था।[८] बड़े भाई के स्वर्ग सिधार जाने पर, बड़े भाई के वर्तमान पुत्र को सम्पत्ति विभाजन में सिधार जाने पर, बड़े भाई के वर्तमान पुत्र को सम्पत्ति विभाजन में सिधार जाने पर, बड़े भाई के वर्तमान पुत्र को सम्पत्ति विभाजन में बराबर अंश मिलता था, परन्तु बड़े भाई वाला अधिक भाग नहीं।[९] नृपतन्त्रीय परम्परा में सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी ज्येष्ट भ्रात होता था। शेष भ्रातओं का भरण-पोषण सामुहिक सम्पत्ति से बराबर होता रहता था।[१०] प्रत्येक दशा में वस्तुओं का दशांश ज्येष्ठ पुत्र को अधिक

---

१ चतुरोंशन्हरेद्विप्रस्त्रींनंशान्क्षत्रियासुतः। वैश्यपुत्रों हरेद्व्यमंश शूद्रसुतो हरेत्॥ मनु. ९.१५३; बौ. स्मृति दायभागवर्णनम्। ९, १०; चातुर्वण्यपुत्राणां ब्राह्मणी पुत्रश्चतुरोंशान्हरेत्। क्षत्रियापुत्रस्त्रीनंशान्। वैश्यापुत्रोद्वावंशौ। एव शूद्रापुत्रः। अर्थशा. ३.६

२ मनु. ९.१५५

३ अर्थशा. ३.६

४ अर्थशा. ३.६

५ मनु. ९.१२३, १२५, १२६

६ औरसेवतन्नेसवर्णास्तृतीयांश हराः। बौधा.स्मृ. ॥

७ मनु. ९.११२-११४

८ मनु. ९.११७

९ मनु. ८.१२०

१० आप.ध.सू. २.१४.६; गौतम सू. ३.१०.३

मिलता था ।पिता द्वारा त्यक्त निजी उपकरण, यान, आभूषणादि पर ज्येष्ट पुत्र अधिकार होता था । अन्य वस्तुयें सब पुत्रों में बराबर विभाजित होती थी ।आभूषण् एवं बन्धुवान्धव से प्राप्त धन पत्नी का होता था ।[१] माता-पिता, पति द्वारा दिया गया धन, विवाह में अग्नि के निकट मिला धन स्त्रीधन कहलाता था ।[२] पाणिग्रहण के समय पिता द्वारा दिया गया धन, विवाह में अग्नि के निकट मिला धन, विदा के समय दिया गया धन, प्रसन्नतापूर्वक पति, भ्राता, पिता, माता द्वारा विभिन्न अवसरों पर दिया गया धन स्त्री धन कहलाता था ।[३]

ब्राह्मण, देव, आर्ध, गान्धर्व, प्राजापत्य इन पांच विवाहों में प्राप्त स्त्रीधन को, निस्संतान स्त्री की मृत्यु पर के उपरान्त उसका पति प्राप्त करता था । असुर, पेशाच, दाक्षस, विवाहों में प्राप्त स्त्री धन को निस्संतान सत्री की मृत्यु के उपरान्त मृतस्त्री का पिता प्राप्त करता था । उसका पति नहीं ।[४] दुर्भिक्ष एवं धार्मिक कार्यो के सम्पादन के अवसर पर रुग्ण व बन्दी होने पर, लिये गये स्त्रीधन को पुनः प्रत्यावर्तित करने के लिए पति उत्तरदायी नहीं होता था ।[५]

विभाग अर्थात् सम्पत्ति विभाजन की अस्वीकार करने पर, विभाग का निर्णय जाति के लोगों, बन्धुओं, साक्षियों, व लेख्य प्रमाणों के द्वारा होता था ।[६]

पितामह की सम्पत्ति में पिता एवं पुत्र का स्वामित्व को लेकर अधिकार एक समान हो होता था ।[७] पत्नी, पुत्र एवं दास जो भी कुछ अर्जित करते थे उस पर पति, पिता, तथा स्वामी का स्वामित्व प्रमुख होता था ।[८] पिता के रहते हुए पुत्र का स्वत्व, सम्पत्ति पर नहीं होता था ।[९] प्रथम सम्पत्ति का विभाजन, पिता द्वारा पिता के जीवन काल में[१०] दूसरे पिता की मृत्यु के उपरान्त होता[११] था । पिता के वृद्ध होने पर, जबकि उसकी सम्पूर्ण इच्छायें मृतप्रायः हो गई हों, तो पुत्र सम्पत्ति का विभाजन कराकर अपना दायभाग ग्रहण कर सकता था ।[१२] वयस्क भ्रात संयुक्त

---

१ अलंकारोभार्यायाः ज्ञातिधनंचेत्येके । आप.ध.सू. २.१४.९

२ याज्ञ. २.१४३

३ मनु. ९.१९४

४ मनु. ९.१९६, १९७, याज्ञ. २.१४५

५ याज्ञ. २.१४७

६ याज्ञ. २.१४९

७ याज्ञ. २.१२१; विष्णु. १७.२

८ मनु. ८.४१६, नारद (अभ्युपेत्याशुश्रुषा, ४१); उ.पर्व ३३.६४

९ मनु. ९.१०४

१० आप.ध.सू. २.६.१४.१; बौ.ध.सू. २.२८; याज्ञ. २.११४; नारद दायभाग ४; गौतम २८.२

११ मनु. ९.१०४; याज्ञ. २.११७; नारद दायभाग २, गौतम २८.१

१२ गौतम २८.१-२; नारद दायभाग-२; सरश्र. २.११४

परिवार में इकट्ठे या पृथक्, स्वेच्छा के आधार पर रह सकते थे ।[1] साधारणतः वयस्क होने पर ही सम्पत्ति का विभाजन होता था ।[2] अल्प व्यस्कों की सम्पत्ति, स्त्रियों तथा असहाय पुरुषों की सम्पत्ति, राजकीय सेवाओं में रत व्यक्तियों की सम्पत्ति की सुरक्षा का दायित्व नृप पर होता था ।[3]

भूमि व गृह आदि, नकद धन रुपया, तथा द्रव्य (सोना, चांदी एवं धातुएं) कुल तीन प्रकार की सम्पत्ति होती थी ।[4] किसी व्यक्ति के अपने भ्रात, सवर्ण पत्नी के पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र एक दल में आने के कारण अविभक्त दाय सपिण्ड कहे जाते थे । इनके अभाव में संपत्ति सकुल्यों को मिलती थी ।[5] पुत्रः पौत्र एवं प्रपौत्र के अभाव में मरने वाले व्यक्ति का सम्पत्ति पत्नी, पुत्रियों, पुत्री का पुत्र, माता-पिता, भ्रात उनके पुत्र, गौत्रज, बन्धु (सपिण्डजन), शिष्य एवं सहपाठी क्रम से अर्थात् प्रथम के अभाव में उससे अगले को मिलती थी ।[6]

स्त्री अपने पति के धन का उपयोग मात्र कर सकती थी, परन्तु पति को सम्पत्ति का विक्रय, दान देने का अधिकार नहीं था ।[7] कुछ विधिशास्त्रियों ने तो स्त्रियों को रिक्थाधिकार से वंचित समझ लिया था ।[8] परन्तु अधिकांश स्मृतिकारों ने नारी को सम्पत्ति अधिकार प्रदान करने पर बल दिया है ।[9]

सभी प्रकार के उत्तरधिकारियों के अभाव में, तीनों वेदों के ज्ञाता, शुद्ध एवं आत्मनिग्रही ब्राह्मण को धन व सम्पदा प्राप्त होती थी ।[10]

---

१ गौतम २८.४; मनु. ९.११; नारद दायभाग ३७

२ अर्थ ३.५; बौ. २.२.४२

३ मनु. ८.२७; वशिष्ठछ १६८; विष्णु ३.६५; गौतम १०.४८, ४९

४ याज्ञ. २.१२१

५ बौ.ध.सू. १.५.११३-११५

६ पत्नीदुहितरश्चैवपितरौभ्रातरस्तथा। तत्सुतागौत्रजाबन्धुशिष्यस ब्रह्मचारिणः १.१३५; एषमभावेपूर्वस्यधनयभागुत्तरोत्तरः। स्वर्यातस्य ह्यपुत्रस्यसर्ववर्णेष्वयं विधि। १.१३६; याज्ञ. २.१३५, १३६; वि.ध.सू. १७.४-५

७ अनुशासन पर्व ४७.२४

८ गौतम २८.१९; आप.ध.सू. २.६.१४.१

९ मनु. ९.१३०; ऋग्वेद ३.३१.१; नारद दाय भाग ५०; विष्णु ध.सू. १७.४-१६; याज्ञ. २.१३५-१३६

१० मनु. ९.१८०-१८९; नारद दायभाग ५१-५२; वि.ध.सू. १७.१३-१४ बौ.ध.सू. १.५.१२०-१२२

अपील
(पुनर्निवेदन)

अपील की आवश्यकता एवं आधार

स्मृति काल में न्याय को पूर्णतः पवित्र रखने की भावना की प्रेरणा के फलस्वरूप अपील (पुर्नवाद स्थापन) की परम्परा विद्यमान रही थी। यदि व्यक्ति प्रबल तथा पुष्ट प्रमाणों की असमर्थता या परिस्थितिवश प्रस्तुत करने में असमर्थ रहने के कारण पराजित हो जाता, तो पुनः सबल व पुष्ट प्रमाण उपस्थित कराकर अभियोग पुनः अवलोकन कराने में सक्ष्म व अधिकृत माना जाता था। न्याय प्राप्त करना उसका अपना विशिष्ट एवं मौलिक अधिकार था। न्याय देना, पवित्रता की स्थापना करना तत्कालीन न्यायव्यवस्था का दायित्व समझा जाता था। अनेक बार विभिन्न कारणों से श्रुति व स्मृति के विपरीत किया गया निर्णय समाजकल्याण के विपरीत होने के कारण, अपील का हेतु बन जाता था।[१]

स्मृति काल में नृप तथा न्याय सभा को पुनर्विचार कर निर्णय देने के असीमित अधिकार प्राप्त थे। असत्य तथ कूटसाक्षी के द्वारा पराजित पक्ष पुनः न्याय प्राप्ति के लिए उच्च न्यायाल को आवेदन कर सकता था।[२] सभ्यों के पक्षपात एवं अन्य दोष के कारण अशुद्ध निर्णय में पराजित पक्ष को नृप न्यायालय मे विवाद के पुनरावलोकन कराने का अधिकार था। परन्तु पुनरावलोकन के समय यदि पूर्व निर्णय ही न्याय संगत व प्रमाणित माना जाता तो ऐसी परिस्थिति में पराजित को पूर्ण दण्ड का दुगुना दण्ड देना पड़ता था। यदि निर्णय में न्यायविद् अपराधी ठहरते, तो पराजित पक्ष की सम्पूर्ण क्षति न्यायविदों को दण्ड स्वरूप वहन करनी पड़ती थी।[३]

---

१ ऋग्वेद ८.३८.१०; १...३१.११; यजु. ८.३४; ३३.१५; साम. ८१३; अथर्व २.५४. अग्निपु. अ. २२७; वि.स्मृ.राजधर्मा अध्याय; धम्मद जातक २२० याज्ञ. २.३०५; २.४; कात्या.मतसं. ३७६-३७७; पारा.स्मृ. १७९ धर्माचर वर्णन; मनु. ७.११६-११७; शा.पर्व ८७.११; बृह. १.३०

२ नारद २.४०

३ मनु. ८.११७; याज्ञ. २.३०६; नारद १.६२-६३

निर्णय की अवहेलना न हो, इस भावना को न्याय मर्यादा के रूप में परिपालित किया जाता था। प्रत्येक पराजित पक्ष दण्ड का दुगुना धन न्यायालय में प्रत्याभूति के रूप में जमा कर, पुनर्विचार (अपील) का प्रार्थना पत्र प्रस्तुत कर सकता था। स्वयं नृपति से भी यदि शास्त्रविरूद्ध निर्णय हो जाता, तो नृप भी शास्त्र मार्ग के आधार पर अपने ही द्वारा किये गये निर्णयों पर पुनः विचार करता था।[१]

यदि व्यक्ति अपने ही द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों के कारण पराजित होता है तो ऐसी दशा में पराजित पक्ष पुनर्विचार का आवेदन नहीं कर सकता था। ऐसा पक्ष पूर्णतः पराजित पक्ष समझा जाता[२] था। लघु (छोटा) न्यायालयों के निणर्यो पर पुनः विचार का उचित पक्ष की स्थापना करना नृप न्यायालय का प्रमुख दायित्व रहा था।[३]

पुनर्न्याय के सभी सम्भावित उपायों की व्यवस्था की स्थापना कर, स्मृतिकालीन विधि शास्त्रियों ने तत्कालीन न्यायपलिका को निर्मलता एवं पक्षपात रहितता के आवरण में ढ़ाल कर प्रस्तुत किया। फलतः स्मृतिकालीन न्यायप्रणाली लोक कल्याणी रूप में प्रस्थापित हो सकी।

निम्न कारणों के फलस्वरूप नीचे न्यायालयों की अपीलें उच्च न्यायालयों को हो सकती थीं, या उच्च न्यायालयों में नीचे, के न्यायालयों से पराजित पक्ष अभियोग चला सकता था।[४]

१. अज्ञानता एवं अविनीतता के कारण पराजित पक्ष यदि न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय को दोषयुक्त या अनुपयुक्त ठहरता था, तो अपने अभियोग का पुनः निर्णय सक्ष्म उच्च न्यायालय से करा सकता था। परन्तु इस प्रक्रिया से निकलते हुए पुनः पराजित हो ने पर पहले के अर्थदण्ड का दुगुना अर्थ दण्ड देना पड़ता था।[५]

---

१ न्यायपेतं यदन्येन राजाज्ञानकृतं भवेत्। तदप्यन्यायविहितं पुनर्न्याये निवेशयेत्॥ कात्यायव २९५

२ नारद २.४०

३ कुलादिभिर्निश्चितेऽपि न सन्तोषं गतस्तु यः विचार्य सत्वत राजाववतं पुनरुद्धोत॥ कात्या. ३३७। कुलादिभिः कृतं कार्यं विचार्य यथोत्तरम्। असन्तुष्टस्य कर्त्तव्यं यावद्राशा कृतं भवेत्॥ पितामह, उ.व्य.नि.पृ. १५ विष्णु स्मृति राजधर्माध्याय।सामवेद पूर्वाचिक् अध्याय १ एकादशीरशती

४ बृहस्पति १.३०

५ ऋग्वेद ४.२२.१०; नारद १.६५; कात्या. ४९६; याज्ञ. २.३०६; अग्निपुराण अ. २२७; थम्मदजातक २२०

२. न्यून न्यायालय का ऐसा निर्णय, जो कूटविधि छलविधि , एवं बल के द्वारा निर्णीत हुआ है, तो सक्षम उंच्च न्यायालय में उसके विपरीत अभियोग स्थापित कराया जा सकता था ।[१]

३. पराज़ित पक्ष के अल्पवयस्क, पागल, मद्यपि, असाध्यरोगी, विपत्ति एवं आपदाग्रस्त, एवं शत्रु द्वारा प्रताड़ित व्यक्ति या स्त्री के अभियोग का पुनराव-लोकन होता था ।[२]

४. नृप अपने ऐसे पूर्व घोषित निर्णय को, जो शास्त्रानुकूल न दिया गया हो, पुनः विचार के लिए स्वीकार कर, ठीक निर्णय दे सकता था ।[३]

पक्षपात, प्रलोभन, भय के आधार पर सभ्यों द्वारा दिये गये निर्णय का पुनरावलोकन होता था, सन्देह की पुष्टि होने पर, सभ्यों एवं पूर्वजयी पक्ष को अभियोग में नियत अर्थदण्ड से दूने अर्थदण्ड से दंडित किया जाता था ।[४] कभी ऐसे न्यायाधीशों की सम्पूर्ण सम्पत्ति छीन ली जाती थी । या सभ्य के कम अपराध पर १००० पण का दण्ड देय होता था ।

पराजित पक्ष न्यायालय के निर्णय के प्रति अनास्था, शंका व्यक्त करते हुए एक आवेदन पत्र तैयार करता था । आवेदन पत्र में पूर्व न्यायालय द्वारा शोषित निर्णय के पीछे छिपी हुई दुर्बलताओं को व्यक्त कर, सक्ष्म उच्च न्यायालय में पूर्व निर्णय को चुनोति देता था । सक्ष्म न्यायालय की न्यायपीठ (विशेष सभा) पराजित पक्ष द्वारा प्रस्तुत आवेदन पर विज्ञता पूर्वक, विचार करती थी । यदि-स्थितियां आदि का अवलोकन करने के पश्चात् आवेदन पर निर्णय लेते हुए सभा आवेदन को स्वीकृत या अस्वीकृत कर सकती थी । सभा द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों एवं उत्पन्न शंकाओं की क्रमशः पूर्ति व स्पष्टीकरण अपील कर्ता को अविलम्ब प्रस्तुत करना होता था । अपील की अस्वीकृति पर पूर्व न्यायालय का निर्णय प्रभावी हो जाता था । परन्तु अपील की स्वीकृति पर पूर्व न्यायालय का निर्ण तब तक के लिए शिथिल हो जाता था, जब तक अपील सुनने वाली बेंच, न्यायाधीश या नृप अभियोग का पुनः निरीक्षण कर, अपना निर्णय घोषित न कर दे । अन्तिम अपील-बेंच का

---

१ याज्ञ. २.३१; यस्मिन्यस्मिन्विवादे तु कौटसाक्ष्यं कृत भवेत् ।
तत तत्कार्यं निवर्तेत कृतं नाप्यकृतं भवेत् ॥ मनु. ८.११७

२ बलोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत् । स्त्रीनकतमन्तरागारबाहिः शत्रुकृतांस्तथा ॥ याज्ञ. २.३१ मत्तोन्यत्तार्तव्यसिनिबालभीतादियोजितः । असंबद्ध कृताचैव व्यवहारी न सिद्धयति ॥ याज्ञ. २.३२

३ याज्ञ. २.३०६

४ याज्ञ. २.३०५; नारद १.६ मनु. ९.२३१; मत्स्यपुराण २२७.१५८, २३४

निर्णय अन्तिम होता था। अपील-बैंच के निर्णय को अन्यत्र चुनौती नहीं दी जा सकती थी। तथा न पुनः नया अभियोग ही स्थापित किया जा सकता था।[१]

प्रारम्भिक न्यायालय की अपील, उससे ज्येष्ठ न्यायालय में होती थी। अपील के समय न्यायालय की ज्येष्ठता का क्रम प्रभावी होता था। किसी भी रूप में न्यायालय की ज्येष्ठता की उपेक्षा या अतिक्रमण नहीं हो सकता था। प्रत्येक ज्येष्ठ न्यायालय का न्यायाधीश (सभ्य) अपने से न्यून न्यायालय का अपीली प्रतिवेदन सुनता था। ज्येष्ठ (प्रमुख उच्चतम न्यायालय) में अपीलों को विशिष्ट न्यायाधीशों की निश्चित मंडली सुनती थी। इस बेंच का अध्यक्ष नृप होता था। इस स्थिति में नृपको सभापति के अलंकरण से सुशोभित किया जाता था।[२] इस न्याय परिषद् के न्यायधीशों संख्या तीन या पांच होती थी। प्रतिवेदनकर्ता एवं उत्तर पक्ष को इस परिषद के सामने उपस्थित होना पड़ता था।[३]

साधारण रूप में ग्रामाधिपति के न्यायालय द्वारा घोषित निर्णय के विरूद्ध, निर्णीत अभियोग की अपील दशग्रामाधिपति के न्यायालय में; दशग्रामअधिपति के निर्णय के विरूद्ध अपील विंश (बीस) ग्रामाधिपति न्यायालय में, विंश ग्रामाधिपति के न्यायालय के विरूद्ध अपील शतग्रामाधिपति न्यायालय में, शतग्रामधिपति के निर्णय के विरूद्ध सहस्त्रग्रामाधिपति न्यायालय में; एवम् तत्पश्चात् नृप न्यायालय में अपील की जाती थी।[४]

---

१ यजु. ३३.१५; साम. पूर्वाविक् १.११.१०; अथर्व. १९.३.४; २.५.४ धम्मजातक २२०; मनु. ९.२३३; याज्ञ. २.३१; अर्थशा. २.५; सोननन्द जातक ५३२ असत्सदिति यः पक्षः सभ्येरेवावधार्यते। तोरितः सोनुशिष्टस्तु साक्षि वाक्यात् प्रकीर्तितः॥ कात्या.मत. ३७६ दुर्दुष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वाव्यवहारान्नृपेणतु॥ याज्ञ. २.३०५ । शा. ८७.११; भवेत् स तान् मरिक्रामेत् सर्वानैव सभासदः॥ पाराशर स्मृति धर्माचरवर्णनम्।

२ यजु. ३३.१५; सामवेद पूर्वाचिक् १.११.१०; मं. १६७५, १७४३, १७४५ धम्म जातक २२०

३ पारा.स्मृ.ध.वर्णन, १६९, १७९; अर्थशा. २.५; सोननन्दजातक ५३२

४ मनु. ७.११७, ११८; शा.पर्व ८७.४, ५ ग्रामदोषाणांग्रामध्यक्षः परिहारंकुर्यात्। अशाक्तोदशग्रामाध्यक्षाय निवेदनत्। सोप्यशक्तः शताध्यक्षाय। सोप्यशवतोदेशाध्यक्षाय॥ वि.स्मृ.राजधर्मा.

अपील-क्रम[१]

निम्न अंकित क्रमानुसार प्रत्येक उच्च न्यायालय अपने से नीचे के न्यायालय की अपील सुनने हेतु सक्षम न्यायालय होताथा ।[२]

१. पुरुष न्यायालय

१. नृप

२. उच्चतम न्यायालय

अ- धर्मस्थीय न्यायालय

१. सहस्रग्रामधिपति
२. शत "
३. विंश "
४. दश "
५. ग्राम " "

ब- कण्टकशोधन न्याय-लय

१. स्थानीय न्यायालय आठ सौ ग्राम मध्य
२. द्रोणमुख न्यायालय चारसौ ग्राम मध्य
३. संग्रहण न्यायालय दस ग्राम मध्य

१- ग्राम

२. स्त्री न्यायालय

१. महारानी

उच्च न्यायाधीश

१. शत ग्रामधिपति न्यायालय

२. दश ग्रामधिपति न्यायालय

३. ग्रामधिपति न्यायालय

---

१ अर्थशा. ३.१, ४.१
२ अर्थशा. ३.१, ४.१

सभापति (प्रमुख न्यायाधीश) न्याय समिति अध्यक्ष, अपने सहयोगी न्यायाधीशों के सहित, विवाद को पक्षपात रहित भाव से सुन कर विज्ञातापूर्वक विचार कर, स्मृति के अनुकूल यथार्थ न्याय की घोषणा करता था।[१] इन सभासदों के निर्णय की सम्पुष्टि नृप द्वारा होती थी।[२] ऐसा निर्णय अन्तिम व पूर्ण प्रभावी एवं सक्षम निर्णय होता था। पराजित पक्ष यदि अपील में भी परास्त हो जाता था, तो उसे पहले दिये गये दण्ड का दूना दण्ड देना पड़ता था।[३]

१ यजु. ३३.१५
२ याज्ञ. २.३०५
३ अग्निपुराण अ. २२७

सप्तम अध्याय

उपसंहार

स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति का विकास मानव समुदाय विकास की नींव पर प्रारम्भ हुआ था। ऋग्वेद का 'ऋत' शब्द, जहां प्राकृतिक एवं दैविक अनुशासन एवं न्याय का स्रोत है, वहीं पर लौकिक न्याय-भावना का प्रेरक भी। वैदिक ग्रन्थ रचनाओं से लेकर स्मृतियों के काल तक के शास्त्रीय ग्रन्थों में न्याय की पवित्र उद्भावना विकसित हुई थी। स्मृतिकाल को उससे पूर्व की न्यायिक रचनाओं ने ठोस आधार अर्पित किया था। फलतः स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था का निर्मल एवं पवित्र तथा व्यवस्थित रूप प्राचीन भारतीय न्यायव्यवस्था जगत् के पटल पर विकसित हो सका था।

स्मृतिकारों ने धर्माचरण से मणडित न्यायव्यस्था का गठन किया था। जीवन के प्रत्येक पक्ष को बारीकी से देख कर, उसका विश्लेषण व रक्षण अचुक रूप में उपस्थित करने में सफल हुए थे। विकृत एवं पतित से पतित जीवन को व्यवस्थित व पवित्र बनाने के लिए साधनों तथा उपायों को स्मृतिकारों ने भारतीय न्याय-धरातल पर उपलब्ध कराया था। उसका प्रकाश आज भी प्रत्येक भारतीय जीवन को किसी न किसी रूप में प्रवाहित किये हुए है।

सामाजिक दुर्भावनाओं को विनष्ट कर पवित्र लोकाचार की स्थापना करने वाली व्यवस्था को न्यायव्यवस्था कहा जाता था। मानव उत्पीड़न, शोषण, विशृंखलित, एवं विभिन्न हिंसक प्रवृत्तियों को अंकुशित कर, पवित्र सामाजिक संरचना का हेतु स्मृतिकालीन न्यायव्यवस्था रही थी। समाज, राज्य, देश की अखण्डता की स्थिरता न्याय से ही सम्भव रही थी। प्रत्येक प्रकार के पतन को अवरूद्ध कर, नये-नये आदर्शो एवं लोककल्याणकारी मानदण्डों की स्थापना न्यायव्यवस्था से ही सम्भव हो सकी थी।

प्रजा का पुत्र तुल्य रक्षण, राज्य का स्थायित्व, ज्ञान धन, आनन्द का वर्द्धन करना अनाचारों व पापों का उनमूलन करना, व्यक्तिगत, सामूहिक तथा क्षेत्रीय व देशीय जीवन को उपद्रव रहित बनाने हेतु न्यायव्यवस्था प्रयत्नशील रही थी। अपराधों से विरत करते हुए, अनुकरणार्थ बाध्य कर देना न्यायवयवस्था से ही सम्भव हो सका था। धर्मशास्त्र एवं स्मृति तथा सद्परम्पराओं का उल्लंघन करना अपराध था। शुद्ध आचरणों का परित्याग, व्यवस्थित व प्रतिपादित नियमों का अतिक्रमण, पाप व अपराध बनता था। यद्यपि वैदिक काल से सूत्र काल तक पाप तथा अपराध परस्पर मिश्रित रूप में विचारणीय रहे थे, परन्तु स्मृतिकाल में पाप और अपराध का परीक्षण पृथक्-पृथक् रूप में किया गया है।

स्मृतिकारों ने घोषणा करते हुए कहा कि मानव की दुष्प्रवृति अपराध की मूल होती है। मानवीय दुर्बलतायें अपराध जन्य परिस्थतियां, सभी अपराध को जन्म, विकास, शक्ति प्रदान करती रही है। पवित्र गुणों के प्रति उपेक्षा की भावना, आचरणहीनता से ही अपराध को विकासोन्मुख होने का सुलभावसर प्राप्त होता है। निर्धनता, शोषणता, अत्याचार, अनीति व्यवहार, सामाजिक निन्दा, राज्य की उपेक्षा वृत्ति, पक्षपात पूर्ण भावना, अनुचित दण्ड, अपराध वर्द्धन में आहुति का कार्य करते थे। असत्य, निन्दा, राजद्रोह, स्तेय, स्त्रीसंग्रहण धृत, दण्डपरुण्य, वाक्पारुण्य, सुरापान, मांसभक्षण, साहस, क्रोध, लोभ, ऋणादान, मात्सर्य, अनादर, यज्ञशास्त्र उपेक्षा, फूट, स्वामिपाल विवाद, निक्षेप, असत्यदोषारोपण, उत्कोच लेना, अस्वामि-विक्रय, संविद व्यतिक्रम, क्रय-विक्रय, विवाद, सीमा विवाद, दायभाग, समाह्वय, वेतनदान, सम्भूयसमुत्थान आदि अपराधों का विकास स्मृतिकाल के उषा काल तक हो चुका था। फलतः मनु. व नारद के अनुसार १८, व याज्ञवल्कय ने २०, बृहस्पति ने १९, कौटिल्य ने १६ शीर्षकों में अपराधों को रखकर, विश्लेषण किया तथा अपराध नियन्त्रक नियमों की व्यवस्था भी की थी। समस्त इतरवर्ती स्मृतिकारों ने इसी पथ का अनुसरण कर व्यवस्था और नियमों का सर्जन किया। परन्तु अपराधों की गुरुता व लघुता तत्कालीन परिस्थतियों के अनुरूप प्रभावित एवम् परिवर्तित अवश्य रही थी।

स्मृतिकालीन सम्पूर्ण अपराधों का स्थूल रूप में विभाजन किया जाये, तो मुख्यतः १. आर्थिक अपराधः २. राजनैतिक अपराध; ३. सामाजिक अपराध; ४. धार्मिक अपराध; ५. राज्य सम्बन्धी अपराध तथा; ६. अन्य अपराध के रूप में सभी प्रकार के अपराध येनकेनप्रकरण इन्हीं शीर्षकों से सम्बन्धित रहे थे।

स्मृतियुग में विधि एवं धार्मिक विषयों का विद्वान, न्यायपरिषद् से न्यायाधीश रूप में सम्बन्धित या नियुक्त होता था। प्रत्येक प्रकार के व्यवहार का निर्णय न्यायाधीशों, जिन्हें सभ्य भी कहते थे, के द्वारा निर्णीत होता था। ग्रामाध्यक्ष से लेकर केंद्र के धर्माध्यक्ष तक विभिन्न प्रकार के न्यायाधीशों का जाल-सा बिछा था। विधि की व्याख्या, कार्य-अकार्य का निर्णय, समाधान, दण्ड का योजन करने हेतु तथा न्यायिक प्रक्रिया के प्रचलनार्थ व निर्वाहार्थ न्यायाधीश की ही परम आवश्यकता होती थी। प्रजा से लेकर नृप तक को न्यायापक्ष की परम आवश्यकता होती थी। प्रजा से लेकर नृप तक को न्यायपक्ष की ओर से उन्मुख करना, शल्य चिकित्सक की भांति विवादों व कंटकोंका मूलोच्छेदन करना, न्यायाधीशों का मुख्य दायित्व रहता था। न्याय को सुलभ रूप में प्रदान करना न्यायाधीशों का ही कार्य था। न्यायाधीश को न्यायिक ढ़ाचें का शीर्ष अंग माना जाता था।

विधिज्ञ, धर्मज्ञ, शास्त्रज्ञय, न्यायशील, वेदज्ञ, गुणवान, क्षात्रतेज से पूर्ण, दण्ड देने में समर्थ, निर्लोभी, रागद्वेष से विरत भाषाविज्ञ बहुश्रुत, मानवीय विकारों से पृथक् रहने वाले व्यक्ति को न्यायधीश के पद पर नियुक्त किया जाता था।

न्यायाधीश का कुलीन, व्यवहारकुशल, अप्रमादी, शांतप्रिय, सत्यवादी, स्थिर, कार्यदक्ष जितेन्द्रय, साहसी होना अनिवार्य था।

नृप सर्वोच्च न्यायाधीश होता था। न्यायकार्य में सहयोग देने हेतु निम्न सहायक न्यायाधीशों की नियुक्तियां की जाती थी। न्यायमन्त्री, धर्माध्यक्ष (उच्च न्यायाधीश), धर्मस्थ न्यायालय का न्यायाधीश व्यावहारिक, व्यावहारिक के नीचे क्रमशः सहसग्रामणी, शतग्रामणी, विंशग्रामणी, दशग्रामणी, ग्रामणी नामक न्याया-धीश होते थे। कंटकों के शोधनार्थ पृथक् से प्रदेष्ठा न्यायधीश (कंटशोधन न्यायालय का अध्यक्ष) होता था। यह न्यायाधीश उच्च न्यायाधीश के नियन्त्रण में होता था। इस न्यायधीश के नीचे स्थानीय प्रदेष्ठा (आठसौ ग्रामों के मध्य स्थापित न्यायालय का न्यायाधीश) द्रोणमुख प्रदेष्ठा .. चारसौ ग्रामों के मध्य स्थापित न्याया.न्याया. संग्रहण प्रदेष्ठा दस ग्रमों के मध्यस्थापित न्यायालय का न्यायधीश होता था।

सैनिक न्यायधीश, सेना विवादों को सुनते थे। स्त्री विवादों को सुनने के लिए पृथक् से स्त्री न्यायाधीशों की नियुक्तियां की जाती थीं। महारानी, स्त्री न्यायाधीशों में सर्वोच्च न्यायाधीश होती थी। महारानी के नीचे अन्य उच्च व सहायक स्त्रियां न्यायाधीश के रूप में न्यायकार्य को देखतीं थीं।

शास्त्रोक्त गुणों से युक्त प्रत्येक पुरुष व नारी की पूर्णरूपेण परीक्षा लेकर न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति की जाती थी। गुणहीन अधर्मी, वर्णच्युत या शूद्र को कभी भी न्यायधीश के पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता था। पुरुष न्यायालयों की नियुक्तियां नृपद्वारा तथा स्त्री न्यायालयों की नियुक्तियां महारानी द्वारा सीधे की जातीं थीं। इन न्यायाधीशों के कार्यकलापों का निरीक्षण प्रतयक्ष रूप में न्यायमन्त्री व प्रमुख न्यायधीश, तथा परोक्ष रूप में गुप्तचर विभाग करता था। अनेक सामान्य नियमों से न्यायधीश को दैनिक प्रतिबन्धित रहना पड़ता था। फलतः न्यायाधीश सतर्क रह कर न्याय व्यवस्था की गरिमा को बनाये रखते थे।

न्यायाधीशों एवं न्यायालयों के अन्य कर्मचारियों को वेतन का भुगतान नकद धन (मुद्रा) के रूप में होता था। कार्यकाल में मृत कर्मचारी के अश्रितों को निर्वाहभत्ता दिया जाता था। सुयोग्य आश्रितों को योग्यतानुरुप नियुक्ति प्रदान की जाती थीं। सेवानिवृत्ति पर, पेंशन (निर्वाह जीविका) देने की व्यवस्था थी। अनेक प्रकार से न्यायिक कार्य में संलग्न व्यक्तियों को पुरस्कृत किया जाता था। जिससे कर्तव्य के प्रति उत्साही बने रहे सकें।

प्रत्येक न्यायाधीश अपनी कार्य अधिकार सीमा में रहते हुए, विधायनी शक्ति के आधार पर, न्याय की स्थापना करता था। न्याय की परिधि में न्यायाधीश को असाधारण अधिकार (उदाहरणतः निष्पक्षन्याय करना, तथा नृप को मन्त्रणा देना, अपराधियों को दण्डित करना आदि) देकर, उनकी महान प्रतिष्ठता की स्थापना की जाती थी। अपने से न्यून न्यायालय का निरीक्षण करना, अपीलें सुनना, निर्देश देना,

कार्यकलापों पर दृष्टिपात रखना आदि अपरिमेय अधिकार न्यायाधीशों को प्राप्त थे। न्यायाधीशों की विशिष्ट सेवा पर पदोन्नति होती थी। न्यायविमुख न्यायधीश की पदावनति, पदमुक्ति होती रहती थी। अनेकावसरों पर न्यायाधीशों को दण्डित कर पवित्र न्याय को सन्तुलित रखा जाता था।

अभियोग परीक्षण तथा न्यायिक प्रक्रिया का सम्पादन न्यायालय में होता था। स्मृतिकाल में न्यायालय को धर्मासन या धर्मस्थान भी कहा जाता था। प्रत्येक प्रकार के अपराध के निवारणार्थ स्मृतियुग में अनेकस्थानों पर बड़े और छोटे न्यायालयों की आवश्यकतानुरुप स्थापना की गई थी। एक ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम एवं हजार ग्राम न्यायालयों की स्थापना सम्बन्धित ग्रामों के मध्य की जाती थी। इसी प्रकार कंटकों के शोधनार्थ आठसौग्रामों के मध्य चार सौ ग्रामों एवं दस ग्रामों के मध्य कंटक शोधन न्यायालय स्थापित किया जाता था। इनसे ऊपर केन्द्र का उच्च न्यायालय होता था। नृप का न्यायालय सर्वोच्च था।

स्त्री-पुरुषों एवं सैनिकों के पृथक्-पृथक् न्यायालय होते थे। इसके अतिरिक्त गण, पुग, श्रेणी तथा कुल के न्यायालय तत्सम्बन्धित विवादों के शोधन हेतु स्थापित किये जाते थे। ये सभी न्यायालय निर्धारित स्थान पर स्थापित होने के कारण अचल न्यायालय कहलाते थे। इस के अतिरिक्त सचल न्यायालय (विभिन्न स्थानों पर घूमने वाले न्यायालय) भी स्मृतियुग में स्थापित रहे थे। शास्त्र एवं स्मृति अनुरुप, अपराध पर निर्णय की घोषणा सम्बन्धित न्यायालय करता था। विधि रक्षा में विधि निमार्ण, परम्पराओं की रक्षा प्रतिष्ठा स्थापना, धर्मरक्षा इन्ही सचल न्यायालयों से होती थी। अनेक न्यायालय अपील सुनने, आदेश देने की सक्षमता से युक्त भी होते थे। व्यापारी, कृषक, कलाकार, तपस्वियों एवं योगि जनों के न्यायालय भी पृथक्-पृथक् होते थे।

न्यायालयों की सार्थकता विधि से थी। मानव समुदाय को सुव्यवस्थित रखने के लिखित या परम्परित उपाय विधि कहलाते थे। मात्स्य न्याय, शोषण, प्रताड़ना से विरत करने हेतु विधि ही प्रमुख रही थी। उदय और विकास का सिद्धान्त विधि अवलम्ब पर ही विकसित हुआ था। वेद, उपनिषद, स्मृतियां, सदाचार, परम्पराओं विधि शास्त्रियों के मत, स्मृतिकालीन विधि के प्रमुख स्रोत हैं। इन से स्मृतिकालीन विधि की पवित्र धारा का लोक कल्याणी प्रवाह प्रस्फुटित हुआ। स्मृतिकाल में विधि लिखित एवं अतिलखित दो स्वरूपों में विद्यमान थी। सम्पूर्ण विधि धार्मिक व नैतिक भावनाओं से युक्त थीं। धर्म व आचरणशीलता का सीधा प्रभाव विधि पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में बराबर बना रहा उच्च व्यक्ति विधि का अतिक्रमण नहीं कर सकता था। विधि का उल्लंधन स्वयं में दण्डनीय अपराध था। ज्यों-ज्यों उत्तरोत्तर विकासोन्मुख होता गया, उसकी सामयिक परिस्थितियों में अपेक्षित परिवर्तन भी हुआ उसकी आवश्यकता रहन-सहन, समाज संगठन के परिसर में परिवर्तन हुआ फलतः विधि का स्वरूप उसके साथ क्रमिक रूप से परिवर्तन होता चला गया। परन्तु विधि का अंकुश बराबर बना रहा। इस विधि अंकुश के

परिणामस्वरूप ही समाज नियन्त्रित तथा मर्यादित रह सका।विधि कठोरता के कारण अमंगल भी हुआ। शुद्र को वेदाध्ययन तथा यज्ञकर्म से वंचित करना अमंगलकारी सिद्ध हुआ। इससे समाज विशृंखलित होकर दिन-प्रतिदिन टूटता चला गया।

विधि को बनाये रखने हेतु, उसे लिखित महत्व देकर, संविधान के रूप में प्रस्तुत किया गया। स्मृतिकारों ने युगों-युगों से प्रचलित मौखिक व श्रुत विधि को स्मृतियों के माध्यम से भविष्य के लिये सुरक्षित रख छोड़ा। स्मृति, जो तत्कालीन संविधान रहें हैं, में न्यायव्यवस्था, न्याय प्रक्रिया, अपराध परिमार्जन एवं दन्डादि व्यवस्था को पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिपादित किया है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, विष्णु, गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, पराशर, अत्रि, व्यास, वशिष्ठ, ओशनस, कात्यायन, दक्ष आदि अनेक स्मृतिकारों द्वारा लिखित स्मृतियां, स्मृतियुग की महत्वपूर्ण संवैधानिक ग्रन्थ रही हैं। वाल्मीकीय रामायण के अयोध्याकांड महाभारत के शान्तिपर्व में राजधर्म का विशद् विवेचन विद्यमान है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र अपने में उत्कृष्ट संविधान ही रहा था।

न्यायिक प्रक्रिया का सम्पादन, न्यायाधीश संविधान के आधार पर करते थे। राज्य, शासन, समाज की आस्ति-नास्ति न्यायिक प्रक्रिया पर ही आधारित रही थी। इस न्यायिक व्यवस्था को अष्टंग कहा जाता था। सम्पत्ति विनाश, जन-धन हानि की स्म्भावना से युक्त विवादों के निर्णय में वरियता मिलती थी। अन्य अभियोगों को क्रमानुसार निर्णित किया जाता था। असक्ष्म जनों पर अभियोग नियोजित नहीं हो सकता था। सभी अभियोगों का न्यायालय में अपराध गुरुता की दृष्टि से परीक्षण होता था। न्यायव्यवस्था वर्ण से प्रभावित रही थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र को क्रमशः वर्ण श्रेष्ठता के कारण प्राथमिकता मिलती थी।

व्यथित व्यक्ति न्यायालय में उपस्थित होकर अपनी व्यथा को लिखित रूप में प्रमाण सहित, न्यायाधीश से निवेदित करता था। पूर्व पक्ष तथा उत्तर पक्ष दोनों के सम्पूर्ण कथनों को लिपिबद्ध किया जाता था। पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष के व्यक्तियों, साक्षियों तथा अभियोग से सम्बन्धित व्यक्तियों को न्यायालय में न्यायाधीश के सम्मुख, अग्नि, जल तथा देवताओं, शस्त्र, शास्त्र, गौ, बीज, सुवर्ण, वाहन, देव प्रतिमा, को सम्बोधित करते हुए शपथ दिलाई जाती थी। जिससे कि विवाद से सम्बद्ध वक्ता अनृत से विरत रह सके। तथा न्याय पक्ष का उद्घाटन हो सके।

पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष की ओर से विधि सम्पादन, व्याख्या, प्रस्तुतिकरण, विधिज्ञ (अधिवक्ता) करते थे। अभियोग का पूर्ण दायित्व अधिवक्ताओं पर ही होता था। अपराधी पक्ष को, न्यायालय में अपने सम्बन्ध में प्रत्याभूति देनी पड़ती थी। प्रत्याभूति के अभाव में उसे कारागार में रहने को बाध्य होना पड़ता था। शिष्ट, समर्थ, आचरावान् व्यक्ति प्रतिभू के सक्ष्म माना जाता था। अनेक अवसरों पर आसेध का प्रयोग कर अपराधी के भ्रमण एवं अन्य कार्यकलापों पर प्रतिबन्ध लगा

देते थे। जिससे पूर्व पक्ष आरक्षित रह सके। दोनों पक्ष अपने-अपने समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत करते थे। विधि सम्मत, परम्परित, लिखित प्रमाण, प्रमाणित होते थे। क्रोधी, उत्पीडित, मूर्ख अबोध, अज्ञानी, द्वारा लिखा गया प्रमाण या किया गया व्यवहार अप्रामाणिक होता था। अभियोग का परीक्षण करते समय भुक्ति प्रमाण, साक्ष्यप्रमाण, विशेष महत्वपूर्ण होता था। शास्त्रीय निर्देशों के अनुरुप ३ से ९ व्यक्ति अभियोग में साक्षी दे सकते थे। न्यायालय के लिखित आदेश द्वारा साक्षी को साक्ष्यार्थ बुलाया जाता था। साक्ष्य देने वाले व्यक्ति को भोजन तथा मार्गव्यय दिया जाता था। प्रमाणित साक्षी द्वारा साक्ष्य न देने पर साक्षी को दंडित किया जाता था।

मानवीय प्रमाणों के अभाव में तुला, अग्नि, जल, विष, कोष का दिव्य कराया जाता था। दोनों पक्षों को सहमति के उपरान्त ही दिव्य विधि प्रयोग होती थी। दिव्य प्रक्रिया का संपादन रविवार को न्यायाधीश व ब्राह्मणों के सम्मुख होता था। प्रत्येक दिव्य के लिए समय निर्धारित था। मन्दिर, राजद्वार, या चौराहों को दिव्य के लिये चुना जाता था।

अपराधकर्ता को प्रत्यक्ष देखने वाला, प्रतिवादी द्वारा अपराध स्वीकृति, पूर्वपक्ष एवं उत्तर पक्ष द्वारा एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर प्रत्युत्तर, कारणों का प्रदर्शन, शपथ तथा दिव्य के द्वारा अभियोग मं निर्णय की स्थापना हो जाती थी। पराजित पक्ष को अपनी पराजय स्वीकार करते हुए दण्ड पाने हेतु तैयार रहना पड़ता था।

अभियोग का परीक्षण होने के पश्चात, न्यायाधीश, अपने सहयोगी न्यायाधीश से परामर्श करने के पश्चात् परम्पराओं का अवलोकन कर, निर्णय की घोषणा करता था। विजयी पक्ष को जयपत्र दिया जाता था। जयपत्र लिखित राजकीय आदेश होता था। जिसमें विवाद सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण अंकित होता था।

पराजित पक्ष को अपराध परिमाण के अनुरुप दण्ड दिया जाता था। जिससे आपराधिक प्रवृत्ति नियन्त्रित हो सकें। प्रतिशोध की भावना का निराकरण एवं अपराधियों के चरित्र में सुधारात्मक भाव उत्पन्न करना दण्ड का उद्देश्य होता था। दन्डशास्त्र-विपरीत आचरणकर्ता अपराधी को दोष से मुक्त कर देता है। दण्ड का प्रयोग श्रेष्ठ, सदाचारी पुरुश ही कर सकता था। सदैव कठोर दण्ड का परित्याग किया जाता था। परन्तु अपराध की पुनरावृत्ति पर दुगुना या कठोर दण्ड देने की परम्परा ही थी। श्रेष्ठ पुरुषों को दण्ड से मुक्त रखा जाता था। दण्ड पर वर्ण व्यवस्था प्रभावी रही थी।

प्रशासनिक दण्ड, दैविक दण्ड, एवं आत्मिक दण्ड का निर्धारण स्मृति युग में किया जाता था। प्रशासानिक दण्ड नृप अथवा न्यायाधीश द्वारा दिये जाते थे। विभिन्न नरकों व दुःखों की प्राप्ति रुग्णता, विकलांगता, जीवजन्तुओं तथा कीटपतंगों में जन्म दैविक दण्ड माना जाता था। व्रत-उपवास-विभिन्न प्रकार से पश्चात्ताप, तीर्थ यात्रा, दानपुण्य, यज्ञ, आदि करना आत्मिक दण्ड कहे जाते थे। प्रशासनिक

दण्डों में मधुरोपदेश, प्रताड़ना, अर्थदण्ड, एवं शारीरिक दंडों को दिया जाता था। आर्थिक दण्ड एक रत्ती से लेकर, एक हजारपण दण्ड तक, या अपराध की गुरुता के अनुरूप दिया जाता था। सम्पति हरण दण्ड भी दिया जाता था। शारीरिक दण्डों में भोजन से वंचित रहना, परिभ्रमण परप्रतिबन्ध, साधारण शारीरिक दण्ड, बन्धन का दण्ड, विविध प्रकार से पीटना, कारागार में बन्द रखना, अपराधी के शरीर पर अपराध का चिह्न दागना, अंगछेदग करना,निर्वासन देना, विविध प्रकार से मृत्युदण्ड आदि मुख्य रहे थे।

अपराधी की क्षमता, अपराध सीमा, देश, काल, आदि देख कर अपराधी को दण्डित किया जाता था। प्रतीकात्मक, अवरोधात्मक, निरोधात्मक, एवं सुधात्मक सिद्धान्त, दण्ड के मुख्यसिद्धान्त थे। प्रथम बार अपराध करने पर अपराधी को धिक्कार कर दण्ड मुक्त कर दिया जाता था। द्वितीय बार अपराध करने पर कठोर वचनों से अपमानित किया जाता था। तीसरी बार में आर्थिक दण्ड तथा चतुर्थ बार अपराध करने या पुनरावृत्ति करने पर अंगछेदन या वध का दण्ड दिया जाता था। दण्ड का सम्पादन स्मृति के अनुरूप ही होता था। स्त्रीसंग्रहण, रुग्ण, अतिवृद्ध, बालक, उन्मत्त, को दण्ड मुक्त रहा जाता था। ब्रह्मचारी, श्रेष्ठ व्यक्ति, गुरु, ब्राह्मण को भी अधिकांशतः दंड से मुक्त रखा जाता था। जबकि शूद्र को अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक दण्ड दिया जाता था।वर्ण - वर्ग पद की गुरुता न्याय को प्रभावित करती थी। असाधारण व्यक्ति दण्ड का विकल्प पा सकता था जबकि साधारण व्यक्तियों को कठोरतम दण्ड दिये जाते थे। इस असन्तुलन एवं धार्मिक क्रान्तियों का उदभव हुआ। बौध क्रान्ति इस का ही प्रतिफल रही थी। न्याय की तुला पर ब्राहमण व शूद्र का भेदभाव निस्सन्देह दोषपूर्ण था। दण्ड की कठोरता का ज्यांदा भाग शूद्रो को भुगतान पडता था। इस असमानता ने सामाजिक व्यवस्था को झकझोर दिया था। उच्च्ता, न्यूनता का विभाजन इसी का परिणाम है। उस की लपटे आज भी समाज को जला रही है।

न्यायाधीश निर्णय की घोषणा करने से पूर्व एक बार पुनः संपूर्ण विवाद पर विचार करता था, जिससे कहीं अनर्थ न हो जाये।

स्मृतिकालीन विवादों में — १. वाक्यपारुष्य, २. दंडपारुष्य, ३. साहस, ४. स्तेय, ५. स्त्रीसंग्रहण, ६. धूत, ७. समाह्वय, ८. सीमाविवाद, ९. विक्रीत-क्रीतानुशय, १०. स्वामिपाल विवाद, ११. प्रकीर्णक, १२. अभ्युपेत्य अशुश्रूषा, १३. संविदव्यतिक्रम, १४. वेतनानपाक्रम, १५. निक्षेप, १६. सम्भूयसमुत्थान, १७. दत्ताप्रदानिक, १८. वास्तुगृहेवास्तुकम्, १९. कारुकरक्षणम्, २०. असत्य, २१. दम्भ-द्रोहादि, २२. अस्वामिविक्रय, २३. ऋणादान, २४. विवाहप्रकरण २५. दायभाग आदि मुख्य विवाद थे। इनका परीक्षण शास्त्रीय एवं स्मृतिग्रन्थों में वर्णित विधि के अनुरूप होता था।

एक न्यायालय द्वारा घोषित निर्णय की अपील दूसरे उच्च एवं सक्षम न्यायालय में हो सकती थी । कुछ विशिष्ट अपीलों को सीधे नृप भी सुनता था । अज्ञानता के कारण, छल-कपट व कटु एवं बल के कारण असक्षमता के कारण, निर्णय शास्त्रानुकूल न होने के कारण, घोषित निर्णय की अपीलें उच्च न्यायालयों में विचारार्थ स्वीकार होती थीं । प्रत्येक न्यून न्यायालय की अपीलें उससे ज्येष्ठ न्यायालय को होती थी । अपीलीय न्यायालय का निर्णय अन्तिम होता था । यह पूर्ण सक्षम निर्णय होता था । इसकी अपील अन्यत्र नहीं हो सकता थी ।

इस प्रकार स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति (न्यायव्यवस्था) निःसन्देह सर्वोच्च रही थी ।भूतल पर स्वर्गिक लोक की कल्पना इसी व्यवस्था का प्रतिफल थी । वर्ग, वर्ण, आश्रम एवं व्यक्ति विशेष को महत्व देकर शूद्र व निर्बल की अनेकावसरों पर उपेक्षा कर जो समाज में असन्तुलन उत्पन्न किया गया निसंदेह वह श्रेष्टकर सिद्ध न हो सका । फिर भी न्याय व्यवस्था के धरातल पर स्मृति कालीन न्याय व्यवस्था सर्वोत्तम रही थी ।

सन्दर्भ ग्रन्थों का विवरण

१. वेद : १. ऋग्वेद १. नाग प्रकाशक दिल्ली।

२. यजुर्वेद २. "

३. सामवेद ३. "

४. अथर्ववेद ४. सायणाभाष्य

५. सार्वदैशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली।

६. प्रकाशक आर्य साहित्य मंडल लि अजमेर

७. संस्कृति संस्थान, वेदनगर, बरेली।

२. ब्राह्मण ग्रंथ : १. शतपथब्राह्मण चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ बनारस

२. ताण्ड्यमहाब्राहमण " " "

३. गोपथ ब्राह्मण " " "

४. ऐतरेय ब्राहमण " " "

३. उपनिषद १. छान्दोग्योपनिषद्— शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली

२. बृहदारण्यक उपनिषद् शांकरभाष्य, गीताप्रेस, गोरखपुर संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली

४. धर्मसूत्र १. गौतम धर्मसूत्र चौखंबा संस्कृतसीरीज, बनारस।

२. आपस्तम्ब धर्मसूत्र " " "

३. बौधायन धर्मसूत्र " " "

४. विष्णु धर्मसूत्र " " "

५. वशिष्ठ धर्मसूत्र " " "

६. शंखलिखित धर्मसूत्र " " "

७. हारीत धर्मसूत्र " " "

५. स्मृति १. मनुस्मृति १. अनुवादक दर्शनानन्द सरस्वती प्रकाशक पुस्तक मन्दिर, मथुरा।

२. मनुस्मृति २. मेधातिथि : चौख.सं.सी. बना.

३. मनुस्मृति ३. संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली ।

४. मनुस्मृति पाण्डेय रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, वाराणसी ।

२. याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरा) चौ.सं.सी.बनारास । संस्कृति संस्थान, वेदनगर, बरेली

३. पाराशरस्मृति अनु. पं. श्यामसुन्दरलाल त्रिपाठी श्री वेंकटेश्वर स्टीमप्रेस, बंबई,सं. १९८२ संस्कृतिसंस्थान, वेदनगर, बरेली ।

४. नारद स्मृति नाग प्रकाशक दिल्ली

५. बृहस्पतिस्मृति " " "

६. कात्यायनस्मृति " " "

७. विष्णुस्मृति " " "

८. गौतमस्मृति " " "

९. ओशनस स्मृति " " "

१०. वशिष्ठ स्मृति " " "

११. शातातपस्मृति " " "

१२. आंगिरसस्मृति " " "

१३. यमस्मृति " " "

१४. लिखितस्मृति " " "

१५. सम्वर्तस्मृति " " "

१६. दक्षस्मृति " " "

१७. वेदव्यासस्मृति " " "

१८. आपस्तम्बस्मृति " " "

१९. हारीत स्मृति " " "

२०. शंखस्मृति " " "

२१. शंखस्मृति " " "

२१. अत्रिस्मृति " " "

२२. बौधायनस्मृति " " "

२३. लध्वाज्ञवलायनस्मृति " " "

२४. पुलस्त्यस्मृति " " "

६. महाकाव्य : १. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण: नाग प्रकाशक दिल्ली

२. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण

: प्रकाशक, पुस्तकालय वारा-णसी ।

३. महाभारत : नाग प्रकाशक दिल्ली

७. कात्यायनमतसंग्रह संकलनकर्ता — नारायणचन्द्र बन्धोपाध्याय

कलकत्ता विश्वविद्यालय प्रेस १९२७

८. कौटिल्यअर्थशास्त्र अनुवादक-पाण्डेय रामतेज शास्त्री,

प्रकाशक- पंडित पुस्तकालय, वाराणसी - १

अनुवादक-उदयवीर शास्त्री,

प्रकाशक-मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास संस्कृत-पुस्तकालय, २७३६, कूचांचेला, दरिया-गंज, दिल्ली-६

९. जातक कथायें : खण्ड १ से ६ तक : अनुवादक - भदन्त आनन्द कौशल्यायन, प्रकाशक, हिन्दीसाहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

१०.पुराण : १. वायु पुराण : अनुवादक पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक संस्कृति संस्थान बरेली ।

२. विष्णुपुराण " " " " " "

३. मार्कण्डेयपुराण " " " " " "

४. मत्स्यपुराण " " " " " "

५. कूर्मपुराण " " " " " "

६. अग्निपुराण " " " " " "

७. गरुड पुराण " " " " " "

११.चाणक्य सूत्राणि : अनुवादक — रामावतार विद्याभास्कर प्रकाशक स्वाध्यायममंडीलो, पारड़ी

अ. अनुवादक — पाण्डेय रामतेज शास्त्री, पंडित पुस्तकालय, वाराणसी ।

१२.स्मृतिचन्द्रिका : देवणभट्ट — नाग प्रकाशक दिल्ली

ALL MAHAPURANAS

Text with Shloka Index & Introduction

Agni Mahapurana
664 pp 400.00

Bhagavata Mahapurana-
4 vols 2304 pp Set 1000.00

Bhavishya Mahapurana-
3 vols 1400 pp Set 900.00

Brahma Mahapurana
728 pp 450.00

Devi Bhagavata Mahapurana
1154 pp 800.00

Ganesha Purana
832 pp 1993 450.00

Garuda Mahapurana
668 pp 400.00

Harivansha Purana - 2 vols
1802 pp Set 900.00

Kurma Mahapurana
298 pp 250.00

Linga Mahapurana
774 pp 400.00

Markandeya Mahapurana
828 pp 450.00

Narada Mahapurana
932 pp 600.00

Padma Mahapurana-4 vols
2381 pp Set 1500.00

Shiva Mahapurana - 2 vols
1504 pp Set 900.00

Shiva Purana (Small Type)
412 pp 400.00

Skanda Mahapurana - 8 vols
5600 pp Set 4000.00

Skanda Mahapurana - 3 vols
(Small) 1500.00

Vamana Mahapurana
472 pp 300.00

Vayu Mahapurana
540 pp 350.00

Vishnudharmottara Mahapurana
1246 pp 900.00

Vishnu Mahapurana- with two commentaries
608 pp 400.00

Kalki Purana
316 pp 120.00

Vasuki Purana
260 pp 100.00

Saura Purana
290 pp 100.00

Narsimha Purana
380 pp 100.00

Ekamra Purana
490 pp 100.00

Ashtadasha Purana Darpana Contents of 18 Puranas
432 pp 180.00

PURANAS WITH TEXT, TRANS & NOTES IN ENGLISH VERSEWISE

Vishnu Purana-
H.H. Wilson
1065 pp 2 vols Set 500.00

Matsya Purana-
N.S. Singh
1252 pp 2 vols 500.00

Narasimha Purana
- Dr. S. Jena
1100 pp 400.00

Kalika Purana-
Prof. Biswanarayan Shastri
3 Vols Set 1992
Shloka & Name Index Press